योग-शास्त्र

चार्य हेमचन्द्र

सम्पादक :
मुनि समदर्शी, प्रभाकर
महासती उमराव कुँवर, पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक :
श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली

पुस्तक का नाम
योग-शास्त्र

लेखक ·
आचार्य हेमचन्द्र

भूमिका लेखक .
उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक
मुनि समदर्शी

अनुवादक
प० शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक
श्री ऋषभचन्द्र जौहरी
श्री किशनलाल जैन

प्रकाशन तिथि
फरवरी, १९६३

मूल्य
चार रुपए

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी—आगरा

समर्पित

जिनकी स्नेहमयी गोद मे खेली-कूदी, जीवन का विकास किया
और त्याग-वैराग्य की प्रेरणा पाकर साधना के पथ पर
बढी, उन सरल-स्वभावी, सौम्य-मूर्ति, त्याग-निष्ठ
महायोगी, परम-श्रद्धेय स्वर्गीय पूज्य-पिता
मुनि श्री मागीलाल जी महाराज की
पावन-पुनीत स्मृति मे

—महासती उमराव कुँवर

प्रकाशकीय

आचार्य हेमचन्द्र कृत योग-शास्त्र का प्रकाशन करते हुए मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव होता है। पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुशीलन करके अपने जीवन को योग-शास्त्र मे प्रतिपादित सुन्दर सिद्धान्तो के अनुकूल बनाएँगे, तो उनके जीवन का विकास होगा और मेरा श्रम भी सफल होगा।

महासती उमराव कुवर जी महाराज ने तथा महासती उम्मेद कुवर जी महाराज ने मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन करने की अनुप्रेरणा देकर महान् उपकार किया। ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पण्डित शोभाचन्द जी भारिल्ल ने किया है। सम्पादन मुनि समदर्शी जी महाराज ने किया है। उक्त विद्वानो का सहयोग नही मिलता तो इसका प्रकाशन होना भी कठिन था।

यह सब कुछ होने पर भी एक बात की कमी रहती इसमे यदि प्रस्तुत ग्रन्थ पर श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज की भूमिका न होती। विहार मे होते हुए भी और काशी जैसे दूरस्थ नगर मे स्थित होकर भी कवि जी महाराज ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की शोभा श्री मे अभिवृद्धि की है। इसके लिए हम महाराज श्री के कृतज्ञ रहेगे।

—रिखबचन्द जौहरी

सम्पादकीय

भारत की आन्तरिक साधना मे योग-साधना का अपना अनूठा स्थान है। यह साधना आध्यात्मिक शक्तियो को जाग्रत और विकसित करने का एक प्रभावशाली साधन है। लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार की लब्धियो को प्राप्त करने का कारण होने से प्राचीन भारत मे यह साधना अत्यन्त आकर्षक रही है।

ऐसी स्थिति मे यह तो सभव ही कैसे था कि इस विषय मे साहित्य अछूता रहता। भारत के सभी प्रमुख सम्प्रदायो के मनीषियो ने योग-साधना पर वहुत कुछ लिखा है। जैनाचार्यों मे आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजय जी आदि इस विषय के प्रधान लेखक हैं। प्रस्तुत योग-शास्त्र कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की कृति है। योग-विषयक साहित्य मे इसका क्या स्थान है, यह निश्चय करना समीक्षको का काम है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि जैन-साहित्य मे यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है और योग के सम्वन्ध मे यथार्थ दृष्टि प्रदान करती है।

अनेक विद्वानो की तरह मेरे मन मे भी योग-शास्त्र का राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद न होना चुभ रहा था। अवसर मिला और अनुवाद कर डाला। किन्तु कई कारणो से वह प्रकाशित न हो सका। इस वर्ष जैन सिद्धान्ताचार्या विदुषी महासती श्री उमराव कुंवर जी म०, पण्डिता श्री उम्मेद कुंवरजी म० आदि का वर्षावास दिल्ली मे था। महासती जी का जीवन वहुत उच्चकोटि का है। वे वैराग्य, तप एव सयम की प्रतिमूर्ति हैं। उन्ही के तपोनिष्ठ जीवन एव उपदेशो से प्रभावित होकर और उनके चातुर्मास की स्मृति

को स्थायी बनाए रखने के लिए, वहाँ के धर्म-प्रेमी श्री ऋषभचन्द्र जी जौहरी तथा श्री किशनलाल जी जैन ने इस ग्रन्थ-रत्न को प्रकाशित करने के लिए आर्थिक सहयोग दिया है। जौहरी जी महासती श्री उम्मेद कुँवर जी म० के गृहस्थावस्था के सबन्धी हैं और साहित्य प्रेमी हैं। इससे पहले भी आपकी ओर से जैन-सिद्धान्त पाठमाला आदि कई पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं। आप श्री मागीलाल जी जौहरी के सुपुत्र और दिल्ली के स्थानकवासी समाज मे अग्रगण्य श्रावक हैं। आपका जीवन धार्मिक सस्कारो से ओत-प्रोत है और हृदय उदार है।

श्री किशनलाल जी जैन भी दिल्ली के एक प्रतिष्ठित श्रावक हैं। आप कागज का व्यवसाय करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे आपका बहुमूल्य योग रहा है। उभय महासती जी म० का मेरे पर सदा अनुग्रह रहा है। अत श्रद्धेय महासती जी म० एव उभय श्रावको का मैं हृदय से आभारी हूँ।

परम श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी ने योग-शास्त्र पर तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक भूमिका लिखकर ग्रन्थ के महत्व को चमका दिया है और मुनि समदर्शी जी (आईदान जी) ने ग्रन्थ के सपादन का दायित्व अपने ऊपर लेकर मेरे बोझ एव श्रम को कम कर दिया तथा प्रस्तुत प्रकाशन को सुन्दर बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रयास के लिए मैं उपाध्याय श्री जी एव मुनि श्री जी का आभार मानता हूँ।

भारतीय भारती भवन
ब्यावर (राजस्थान)

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

कहाँ क्या है

योग-शास्त्र : एक परिशीलन

लेखक ·

उपाध्याय अमर मुनि

सपादक :

मुनि समदर्शी प्रभाकर

योग-शास्त्र : एक परिशीलन

योग का महत्व

विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्त एव अपरिमित शक्तियो का प्रकाश-पुञ्ज है। उसमे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख-शान्ति और अनन्त शक्ति का अस्तित्व अन्तर्निहित है। समस्त शक्तियो का महास्रोत उसके अन्दर ही निहित है। वह अपने आप मे ज्ञानवान है, ज्योतिर्मय है, शक्ति-सम्पन्न है और महान् है। वह स्वय ही अपना विकासक है और स्वय ही विनाशक (Destroyer) है। इतनी विराट शक्ति का अधिपति होने पर भी वह अनेक बार इतस्तत. भटक जाता है, पथ-भ्रष्ट हो जाता है, ससार-सागर मे गोते खाता रहता है, अपने लक्ष्य तक नही पहुंच पाता है, अपने साध्य को सिद्ध नही कर पाता है। ऐसा क्यो होता है? इसका क्या कारण है? वह अपनी शक्तियो को क्यो नही प्रकट कर पाता है?

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जब हम इसकी गहराई मे उतरते है और जीवन के हर पहलू का सूक्ष्मता से अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे योग—स्थिरता का अभाव ही मनुष्य की असफलता का मूल कारण है। मानव के मन मे, विचारो मे एव जीवन मे एकाग्रता, स्थिरता एव तन्मयता नही होने के कारण मनुष्य को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नही होता, पूरा विश्वास

नही होता। उसके मन मे, उसकी बुद्धि मे सदा-सर्वदा सन्देह बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और एक निष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ नही पाता। यही कारण है कि वह इतस्तत भटक जाता है, ठोकरे खाता फिरता है और पतन के महागर्त मे भी जा गिरता है। उसकी शक्तियो का प्रकाश भी धूमिल पड जाता है। अत अनन्त शक्तियो को अनावृत्त करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एव साध्य तक पहुँचने के लिए मन, वचन और कर्म मे एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एव स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिन्तन मे एकाग्रता एव स्थिरता लाने का नाम ही 'योग' है।[1]

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय सस्कृति के समस्त विचारको, तत्त्व-चिन्तको एव मननशील ऋषि-मुनियो ने योग-साधना के महत्व को स्वीकार किया है। योग के सभी पहलुओ पर गहराई से सोचा-विचारा है, चिन्तन-मनन किया है। प्रस्तुत मे हम भी इस बात पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि योग का वास्तविक अर्थ क्या रहा है? योग-साधना एव उसकी परपरा क्या है? योग के सम्बन्ध मे भारतीय विचारक क्या सोचते हैं? और उनका कैसा योगदान रहा है?

'योग' का अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से बना है। सस्कृत व्याकरण मे 'युज्' धातु दो हैं। एक का अर्थ है—जोडना, सयोजित करना।[2] और दूसरे का अर्थ है—समाधि, मन स्थिरता।[3] भारतीय

---

1 The word 'Yoga' literally means 'Union'
—*Indian Philosophy*, (Dr C D Sharma)

२ युजृपी योगे, गण ७, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

३ युजिच समाधौ, गण ४, —हेमचन्द्र धातुपाठ।

योग-दर्शन मे 'योग' शब्द का उक्त दोनो अर्थों मे प्रयोग हुआ है। कुछ विचारको ने योग का 'जोडने' अर्थ मे प्रयोग किया है, तो कुछ चिन्तको ने उसका 'समाधि' अर्थ मे भी प्रयोग किया है। किस आचार्य ने उसका किस अर्थ मे प्रयोग किया है, यह उसकी परिभाषा एव व्याख्या से स्वत· स्पष्ट हो जाता है। महर्षि पतजलि ने 'चित्त-वृत्ति के निरोध' को योग कहा है।[1] बौद्ध विचारको ने योग का अर्थ 'समाधि' किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थो मे उन सब साधनो को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल का नाश होता है और उसका मोक्ष के साथ सयोग होता है।[2] उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की यही व्याख्या की है।[3] यशोविजय जी ने कही-कही पञ्च-समिति और त्रि-गुप्ति को भी श्रेष्ठ योग कहा है। आचार्य हरिभद्र के विचार से योग का अर्थ है—धर्म व्यापार। आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारो का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को सयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[4] क्योकि, यह धर्म-व्यापार या आध्यात्मिक साधना आत्मा को मोक्ष के साथ सयोजित करती है।

योग के अर्थ में—एकरूपता

वैदिक विचारधारा मे 'योग' शब्द का समाधि अर्थ मे प्रयोग हुआ और जैन परपरा मे इसका संयोग—जोडने अर्थ मे प्रयोग हुआ है। गणित-शास्त्र मे भी योग का अर्थ—जोडना, मिलाना किया है। मनोविज्ञान

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —पातजल योग-सूत्र, पा० १, स० २.

२. मोक्खेण जोयणाओ जोगो। —योगविंशिका, गाथा १.

३. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। —द्वात्रिंशिका.

४. अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षय·।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम ॥ —योगबिन्दु, ३१

(Psychology) मे 'योग' शब्द के स्थान मे 'अवधान' एव ध्यान (Attention) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन की वृत्तियो को एकाग्र करने के लिए मनोवैज्ञानिको (Psychologists) ने अवधान या ध्यान के महत्व को स्वीकार किया है। और ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोडा जाए। क्योकि मन को एकाग्र बनाने की क्रिया का नाम ध्यान है और वह तभी हो सकता है, जब कि मन किसी एक पदार्थ के साथ सबद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को अपने चिन्तन के अतिरिक्त पता ही नही चलेगा कि उसके चारो ओर क्या हो रहा है। इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा मे 'सक्रिय ध्यान' (Active Attention) कहते हैं।

जैन और वैदिक परपरा के अर्थ मे भिन्नता ही नही, एकरूपता भी निहित है। जब हम 'चित्त-वृत्ति निरोध' और 'मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार' शब्दो के अर्थ का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करते है, तो दोनो अर्थों मे भिन्नता परिलक्षित होती है, दोनो मे पर्याप्त दूरी दिखाई देती है। परन्तु, जब हम दोनो परपराओ का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो उनमे भिन्नता की जगह एकरूपता का भी दर्शन होता है।

'चित्त-वृत्ति का निरोध करना' एक क्रिया है, साधना है। इसका अर्थ है—चित्त की वृत्तियो को रोकना। परन्तु, यह एकान्तत निषेध-परक अर्थ को ही अभिव्यक्त नही करती है, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है। रोकने के साथ करने का भी सबध जुडा हुआ है। अत चित्त-वृत्ति निरोध' का वास्तविक अर्थ यह है कि साधक अपनी ससराभिमुख चित्त-वृत्तियो को रोककर अपनी साधना को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाए। अपनी मनोवृत्तियो को सासारिक प्रपचो एव विषय-वासनाओ से हटाकर मोक्षाभिमुखी बनाए। मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। जैन विचारक

मोक्ष के साथ संबंध कराने वाली क्रिया को, साधना को ही 'योग' कहते है।

जैन-आगम मे 'सवर' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जैनो का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। जैन विचारको के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय विचारक ने इस शब्द का प्रयोग नही किया है। 'सवर' शब्द आध्यात्मिक साधना के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। आस्रव का निरोध करने का नाम सवर है। महर्षि पतजलि ने योग-सूत्र मे चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है। इस तरह सवर और योग—दोनो के अर्थ मे 'निरोध' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक मे निरोध के विशेषण के रूप मे आस्रव का उल्लेख किया है और दूसरे मे चित्त-वृत्ति का।

जैनागम मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग को आस्रव कहा है।[२] इसमे भी मिथ्यात्व, कषाय एव योग को प्रमुख माना है। अविरति और प्रमाद—कषाय के ही विस्तार मात्र हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैनागम मे उल्लिखित आस्रव मे जो 'योग' शब्द आता है, वह योग परंपरा सम्मत चित्त-वृत्ति के स्थान मे है। जैनागम में मन, वचन और कायिक प्रवृत्ति को योग कहा है। इसमे मानसिक प्रवृत्ति तीनो का केन्द्र है। क्योकि कर्म का वन्ध वचन और काया की प्रवृत्ति से नही, वल्कि परिणामो से होता है।[3] इस तरह योग-सूत्र मे जिसे चित्त-वृत्ति कहा है, जैन परपरा मे उसे आस्रव रूप योग कहा है।

---

१ निरुद्धासवे (संवरो), उत्तराध्ययन, २६, ११; आस्रव-निरोध· संवर·, तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १।

२. पच आसवदारा पण्णता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमायो, कसाया, जोगा। —समवायांग, समवाय ५.

३. परिणामे वन्ध।

जैन परपरा मे योग-आस्रव दो प्रकार का माना है—१ सकषाय योग-आस्रव, और २ अकषाय योग-आस्रव। योग-सूत्र मे चित्त-वृत्ति के भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद किए हैं। जैनागम में कषाय के चार भेद किए हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। और योग-सूत्र मे क्लिष्ट चित्त-वृत्ति को भी चार प्रकार का माना है—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जैन परपरा सर्वप्रथम सकषाय योग के निरोध को और उसके पश्चात् अकषाय योग के निरोध को स्वीकार करती है। यही बात योग-सूत्र मे क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के विषय मे कही गई है। महर्षि पतजलि भी पहले क्लिष्ट चित-वृत्ति का निरोध करके फिर क्रमश अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के निरोध की बात कहते हैं।

इस तरह जब हम जैन परपरा और योग-सूत्र मे उल्लिखित योग के अर्थ पर विचार करते हैं, तो दोनो मे भिन्नता नही, एक रूपता परिलक्षित होती है। अत समग्र भारतीय चिन्तन की दृष्टि से योग का यह अर्थ समझना चाहिए—"समस्त आत्म-शक्तियो का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, सब आत्म-गुणो को अनावृत्त करने वाली आत्माभिमुखी साधना।" एक पाश्चात्य विचारक ने भी शिक्षा की यही व्याख्या की है।[1]

योग की जन्मभूमि

योग एक आध्यात्मिक साधना है। आत्म-विकास की एक प्रक्रिया है। और साधना का द्वार सबके लिए खुला है। दुनिया का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म-विकास करने के लिए पूर्णत स्वतत्र है। आध्यात्मिक विकास, आत्म-साधना एव आत्म-चिन्तन पर किसी देश, जाति, वर्ण, वर्ग या धर्म-विशेष का एकाधिपत्य (Monopoly) नही है। इसका कारण

---

1 Education is the harmonious development of all our faculties

—*Lord Avebrine*

यह है कि भारतीय ऋषि-मुनियो एव विचारको के चिन्तन-मनन, तथा साहित्य का आदर्श एक रहा है। तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक, रूपक आदि साहित्य का कोई-सा भाग ले, उसका अन्तिम आदर्श मोक्ष रहा है। वैदिक साहित्य मे वेदो का अधिकाश भाग प्राकृतिक दृश्यो, देवों की स्तुतियो तथा क्रिया-काण्डो के वर्णन ने घेर रखा है। परन्तु, यह वर्णन वेद का वाह्य शरीर मात्र है। उसकी आत्मा इससे भिन्न है, वह है परमात्म-चिन्तन। उपनिषदो का भव्य-भवन तो ब्रह्म-चिन्तन की आधारशिला पर ही स्थित है। और जैन-आगमो मे आत्मा का साध्य 'मोक्ष' माना है। समस्त आगमो का निचोड एव सार 'मुक्ति' है और उसमे मुक्ति-मार्ग का ही विस्तार से वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान सवन्धी सूत्र एव दर्शन ग्रन्थो तथा आचार विषयक ग्रन्थो को देखें, तो उनमे साध्य रूप से मोक्ष का ही उल्लेख मिलेगा।[1] रामायण और महाभारत मे भी उसके मुख्य पात्रो

---

१ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्।

—वैशेषिक दर्शन, १, ४

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि-श्रेयसम्।

—न्याय दर्शन, १, १.

अथ त्रि-विधदु खात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थ।

—सांख्य दर्शन, १.

अनावृत्ति शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

—वेदान्त दर्शन, ४, ४, २२.

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग.।

—तत्त्वार्थ सूत्र, १.

का महत्व इसलिए नही है कि वे राजा या राजकुमार थे, परन्तु उसका कारण यह है कि वे जीवन के अन्तिम समय मे सन्यास या तप साधना के द्वारा मोक्ष अनुष्ठान मे सलग्न रहे। इसके अतिरिक्त कालिदास जैसा महान् कवि भी अपने प्रमुख पात्रो का महत्व मुक्ति की ओर झुकने मे देखता है।[१] शब्द-शास्त्र मे शब्द शुद्धि को तत्त्वज्ञान का द्वार मानकर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है।[२] और तो क्या ? काम-शास्त्र जैसे काम विषयक ग्रन्थ का अन्तिम ध्येय मोक्ष माना है।[3] इस तरह समग्र भारतीय साहित्य का चरम आदर्श मोक्ष रहा है और उसकी गति चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर ही रही है।

इस तरह सपूर्ण वाङ्मय का एक ही आदर्श रहा है। और भारतीय जनता की अभिरुचि भी मोक्ष या ब्रह्म प्राप्ति की ओर रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग एव अध्यात्म साधना की परपरा भारत मे युग-युगान्तर से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। यही कारण है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह लिखा है कि भारतीय

---

१. शाकुन्तल नाटक, अक ४, कणवोक्ति, रघुवश १, ८, ३, ७०।

२ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्,
शब्दब्रह्मणी निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति।
व्याकरणात्पदसिद्धि पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति,
अर्थात्तत्त्व-ज्ञान तत्त्वज्ञानात् पर श्रेयः॥

—हेमशब्दानुशासनम् १, १, २.

३ स्थविरे धर्म मोक्ष च।

—काम-सूत्र, (बम्बई संस्करण) अ० २, पृ० ११

सभ्यता अरण्य—जगल मे अवतरित हुई है।[1] और यह है भी सत्य। क्योकि भारत का कोई भी पहाड, वन एवं गुफा-क्षेम एवं आध्यात्मिक साधना से शून्य नही मिलेगी। इससे यह कहना उपयुक्त ही है कि योग को आविष्कृत एवं विकसित करने का श्रेय भारत को ही है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं।[2]

ज्ञान और योग

दुनिया की कोई भी क्रिया क्यो न हो, उसे करने के लिए सबसे पहले ज्ञान आवश्यक है। बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया सफल नही हो सकती। आत्म-साधना के लिए भी क्रिया के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य माना है। जैनागम मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया।[3] ज्ञानाभाव मे कोई भी क्रिया, कोई भी साधना—भले ही वह कितनी ही उत्कृष्ट, श्रेष्ठ एव कठिन क्यो न हो, साध्य को सिद्ध करने मे सहायक नही हो सकती। अत. साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु, ज्ञान का महत्व भी साधना एव आचरण मे है। ज्ञान का महत्व तभी समझा जाता है, जब कि उसके अनुरूप आचरण किया जाए। ज्ञान-पूर्वक किया गया आचरण ही योग है, साधना है। अत. ज्ञान योग-

---

1 Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth

—*Sadhna*, by Tagore, p. 4

2. This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown

—*Sacred Book of the East.* by Max Muller, Vol. I, p 3.

३. पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक, ४, १०

हैं, तो अहंभाव एव ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है। क्योकि अहभाव आदि मनोविकारो का परित्याग किए बिना मन, वचन एव काय योग मे स्थिरता आ नही सकती और मन, वचन तथा कर्म मे एकरूपता एव समता का विकास नही हो सकता। और योगो की स्थिरता, एकरूपता हुए बिना तथा समभाव के आए बिना योग-साधना हो नही सकती। अत योग-साधना के लिए मनोविकारो का परित्याग आवश्यक है।

जिस साधना मे एकाग्रता तो है, परन्तु अहत्व-ममत्व का त्याग नही है, वह केवल व्यावहारिक या द्रव्य साधना है। पारमार्थिक या भाव योग-साधना वह है, जिसमे एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारो का परित्याग कर दिया गया है। अहत्व-ममत्व भाव का त्यागी आत्मा किसी भी प्रवृत्ति मे प्रवृत्त हो—भले ही वह स्थूल दृष्टि वाले व्यक्तियो को बाह्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती हो, वह पारमार्थिक योगी कहलाता है। इसके विपरीत स्थूल दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति जिसे आध्यात्मिक साधना समझते है, उसमे प्रवृत्त व्यक्ति अहत्व-ममत्व मे रमण करता है, तो उसकी वह योग-साधना केवल द्रव्य-साधना है, बाह्य योग है। उससे उसका साध्य सिद्ध नही हो सकता। अत विचारको ने अहत्व-ममत्व भाव से रहित समत्व भाव की साधना को ही सच्चा योग कहा है।[1]

योग परंपराएँ

विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए दो बातो की आवश्यकता पडती है—एक पदार्थ-विषयक ज्ञान और दूसरी क्रिया। ज्ञान और क्रिया के सुमेल के बिना दुनिया का कोई भी कार्य पूरा नही

---

१ योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योगं उच्यते॥
—गीता, २, ४८

किया जा सकता—भले ही वह लौकिक कार्य हो या पारलौकिक, सासारिक हो या आध्यात्मिक। यदि किसी व्यक्ति को एक मकान बनाना है, तो मकान तैयार करने के पूर्व उसे उसके स्वरूप, उसमे लगने वाली सामग्री और उसमे काम आने वाले साधनो एव उस साधन-सामग्री के उपयोग करने के ढग का ज्ञान करना आवश्यक है। और तत्सम्वन्धी पूरी जानकारी करने के बाद उसके अनुरूप क्रिया की जाती है, परिश्रम किया जाता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को कर्म-बन्धन से पूर्णतया मुक्त करने के अभिलाषी साधक के लिए भी यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम आत्मा के स्वरूप, आत्म के साथ कर्मों के बन्धन के कारण, बन्ध को रोकने तथा आवद्ध कर्मों को तोडने के साधनो का सम्यक् बोध प्राप्त करे। उसके पश्चात् वह तदनुसार क्रिया करे, उस ज्ञान को आचरण का रूप दे। इस तरह ज्ञान और क्रिया के सुमेल से साध्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नही।

योग-साधना भी एक क्रिया है। इस साधना मे प्रवृत्त होने, सलग्न होने के पूर्व साधक आत्मा योग, साधना आदि आध्यात्मिक एव तात्विक विषयो का ज्ञान प्राप्त करता है। वह योग के हर पहलू पर गहराई से सोचता-विचारता है। परन्तु चिन्तन का एक रूप न होने के कारण—योग एव उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मोक्ष मे एकरूपता होने पर भी, उनके द्वारा प्ररूपित योग एव मुक्ति के स्वरूप मे भिन्नता परिलक्षित होती है। क्योकि, वस्तु अनेक पर्यायो से युक्त है और उसका चिन्तन करने वाले साधक उसके किसी पर्याय विशेष को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, अत उनके चिन्तन मे अन्तर रहना स्वाभाविक है। इसी विचार विभिन्नता के कारण योग-साधना भी विभिन्न धाराओ मे प्रवहमान दिखाई देती है।

साधना का मूल केन्द्र आत्मा हैं। अत योग के चिन्तन का मुख्य विषय भी आत्मा है। और आत्म स्वरूप के सम्बन्ध मे भी सभी भारतीय

विचारक एव दार्शनिक एकमत नही है। आत्मा को जड से भिन्न एक स्वतत्र द्रव्य मानने वाले विचारक भी दो भागो मे विभक्त है। कुछ विचारक एकात्मवादी हैं और कुछ अनेकात्मवादी है। इसके अतिरिक्त व्यापकत्व-अव्यापकत्व, परिणामित्व-अपरिणामित्व, क्षणिकत्व-नित्यत्व आदि के अनेक विचार-भेद रहे हुए है। परन्तु, यदि इन अवान्तर भेदो को एक तरफ भी रख दें, तो मुख्य दो भेद रह जाते हैं—१ एकात्मवादी, और २ अनेकात्मवादी। इस आधार पर योग-साधना भी दो परपराओ मे विभक्त हो जाती है। कुछ उपनिषद[1], योगवासिष्ठ, हठयोग-प्रदीपिका आदि योग-विषयक ग्रन्थ एकात्मवाद को लक्ष्य मे रखकर लिखे गए है और महाभारत, योग-प्रकरण, योग-सूत्र, तथा जैन और बौद्ध योग-शास्त्र अनेकात्मवाद के आधार पर लिपि-बद्ध किए गए हैं। इस तरह योग-परपरा दो धाराओ मे प्रवहमान रही है।

यदि हम दार्शनिक दृष्टि से सोचते है, तो भारतीय-सस्कृति तीन धाराओ मे प्रवहमान रही है—१ वैदिक, २ जैन, और ३ बौद्ध। इस अपेक्षा से योग-साधना या योग-साहित्य की भी तीन परम्पराएँ मानी जा सकती हैं—१. वैदिक योग परपरा, २. जैन योग परपरा, और ३. बौद्ध योग-परपरा। तीनो परम्पराओ का अपना स्वतत्र चिन्तन है और मौलिक विचार है। और सबने अपने दृष्टिकोण से योग पर सोचा-विचारा एव लिखा है। फिर भी तीनो परपराओ के विचारो मे भिन्नता के साथ बहुत-कुछ साम्य भी है। आगे की पक्तियो मे हम इस पर क्रमश विचार करेंगे।

वैदिक योग और साहित्य

वैदिक परपरा मे वेद मुख्य है। उनमे प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। उसका अधिकाश भाग आधिभौतिक एव आधिदैविक वर्णन से भरा

---

१. ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नाद-बिन्दु, ब्रह्म-बिन्दु, अमृत-बिन्दु, ध्यान-बिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस आदि।

पडा है। वस्तुत वेदो मे आध्यात्मिक वर्णन बहुत कम देखने को मिलता है। ऋग्वेद मे 'योग' शब्द अनेक स्थानो पर आया है,[१] परन्तु सर्वत्र उसका अर्थ-जोडना, मिलाना, संयोग करना इतना ही है; ध्यान एव समाधि अर्थ नही है। इतना ही नही, उसके बाद योग-विषयक ग्रन्थो मे योग के अर्थ मे प्रयुक्त, ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अर्थ मे योग शब्द का उल्लेख नही किया है। इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन उपनिषदो मे भी 'योग' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयोग नही हुआ है। कठोपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद जैसे उत्तरकालीन उपनिषदो मे 'योग' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयोग हुआ है।[२] फिर भी इतना व्यापक रूप से नही हुआ, जितना कि 'तप' शब्द का हुआ है। ठेठ ऋग्वेद से लेकर उपनिषद काल तक के साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योग' शब्द की अपेक्षा 'तप' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ मे अधिक व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है।

उपनिषदो मे जहाँ-तहाँ 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, तो वह साख्य परपरा या उसके समान किसी अन्य परम्परा के साथ प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इतना तो कहना होगा कि उपनिषद काल

---

१ ऋगवेद १, ५, ३, १, १८, ७; १, ३४, ९, २, ८, १, ९, ५८, २, और १०, १६६, ५।

२ योग आत्मा। —तैतिरीय उप०, २, ४

त योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
—कठोपनिषद, २, ६, ११

अध्यात्म-योगाधिगमेन देव मत्वाधीरो हर्ष-शोकौ जहाति।
—कठोपनिषद १, २, १२

तत्कारण साख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै।
—श्वेताश्वतर, उप० ६, १३

मे योग शब्द का आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयोग होने लगा था। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदो मे भी योग, ध्यान आदि शब्द समाधि के अर्थ मे पाए जाते है।[1] अनेक उपनिषदो मे योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। उनमे योग-शास्त्र की तरह योग-साधना का सागोपाग वर्णन मिलता है।[2]

वेदो के बाद उपनिषद काल मे आध्यात्मिक चिन्तन को महत्व दिया गया। उपनिषदो मे जगत, जीव और परमात्मा सम्बन्धी बिखरे हुए विचारो को विभिन्न ऋषियो ने सूत्रो मे ग्रथित किया। इस तरह आध्यात्मिक चिन्तन को दर्शन का रूप मिला। क्योकि, समस्त दार्शनिको का अन्तिम ध्येय मोक्ष रहा है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मुक्ति के लिए कोरे ज्ञान की ही नही, साथ मे क्रिया—साधना की भी आवश्यकता रहती है। इसलिए सभी दार्शनिको ने साधना रूप से योग की उपयोगिता को स्वीकार किया है। महर्षि गौतम के न्याय दर्शन मे मुख्य रूप से प्रमाण विषयक विचार हैं, उसमे भी योग-साधना को स्थान दिया है।[3] महर्षि कणाद ने भी वैशेषिक दर्शन मे यम, नियम, शौचादि

---

१. तैत्तरीय उप०, २, ४; कठोपनिषद् २, ६, ११; श्वेताश्वतर उप० २, ११; ६, ३; १, १४; छान्दोग्य उप० ७, ६, १; ७, ६, २; ७, ७, १; ७, २६, १; कौशीतकि, ३, २; ३, ३; ३, ४।

२. ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नाद-बिन्दु, ब्रह्म-बिन्दु, अमृत-बिन्दु, ध्यान-बिन्दु, तेजोबिन्दु; **Philosophy of Upanishad's.**

३. समाधि-विशेषाभ्यासात्। अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।

—न्याय-दर्शन, ४, २, ३८; ४, २, ४२; ४, २, ४६

योगागो का वर्णन किया है।[१] साख्य दर्शन मे भी योग विषयक अनेक सूत्र हैं।[२] महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'साधन' रखा है और उसमे आसन, ध्यान आदि योगागो का वर्णन किया है।[३] योग-दर्शन तो प्रमुख रूप से योग विषयक ग्रन्थ है ही, अत उसमे योग-साधना का सागोपाग वर्णन मिलना सहज-स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य मे महर्षि पतजलि का योग-शास्त्र ही योग विषयक सब से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

उपनिषदो मे सूचित और दर्शन साहित्य मे वर्णित योग-साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप गीता मे मिलता है। वस्तुत देखा जाए तो गीता युद्ध के मैदान मे उपदिष्ट योग विषयक ग्रन्थ है।[४] उसमे योग का विभिन्न तरह से वर्णन किया गया है। उसमे योग का स्वर कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ सुनाई देता है।[५] गीता के छठे और तेरहवें अध्याय मे तो योग के सब मौलिक सिद्धान्त और योग की समस्त साधना का वर्णन आ जाता है।

योगवासिष्ठ मे योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके छह

---

१ अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदान प्रोक्षण-दिङ्-नक्षत्र-मन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय।

—वैशेषिक दर्शन, ६, २, २ ; ६, २, ८.

२. साख्य सूत्र, ३, ३०–३४

३ ब्रह्म सूत्र, ४, १, ७–११

४ गीता के अठारह अध्यायो मे पहले छह अध्याय कर्म-योग प्रधान हैं, मध्य के छह अध्याय भक्ति-योग प्रधान हैं और अन्तिम छह अध्याय ज्ञान-योग प्रधान हैं।

५ गीता रहस्य (प० बाल गंगाधर तिलक) भाग २ की शब्द-सूची देखें।

प्रकरणो मे योग के सब अगो का वर्णन है। योग-दर्शन मे योग के सम्बन्ध मे जो वर्णन सक्षेप से किया गया है, उसी का विस्तार करके ग्रन्थकार ने योगवासिष्ठ के आकार को बढा दिया है। इससे यही कहना पडता है कि योगवासिष्ठ योग का महाग्रन्थ है।

पुराण साहित्य मे सर्वशिरोमणि भागवत पुराण का अध्ययन करे, तो उसमे भी योग का पूरा वर्णन मिलता है।[1]

भारत मे योग का इतना अधिक महत्व बढा कि सभी विचारक इस पर चिन्तन करने लगे। तान्त्रिक सम्प्रदाय ने भी योग को अपने तन्त्र ग्रन्थो मे स्थान दिया। अनेक तन्त्र ग्रन्थो मे योग का वर्णन मिलता है। परन्तु, महानिर्वाण तन्त्र और षट्चक्र-निरूपण मुख्य ग्रन्थ है, जिनमे योग-साधना का विस्तार से वर्णन मिलता है।[2]

मध्य युग मे योग का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारो ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा। आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योग के बाह्य अगो पर इतना जोर दिया गया कि योग की एक सम्प्रदाय ही बन गई, जो हठयोग के नाम से प्रसिद्ध रही है। आज उस सप्रदाय का कोई अस्तित्व नही है। केवल इतिहास के पन्नो पर ही उसका नाम अवशेष है।

हठयोग के विभिन्न ग्रन्थो मे हठयोग-प्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्ड-सहिता, गोरक्ष-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योगतारावली, विन्दु-योग, योगवीज, योगकल्पद्रुम आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमे हठयोग- प्रदीपिका मुख्य

---

१. भागवत पुराण, स्कंध ३, अध्याय २८; स्कन्ध ११, अध्याय १५, १६ और २०।

२. महानिर्वाण तन्त्र, अध्याय ३ ; और Tantrik Texts में प्रकाशित षट्चक्र-निरूपण, पृष्ठ, ६०, ६१, ८२, ६०, ६१ और १३४।

है। उक्त ग्रन्थो मे आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य अगो का दिल खोलकर वर्णन किया है। घेरण्ड ने आसनो की सख्या को ८४ से ८४*लाख तक पहुँचा दिया है।

सस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओ मे भी योग पर कई ग्रन्थ लिखे गए हैं। महाराष्ट्रीय भाषा मे गीता की ज्ञानदेव कृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है। इसके छटे अध्याय मे योग का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

सन्त कबीर का 'बीजक ग्रन्थ' योग-विषयक भाषा साहित्य का अनूठा नगीना है। अन्य योगी सन्तो ने भी अपने योग-सम्बन्धी अनुभवो को जन-भाषा मे जन-हृदय पर अकित करने का प्रयत्न किया है। अत हिन्दी, गुजराती, मराठी, बगला आदि प्रसिद्ध प्रान्तीय भाषाओ मे पातञ्जल योग-शास्त्र के अनुवाद तथा विवेचन निकल चुके हैं। अग्रेजी एव अन्य विदेशी भाषाओ मे भी योग-शास्त्र का अनुवाद हुआ है, जिसमे वुड (Wood) का भाष्य-टीका सहित मूल पातञ्जल योग-शास्त्र का अनुवाद ही महत्वपूर्ण है।

पातञ्जल योग-शास्त्र

वैदिक साहित्य के विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि इसमे योग पर छोटे-बडे अनेक ग्रन्थ है। परन्तु, इन उपलब्ध ग्रन्थो मे—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, पातञ्जल योग-शास्त्र शीर्ष स्थान रखता है। इसके मुख्य तीन कारण हैं—१ ग्रन्थ की सक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषय की स्पष्टता एव पूर्णता, और ३. अनुभवसिद्धता। इन विशेषताओ के कारण ही योग-दर्शन का नाम सुनते ही पातञ्जल योग-शास्त्र स्मृति मे साकार हो उठता है। योग-विषयक साहित्य एव दर्शन ग्रन्थो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पातञ्जल योग-शास्त्र के समय अन्य योग-शास्त्र भी इतने ही प्रसिद्ध रहे है और वे योग-शास्त्र

के नाम से लिखे गये थे। आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे योग-दर्शन का खण्डन करते हुए लिखा है—'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः'।[१] इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के सामने पातञ्जल योग-शास्त्र से भिन्न योग-शास्त्र भी रहा है। क्योकि, पातञ्जल योग-शास्त्र—'अथ योगानुशासनम्'[२] सूत्र से शुरू होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य शकर ने अपने भाष्य मे योग से सबन्धित दो सूत्रो का और उल्लेख किया है,[३] जिनमे से एक सूत्र तो पातञ्जल योग-शास्त्र का पूरा सूत्र है।[४] और दूसरा उसका अविकल सूत्र तो नही, परन्तु उससे मिलता-जुलता सूत्र है।[५] परन्तु 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः'—इस सूत्र की मौलिकता एव शब्द-रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शकर द्वारा उद्धृत अन्तिम दो उल्लेख भी इसी योग-शास्त्र के होने चाहिए। दुर्भाग्य से वह योग-शास्त्र आज अनुपलब्ध है। अत वैदिक परपरा के योग विषयक साहित्य मे योग-शास्त्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रस्तुत योग-शास्त्र चार पाद मे विभक्त है और इसमे कुल १९५ सूत्र है। प्रथम पाद का नाम समाधि, द्वितीय का साधन, तृतीय का विभूति और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद मे प्रमुख रूप से योग के स्वरूप, उसके साधन और चित्त को स्थिर बनाने के उपायो का वर्णन है। द्वितीय पाद मे क्रिया-योग, योग के आठ अग, उनका फल

---

१. ब्रह्मसूत्र भाष्य, २, १, ३.

२ योग-शास्त्र। —महर्षि पतंजलि, १, १.

३ स्वाध्यायादिष्टदेवतासप्रयोगः; प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः नाम। —ब्रह्मसूत्र भाष्य, १, ३, ३३; २, ४, १२

४. देखें पातञ्जल योग-शास्त्र, २, ४.

५. देखें पातञ्जल योग-शास्त्र १, ६

और हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय—इस चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद मे योग की विभूतियो का उल्लेख किया गया है। और चतुर्थ पाद मे परिणामवाद का स्थापन, विज्ञान-वाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का वर्णन है।

प्रस्तुत योग-शास्त्र साख्य दर्शन के आधार पर रचा गया है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्येक पाद के अन्त मे यह अकित किया है—**योग-शास्त्रे सांख्य-प्रवचने**। '**सांख्य-प्रवचने**' इस विशेषण से यह स्पष्टत ध्वनित होता है कि साख्य-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो के सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित योग-शास्त्र भी उस समय विद्यमान थे।

यह हम पहले बता चुके हैं कि सभी भारतीय विचारको, दार्शनिको एव साहित्यकारो के चिन्तन का आदर्श मोक्ष रहा है। परन्तु, मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे सभी विचारक एकमत नही हैं। कुछ विचारक मुक्ति मे शाश्वत सुख नही मानते। उनका विश्वास है कि दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त वहाँ शाश्वत सुख जैसी कोई स्वतत्र वस्तु नही है। कुछ विचारक मुक्ति मे शाश्वत सुख का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका यह दृढ विश्वास है कि जहाँ शाश्वत सुख है, वहाँ दु ख का अस्तित्व रह ही नही सकता, उसकी निवृत्ति तो स्वत ही हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक[1], साख्य[2], योग[3] और बौद्ध दर्शन[4] प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं। वेदान्त और जैन-

---

१ तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग। —न्याय दर्शन, १, १, २२

२ ईश्वर-कृष्ण-कारिका १।

३ योग-शास्त्र मे मुक्ति मे हानत्व माना है और दु ख के आत्यन्तिक नाश को ही हान कहा है। —पातञ्जल योग-शास्त्र २, २६

४ तथागत बुद्ध के तृतीय निरोध नामक आर्य-सत्य का अर्थ—दु ख का नाश है। —बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १५०.

दर्शन द्वितीय पक्ष को अन्तिम साध्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि शाश्वत सुख को प्राप्त करना ही साधक का अन्तिम ध्येय है और यह साध्य मोक्ष है।

योग-शास्त्र मे विषय का वर्गीकरण उसके अन्तिम साध्य के अनुरूप ही है। उसमे अनेक सिद्धान्तो का वर्णन है, परन्तु सक्षेप मे वह चार विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—१. हेय, २ हेय हेतु, ३ हान, और ४. हानोपाय। दुःख हेय है, अविद्या हेय का कारण है, दुःख का आत्यन्तिक नाश हान है और विवेकख्याति हानोपाय है।[1] साख्य-सूत्र मे भी यही वर्गीकरण मिलता है। तथागत बुद्ध ने इसी चतुर्व्यूह को 'आर्य-सत्य' का नाम दिया है। और योग-शास्त्र मे वर्णित अष्टाग योग की तरह चतुर्थ आर्य-सत्य के साधन रूप से 'आर्य अष्टाग मार्ग' का उपदेश दिया है।[2]

इसके अतिरिक्त योग-शास्त्र मे वर्णित चतुर्व्यूह का दूसरी प्रकार से भी वर्गीकरण किया है—१ हाता, २ ईश्वर, ३ जगत, और ४ ससार एव मुक्ति का स्वरूप तथा उसके कारण।

१. हाता

दु.ख से सर्वथा निवृत्त होने वाले दृष्टा—आत्मा या चेतन को 'हाता' कहते हैं। योग-शास्त्र मे साख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध, जैन एव पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन की तरह अनेक आत्माएँ—चेतन स्वीकार की है। परन्तु, आत्मा के स्वरूप की मान्यता मे भेद है। योग-शास्त्र आत्मा को न तो जैन-दर्शन की तरह देह-प्रमाण मानता है और न मध्व सप्रदाय की तरह अणु-प्रमाण मानता है। वह साख्य, वैशेषिक, नैयायिक एव शकर वेदान्ती की तरह आत्मा को सर्वव्यापक मानता है। इसी तरह

---

१. योग-शास्त्र। —महर्षि पतञ्जलि, २, १६; १७; २४; २६.

२ बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १५०।

वह चेतन को जैन-दर्शन की तरह परिणामी नित्य तथा बौद्ध-दर्शन की तरह एकान्त क्षणिक न मानकर साख्य एव अन्य वैदिक दर्शनो की तरह कूटस्थ नित्य मानता है।

२ ईश्वर

योग-शास्त्र साख्य-दर्शन की तरह ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार नही करता।[1] वह ईश्वर को मानता है और उसे जगत का कर्त्ता भी मानता है।

३ जगत

योग-शास्त्र जगत के स्वरूप को साख्य-दर्शन की तरह प्रकृति का परिणाम और अनादि-अनन्त प्रवाह रूप मानता है। वह जैन, वैशेषिक एव नैयायिक दर्शन की तरह उसे परमाणु का परिणाम नही मानता, न शकराचार्य की तरह ब्रह्म का विवर्त—परिणाम मानता है, और न बौद्ध-दर्शन की तरह शून्य या विज्ञानात्मक स्वीकार करता है।

४ संसार और मोक्ष का स्वरूप

योग-शास्त्र मे वासना, क्लेश और कर्म को 'ससार' कहा है और उसके अभाव को 'मोक्ष'।[2] ससार का मूल कारण अविद्या और मुक्ति का मुख्य कारण सम्यग्दर्शन या योग-जन्य विवेक माना है।

योग-शास्त्र और जैन-दर्शन मे समानता

योग-शास्त्र का अन्य दर्शनो की अपेक्षा जैन-दर्शन के साथ अधिक साम्य है। फिर भी बहुत कम विचारक इस बात को जान-समझ पाए हैं। इसका एक ही कारण है कि ऐसे बहुत कम जैन विचारक, दार्शनिक एव विद्वान हैं, जो उदार हृदय से योग-शास्त्र का अध्ययन करने वाले हो और योग-शास्त्र पर अधिकार रखने वाले ऐसे ठोस विद्वान भी कम

---

१ साख्य-सूत्र, १, ९२।
२ पातञ्जल योग-सूत्र, १, ३।

मिलेगे, जिन्होने जैन-दर्शन का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन किया हो। यही कारण है कि जैन-दर्शन और योग-शास्त्र मे बहुत साम्यता होने पर भी वैदिक एव जैन विचारक इससे अपरिचित-से रहे हैं। योग-शास्त्र और जैन-दर्शन मे समानता तीन तरह की है—१ शब्द की, २ विषय की, और ३. प्रक्रिया की।

१. शब्द-साम्य

योग-सूत्र एव उसके भाष्य मे ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग मिलता है, जो जैनेतर दर्शनो मे प्रयुक्त नही है, परन्तु जैन दर्शन एव जैनागमो मे उनका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। जैसे—भवप्रत्यय[1], सवितर्क-सविचार-निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत-कारित-अनुमोदित[4],

---

१ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। —योग-सूत्र १, १९
भवप्रत्ययो नारक-देवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र, १, २१; नन्दी-सूत्र, ७; स्थानाग सूत्र २, १, ७१

२ एकाश्रये सवितर्के पूर्वे; तत्र सविचारं प्रथमम् (भाष्य) अविचारं द्वितीयम। —तत्त्वार्थ सूत्र, ९, ४३-४४; स्थानांग सूत्र, (वृत्ति) ४, १, २४७

तत्र शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः; स्मृति-परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का; एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
—पातञ्जल योग-सूत्र १, ४२-४४.

३ जैनागमों में मुनि के पाँच यमो के लिए महाव्रत शब्द का प्रयोग हुआ है। —देखें स्थानांग सूत्र, ५, १, ३८९, तत्त्वार्थ सूत्र, ७, २
यही शब्द योग-शास्त्र मे भी उसी अर्थ मे आया है।
—योग-सूत्र २, ३१.

४. ये शब्द जिस भाव के लिए योग-शास्त्र, २, ३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भाव मे जैनागम मे भी मिलते हैं, जैनागमो मे अनुमोदित के स्थान में प्रायः अनुमित शब्द प्रयुक्त हुआ है।
—तत्त्वार्थ ६, ९; दशवैकालिक अध्ययन ४.

प्रकाशावरण,[१] सोपक्रम-निरुपक्रम,[२] वज्रसहनन,[३] केवली[४] कुशल,[५] ज्ञानावरणीय-कर्म,[६] सम्यग्ज्ञान,[७] सम्यग्दर्शन,[८] सर्वज्ञ,[९] क्षीण क्लेश,[१०] चरम देह[११] आदि शब्दो का जैनागम एव योग-शास्त्र मे प्रयोग मिलता है ।

१—योग-शास्त्र, २, ५२, ३, ४३,। जैनागमो मे प्रकाशावरण के स्थान मे ज्ञानावरण शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु दोनो शब्दों का अर्थ एक ही है—ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म । —तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १०, भगवती सूत्र, ८, ९, ७५-७६ ।

२—योग-सूत्र ३, २२ । जैन कर्म-ग्रन्थ, तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य) २, ५२, स्थानाग सूत्र (वृत्ति) २, ३, ८५ ।

३—योग-सूत्र ३, ४६ । तत्त्वार्थ (भाष्य) ८, १२ और प्रज्ञापना सूत्र । जैन-आगमो मे वज्रऋषभ-नाराच-सहनन शब्द मिलता है ।

४—योग-सूत्र (भाष्य), २, २७, तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १४ ।

५—योग-सूत्र २, २७, दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १८६ ।

६—योग-सूत्र (भाष्य), २, ५१ , उत्तराध्ययन सूत्र ३३, २; आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ८९३ ।

७-८—योग-सूत्र २, २८, ४, १५, तत्त्वार्थ सूत्र, १, १ ; स्थानांग सूत्र ३, ४, १९४ ।

९—योग-सूत्र (भाष्य), ३, ४९; तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य), ३, ३९ ।

१०—योग-सूत्र १, ४ । जैन शास्त्र मे बहुधा क्षीणमोह, क्षीण-कषाय शब्द मिलते हैं—देखें तत्त्वार्थ, ९, ३८ प्रज्ञापना सूत्र, पद १ ।

११—योग-सूत्र (भाष्य) २, ४ , तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२; स्थानाग सूत्र (वृत्ति), २, ३, ८५ ।

२. विषय साम्य

योग-सूत्र और जैन-दर्शन मे शब्दो के समान विषय निरूपण मे भी साम्य है। प्रसुप्त, तनु आदि क्लेश अवस्थाएँ,[1] पाँच यम[2], योग-जन्य विभूति[3],

---

१ प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—इन चार अवस्थाओं का योग-सूत्र २, ४ मे वर्णन है। जैन-शास्त्र में मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम, विरोधि प्रकृति के उदयादि कृत व्यवधान और उदयावस्था के वर्णन मे यही भाव परिलक्षित होते हैं। इसके लिए उपाध्याय यशोविजय जी कृत योग-सूत्र (वृत्ति) २, ४ देखें।

२ पांच यमो का वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थो मे भी है, परन्तु उसकी परिपूर्णता योग-सूत्र के "जाति-देश काल-समयाऽनवच्छिन्नाः, सार्वभौमा महाव्रतम्" योग-सूत्र २, ३१ में तथा दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ एवं अन्य आगमों में वर्णित महाव्रतो मे परिलक्षित होती है।

३ योग-सूत्र के तृतीय पाद मे विभूतियो का वर्णन है। वे विभूतियाँ दो प्रकार की हैं—१ ज्ञान रूप, और २. शारीरिक। अतीताऽनागत-ज्ञान, सर्वभूतरूतज्ञान, पूर्वजाति ज्ञान, परिचित ज्ञान, भुवन ज्ञान, ताराव्यूह ज्ञान आदि ज्ञान-विभूतियाँ हैं। अन्तर्धान, हस्तिवल, परकाय-प्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूप, लावण्यादि काय सपतियाँ शारीरिक विभूतियाँ है। जैन-शास्त्र मे भी अवधि ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान, जाति स्मरण, पूर्व ज्ञान आदि ज्ञान-लब्धियाँ हैं और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचरण, विद्याचरण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं। लब्धि—विभूति का नामान्तर है। —आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९, ७०।

सोपक्रम-निरुपक्रम कर्म का स्वरूप[1] और अनेक कायो—शरीरो[2] का निर्माण आदि विषय के निरूपण मे दोनो परपराओ मे समानता परिलक्षित होती है।

३ प्रक्रिया साम्य

दोनो मे प्रक्रिया का भी साम्य है। वह यह है कि परिणामी-नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से त्रिरूप वस्तु मानकर तदनुसार धर्म और धर्मी का वर्णन किया गया है।[3]

---

१ योग-सूत्र के भाष्य और जैन-शास्त्रो मे सोपक्रम–निरुपक्रम आयुष्कर्म का एक-सा वर्णन मिलता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योग-सूत्र, ३, २२ के भाष्य मे आर्द्र वस्त्र और तृण राशि के दो दृष्टात दिए हैं, वे दोनो दृष्टात आवश्यक निर्युक्ति, ९५६ तथा विशेषावश्यक भाष्य, ३०६१ आदि ग्रन्थो में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२ के भाष्य मे उक्त दो उदाहरणो के अतिरिक्त गणित विषयक तीसरा दृष्टान्त भी दिया है और योग-सूत्र के व्यास भाष्य मे भी यह दृष्टान्त मिलता है। और दोनो मे शाब्दिक साम्य भी बहुत अधिक है।

२ योग-बल से योगी अनेक शरीरो का निर्माण करता है, इसका वर्णन योग-सूत्र ४, ४ मे है। यही विषय वैक्रिय-आहारक लब्धि रूप से जैन आगमों मे वर्णित है।

३ जैनागमो मे वस्तु को द्रव्य-पर्याय स्वरूप मानी है। द्रव्य की अपेक्षा से वह सदा शाश्वत रहती है, इसलिए वह नित्य है। परन्तु, पर्याय की अपेक्षा से उसका प्रतिक्षण नाश एव निर्माण होता रहता है, इसलिए वह अनित्य भी है। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २९ मे सत् का यह लक्षण दिया है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' योग-सूत्र ३, १३-१४ मे जो धर्म-धर्मी का वर्णन है, वह वस्तु के

इस तरह पातञ्जल योग-सूत्र का गहन अध्ययन करने एव उस पर अनुचिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके वर्णन मे जैन-दर्शन के साथ बहुत कुछ समानता है, और इस विचार समानता के कारण आचार्य हरिभद्र जैसे उदार एव विराट हृदय जैनाचार्यों ने अपने योग विषयक ग्रन्थो मे महर्षि पतञ्जलि की विशाल दृष्टि के लिए आदर प्रकट करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है।[1] यह नितान्त सत्य है कि जब मनुष्य शाब्दिक ज्ञान की प्राथमिक भूमिका से आगे बढ जाता है, तब वह शब्दो की पूँछ न खीच कर चिन्ता-ज्ञान तथा भाव-ज्ञान[2] से उत्तरोत्तर—अधिकाधिक एकता वाले प्रदेश मे स्थित होकर अभेद एव निष्पक्ष—पक्षपात रहित आनन्द का अनुभव करता है।

बौद्ध योग परम्परा

बौद्ध साहित्य मे योग के स्थान मे 'ध्यान' और 'समाधि' शब्द का प्रयोग मिलता है। बोधित्व प्राप्त होने के पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। वे अपने शिष्य

उक्त द्रव्य-पर्याय रूप या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इस त्रिरूपता का ही चित्रण है। इसमे कुछ भिन्नता भी है, वह यह है कि योग-सूत्र साख्य-दर्शन के अनुसार निर्मित है, इसलिए वह 'ऋतेचित्‌शक्तेः परिणामिनो भावः' इस सूत्र को मानकर परिणामवाद का उपयोग सिर्फ जड़ भाग—प्रकृति मे करता है, चेतन मे नहीं। और जैन-दर्शन 'सर्वे भावा. परिणामिनः' ऐसा मानकर परिणामवाद का उपयोग जड़-चेतन दोनो मे करता है। इतनी भिन्नता होने पर भी परिणामवाद की प्रक्रिया दोनो मे एक-सी है।

१. योग-बिन्दु, ६६; योगदृष्टि समुच्चय, १००.

२ शब्द, चिन्ता तथा भावना ज्ञान के स्वरूप को विस्तार से समझने की जिज्ञासा रखने वाले पाठक उपाध्याय यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद्, श्लोक ६५, ७४ देखें।

अग्गिवेस्सन को कहते हैं कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक एव कर्ण – कान मे से निकलते हुए साँस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा ।[1] परन्तु, इससे उन्हे समाधि प्राप्त नही हुई। इसलिए बोधित्व प्राप्त होने के बाद तथागत बुद्ध ने हठयोग की साधना का निषेध किया और आर्य अष्टागिक मार्ग का उपदेश दिया ।[2]

इस अष्टागिक मार्ग मे समाधि को विशेष महत्व दिया गया है। वस्तुत समाधि के रक्षण के लिए ही आर्य अष्टाग मे सात अगो का वर्णन किया है और उन सात अगो मे एकता बनाए रखने के लिए 'समाधि' आवश्यक है ।

इस सम्यक्समाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है—१ वितर्क-विचार-प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित, २ प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित, ३ सुख-एकाग्रता सहित, और ४ एकाग्रता सहित ।[3] प्रस्तुत मे वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् सर्वप्रथम किसी आलम्बन को ग्रहण करके समाधि के विषय मे चित्त के प्रवेश को 'वितर्क' कहते हैं, उस विषय मे गहरे उतरने को 'विचार' कहते हैं, उससे जो आनन्द उपलब्ध होता है, उसे 'प्रीति' कहते हैं। उस आनन्द से

---

१ अगुत्तरनिकाय, ६३ ।

२ १. सम्यग्दृष्टि, २ सम्यक्सकल्प, ३. सम्यग्वाणी, ४ सम्यक्कर्म, ५ सम्यकाजीविका, ६ सम्यग्व्यायाम, ७ सम्यक्स्मृति और ८ सम्यक्समाधि ।

—सयुत्तनिकाय ५, १० ; विभग, ३१७–२८

३ मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्तं ; बुद्धलीलासार सग्रह, पृष्ठ १२८ ; समाधि मार्ग (धर्मानन्द कौशम्बी), पृष्ठ १५ ।

शरीर को जो समाधान मिलता है, वह 'सुख' है, और उस विषय मे चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे 'एकाग्रता' कहते हैं और उस विषय से अत्यधिक परिचय होने पर उससे उत्पन्न होने वाली निर्भयता या निष्कपता को 'उपेक्षा' कहते हैं। ज्यो-ज्यो साधक का अभ्यास बढता है, त्यो-त्यो उसका विकास भी बढता रहता है। समाधि मार्ग मे गहरा उतर जाने के बाद साधक को वितर्क और विचार की आवश्यकता नही रहती। इसके बिना भी वह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। इसके आगे आनन्द के विना भी उसे सुख की अनुभूति होने लगती है। और अन्त मे जब उसमे उपेक्षा या एकाग्रता आ जाती है, तब वह पूर्णत. निर्भय एव निष्कप हो जाता है। इस अवस्था मे वितर्क, विचार, प्रीति और सुख—किसी के चिन्तन की आवश्यकता नही रहती है। यह ध्यान की चरम पराकाष्ठा है।

सुत्तपिटक मे आन-पान-स्मृति का वर्णन मिलता है। चित्त-वृत्ति को एकाग्र करने के लिए इसका उपदेश दिया गया है। इसमे बताया है कि साधक साँस ग्रहण करते एव छोडते समय पूरी सावधानी रखे, अपने चित्त को साँस लेने एव छोडने की क्रिया के साथ संलग्न करे। चित्त को स्थिर करने के लिए साधक 'अरह' शब्द पर अपने चित्त को स्थित करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि अरह शब्द पर चित्त स्थिर नही रह पाता है तो उसे गणना, अनुबन्धना, स्पर्श और स्थापना का प्रयोग करना चाहिए।

गणना का अर्थ साँस लेते और छोडते समय साँस की गणना की जाए। यह गणना न तो दस से अधिक होनी चाहिए और न पाँच से कम। यदि दस से अधिक करते रहे तो चित्त अरह के चिन्तन मे न लगकर केवल गणना मे ही लगा रहेगा और पाँच से कम करते हैं तो

---

१. विसुद्धिमग्ग।

मन डगमगा जाएगा। अत गणना के लिए पाँच और दस के बीच की सख्या लेनी चाहिए।

जब मन गणना करने मे सलग्न हो जाए, तब गणना के कार्य को छोडकर सास के अन्दर जाने एव बाहर आने के साथ चित्त भी अन्दर-बाहर आता-जाता रहे अर्थात् चित्त को श्वासोच्छ्वास के साथ जोड दे। इस प्रक्रिया को 'अनुबन्धना' कहते है।

श्वास और प्रश्वास आते-जाते समय नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करते हैं। अत उस स्थान पर चित्त को लगाना स्पर्श कहलाता है। और श्वास एव प्रश्वास पर चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया को स्थापना कहते हैं।

जब साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है, तो समझना चाहिए उसने समाधि-मार्ग मे प्रवेश कर लिया है। अब उसे चाहिए कि वह चित्त की एकाग्रता के अभ्यास को इतना दृढ कर ले कि भय, शोक एव हर्ष आदि के समय भी चित्त विभ्रान्त न हो सके।

प्रथम चौकडी मे मन को एकाग्र करने के लिए उसे गणना आदि के साथ जोडने का उपदेश दिया गया है। द्वितीय चौकडी मे चित्त को, मन को एकाग्र करने के लिए प्रीति-प्रेम को मुख्य स्थान दिया गया है। प्रस्तुत मे प्रीति का अर्थ है—निष्काम प्रेम, विश्व-बन्धुत्व की भावना। इस साधना से योगी का मन प्रीति के साथ एकाग्र हो जाता है, निष्कप बन जाता है और योगी अपनी वेदना, रोग एव दुख-दर्द आदि को भूल जाता है। तब उसे अनुपम सुख एव आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रयत्न से योगी के चित्त की गति मन्द हो जाती है, उसमे स्थिरता आ जाती है। तब वह चित्त को विमुक्त करके श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता हैं अर्थात् वह श्वासोच्छ्वास मे आसक्त नही होता है।

इस प्रक्रिया से उसे अनन्त सुख मिलता है, फिर भी वह उसमे आबद्ध नही होता है।

इस अभ्यास के पश्चात् योगी निर्वाण-मार्ग मे प्रविष्ट होता है। इसके अभ्यास के लिए वह अनित्यता का चिन्तन करता है। अनित्यता से वैराग्य का अनुभव होता है और इससे समस्त वृत्तियाँ एवं मनो-भावनाएँ विलीन हो जाती हैं और योगी निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध साहित्य मे समाधि एवं निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्व दिया गया है। तथागत बुद्ध अपने शिष्यो से कहते हैं—"हे भिक्षुओ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, सज्ञा अनित्य है, सस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है, वह दु.खप्रद है। जो दु:खप्रद है, वह अनात्मक है। जो अनात्मक है, वह मेरा नही है, वह मैं नही हूँ। इस तरह ससार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए। क्योकि 'यदनिच्चं तं दुक्ख' जो अनित्य है वह दु ख रूप है।"

जैन विचारको ने भी अनित्य भावना के चिन्तन को महत्व दिया है। भरत चक्रवर्ती ने इस अनित्य भावना के द्वारा ही चक्रवर्ती वैभव भोगते हुए केवल-ज्ञान को प्राप्त किया था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अनित्य भावना का यही स्वरूप बताया है—"इस ससार के समस्त पदार्थ अनित्य है। प्रातःकाल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न मे दिखाई नही देता और मध्याह्न मे जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि मे नजर नही आता।"[1]

ध्यान पर तुलनात्मक विचार

बौद्ध साहित्य मे योग-साधना के लिए 'ध्यान' एव 'समाधि' शब्द का

---

१. देखें योग-शास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र), प्रकाश ४, श्लोक ५७-६०.

प्रयोग किया गया है। महर्षि पतजलि ने सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित—चार प्रकार के सप्रज्ञात योग का उल्लेख किया है। जैन परम्परा मे—१ पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २ एकत्ववितर्क-अविचार, ३ सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति, ४ समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—ये शुक्ल-ध्यान के चार भेद माने हैं।

ध्यान के उक्त भेदो मे जो शब्द-साम्य परिलक्षित होता है, वह महत्वपूर्ण है। परन्तु, तीनो परम्पराओ मे तात्त्विक एव सैद्धान्तिक भेद होने के कारण ध्यान के भेदो मे शब्द-साम्य होते हुए भी अर्थ की छाया विभिन्न दिखाई देती है। इसका कारण है—दृष्टि की विभिन्नता। साख्य परम्परा प्रकृतिवादी है और बौद्ध एव जैन परम्परा परमाणुवादी है। जैन परम्परा परमाणु को द्रव्य रूप से नित्य मानकर उसमे रही हुई पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य मानती है। परन्तु, बौद्ध परम्परा किसी भी नित्य द्रव्य को नही मानती। वह सब कुछ प्रवाह रूप और अनित्य मानती है। यह तीनो परम्पराओ की तात्त्विक मान्यता की भिन्नता है। परन्तु, यदि हम स्थूल दृष्टि से न देखकर सूक्ष्म दृष्टि से तीनो परम्पराओ के अर्थ का अध्ययन करते हैं, तो उसमे भेद के साथ कुछ साम्यता भी दिखाई देती है।

योग-सूत्र मे 'वितर्क' और 'विचार' शब्द सप्रज्ञात के साथ आए हैं और आगे चलकर इनके साथ 'समापत्ति' का सम्बन्ध भी जोड दिया है। जो विचार और वितर्क सप्रज्ञात से सबद्ध हैं, उनका अनुक्रम से अर्थ है—स्थूल विषय मे एकाग्र बने हुए चित्त को, मन को होने वाला स्थूल साक्षात्कार और सूक्ष्म विषय मे एकाग्र बने हुए चित्त को होने वाला सूक्ष्म साक्षात्कार। और जब वितर्क और विचार के साथ समापत्ति का वर्णन आता है, तब स्थूल साक्षात्कार को सवितर्क और निर्वितर्क उभय रूप माना है और सूक्ष्म साक्षात्कार को सविचार और निर्विचार—दोनो प्रकार का माना है। इसका निष्कर्ष यह है कि योग-सूत्र मे 'वितर्क' और

'विचार' शब्द विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुए है। सप्रज्ञात के साथ प्रयुक्त वितर्क पद का अर्थ—स्थूल विषय का साक्षात्कार किया गया है और समापत्ति के साथ प्रयुक्त 'वितर्क' शब्द का अर्थ किया गया है—शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदाध्यास या विकल्प। इसी तरह सप्रज्ञात के साथ आए हुए विचार का अर्थ है—सूक्ष्म विषयक साक्षात्कार और समापत्ति के साथ प्रयुक्त विचार शब्द का अर्थ है—देश, काल और धर्म से अवच्छिन्न सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार।

बौद्ध परम्परा मे 'वितर्क' और 'विचार' दोनो शब्दो का प्रयोग हुआ है। उसमे वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् चित्त किसी भी आलम्बन को आधार बनाकर सर्वप्रथम उसमे प्रवेश करे, उसे 'वितर्क' कहते है और जब चित्त उसी आलम्बन मे गहराई से उतरकर उसमे एकरस हो जाता है, तब उसे 'विचार' कहते हैं। इस तरह आलम्बन मे स्थिर होने वाले चित्त की प्रथम अवस्था को 'वितर्क' और उसके बाद की अवस्था को 'विचार' कहते हैं।

जैन परम्परा मे वितर्क का अर्थ है—श्रुत या शास्त्र ज्ञान, और विचार का अर्थ है—एक विषय से दूसरे विषय मे सक्रमण करना। योग-सूत्र मे प्रयुक्त सवितर्क समापत्ति का अर्थ—विकल्प भी किया गया है। विकल्प का तात्पर्य है—शब्द, अर्थ और ज्ञान मे भेद होते हुए भी उसमे अभेद बुद्धि होती है। और निर्वितर्क समापत्ति मे ऐसी अभेद बुद्धि नही होती है, वहाँ केवल अर्थ का शुद्ध बोध होता है। प्राय ये ही भाव जैन परम्परा मे प्रयुक्त पृथक्त्व-वितर्क और एकत्व-वितर्क मे परिलक्षित होते हैं। प्रथम ध्यान मे विचार सक्रमण को अवकाश है, परन्तु द्वितीय ध्यान मे उसे स्थान नही दिया है, जबकि वितर्क को स्थान दिया गया है।

बौद्ध परम्परा द्वारा वर्णित ध्यानो मे भी यह क्रम परिलक्षित होता है। इसके प्रथम ध्यान मे वितर्क और विचार—दोनो रहते है, परन्तु

द्वितीय ध्यान मे दोनो का अस्तित्व नही रहता है। जब कि जैन परम्परा के द्वितीय ध्यान मे वितर्क का सद्भाव तो रहता है, परन्तु विचार का अस्तित्व नही रहता। और योग-सूत्र मे सवितर्क सप्रज्ञात मे वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारो अगो के अस्तित्व को स्वीकार किया है। और बौद्ध परम्परा प्रथम ध्यान मे वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता– इन पाँचो के अस्तित्व को स्वीकार करती है। योग-परम्परा द्वारा मान्य आनन्द या अहलाद और बौद्ध परम्परा द्वारा माने गए प्रीति और सुख मे अत्यधिक अर्थ-साम्य है। और ऐसा प्रतीत होता है कि योग परम्परा मे प्रयुक्त 'अस्मिता' बौद्ध परम्परा द्वारा प्रयुक्त 'एकाग्रत' के उपेक्षा रूप मे प्रयुक्त हुई है।

योग-परम्परा मे प्रयुक्त अध्यात्मप्रसाद और ऋतभरा प्रज्ञा और सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति मे प्राय अर्थ-साम्य दिखाई देता है। और जैन-परम्परा का समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति योग-परम्परा का असप्रज्ञात योग या सस्कार शेष—निर्बीज योग है, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

उक्त परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय-सस्कृति मे प्रवहमान त्रि-योग परम्पराओ—वैदिक, जैन और बौद्ध मे विभिन्न रूप मे दिखाई देने वाली व्याख्याओ मे बहुत गहरी अनुभव एकता रही हुई है। ये अलग-अलग दिखाई देने वाली कडिएँ पूर्णत पृथक् नही, प्रत्युत किसी अपेक्षा विशेष से एक-दूसरी कडी से आबद्ध—जुडी हुई भी हैं।

योग के अन्य अग

बौद्ध-साहित्य मे आर्य अष्टाग का वर्णन किया गया है। उसमे शील, समाधि और प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। शील का अर्थ है—कुशल धर्म को धारण करना, कर्तव्य मे प्रवृत्त होना और अकर्तव्य से निवृत्त

१ देखो, तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल सघवी), ९, ४१।

होना।[1] कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त और चैतसिक धर्म का एक ही आलम्बन मे सम्यक्तया स्थापन करने की प्रक्रिया का नाम 'समाधि' है।[2] कुशल चित युक्त विपश्य—विवेक ज्ञान को 'प्रज्ञा' कहा है।[3]

बौद्धो द्वारा स्वीकृत शील मे पतजलि सम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध साहित्य मे पचशील, वैदिक परम्परा मे पाँच यम और जैन परम्परा मे पाँच महाव्रतो का उल्लेख मिलता है। यम और महाव्रतो के नाम एक-से है—१. अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, और ५ अपरिग्रह। पचशील मे प्रथम चार के नाम यही है, परन्तु अपरिग्रह के स्थान मे मद्य से निवृत्त होने का उल्लेख मिलता है।

समाधि मे योग-सूत्र द्वारा मान्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है। और जैन परम्परा मे वर्णित ध्यान आदि आभ्यन्तर तप मे प्रत्याहार आदि चार अगो का, और बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य समाधि का समावेश हो जाता है। और योग-सूत्र सम्मत तप का तीसरा नियम अनशनादि बाह्य तप मे आ जाता है। और स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप और योग-सूत्र द्वारा वर्णित स्वाध्याय का अर्थ एक-सा है।

बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य प्रज्ञा और योग-सूत्र द्वारा वर्णित विवेक-ख्याति मे पर्याप्त अर्थ-साम्य है। इस तरह बौद्ध साहित्य मे वर्णित योग अन्य परम्पराओ से कही शब्द से मेल खाता है, तो कही अर्थ से और कही प्रक्रिया से मिलता है।

जैनागमों में योग

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। इसके चौबीसवे तीर्थकर भगवान्

---

१. विशुद्धिमग्ग, १, १९-२५।

२. वही, ३, २-३।

३. वही, १४, २-३।

महावीर ने साढे बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन के द्वारा योग-साधना का ही जीवन बिताया था। उनके शिष्य-शिष्या परिवार मे पचास हजार व्यक्ति—चवदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियें, ऐसे थे, जिन्होने योग-साधना मे प्रवृत्त होकर साधुत्व को स्वीकार किया था।[1]

जैन परम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमे वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समति-गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि—जो योग के मुख्य अग हैं, उनको साधु जीवन का, श्रमण-साधना का प्राण माना है।[2] वस्तुत आचार-साधना श्रमण-साधना का मूल है, प्राण है, जीवन है। आचार के अभाव मे श्रमणत्व की साधना केवल निष्प्राण ककाल एव शव रह जाएगी।

जैनागमो मे 'योग' शब्द समाधि या साधना के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ योग का अर्थ है—मन, वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति। योग शुभ और अशुभ—दो तरह का होता है। इसका निरोध करना ही श्रमण-साधना का मूल उद्देश्य है, मुख्य ध्येय है। अत जैनागमो मे साधु को आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य मे प्रवृत्ति करने की ध्रुव आज्ञा नही दी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है, तो आगम निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति देता है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा मे 'समिति-गुप्ति' कहा है, इसे अष्ट प्रवचन माता भी कहते है।[3] पाँच समिति—१ ईर्या

---

१ चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसहिं अज्जिआसाहस्सीहिं।

—उववाई सूत्र

२ आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि।

३ अट्ठ पवयणमायाओ, समिए गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्ती उ अहिया॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, २४, १

समिति, २ भाषा समिति, ३ एषणा समिति, ४. आयाण-भड-निक्षेपणा समिति, और ५. उच्चार-पासवण-खेल-जल-मैल परिठावणिया समिति, प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और त्रि-गुप्ति—मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति, निवृत्तिपरक हैं। समिति अपवाद मार्ग है और गुप्ति उत्सर्ग मार्ग है। साधु को जब भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो, तब वह मन, वचन और काय योग को अशुभ से हटाकर, विवेक एव सावधानी-पूर्वक प्रवृत्ति करे। इस निवृत्ति-प्रधान एव त्याग-निष्ठ जीवन को ध्यान में रखकर ही साधु की दैनिक चर्या का विभाग किया गया है। इसमे रात और दिन को चार-चार भागो मे विभक्त करके बताया गया है कि साधु दिन और रात के प्रथम एव अन्तिम प्रहर मे स्वाध्याय करे और द्वितीय प्रहर मे ध्यान एव आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहे। दिन के तृतीय प्रहर मे वह आहार लेने को जाए और उस लाए हुए निर्दोष आहार को समभाव पूर्वक अनासक्त भाव से खाए और रात्रि के तृतीय प्रहर मे निद्रा से निवृत्त होकर, चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय मे सलग्न हो जाए।[1] इस प्रकार दिन-रात के आठ प्रहरो मे छह प्रहर केवल स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन-मनन मे लगाने का आदेश है। सिर्फ दो प्रहर प्रवृत्ति के लिए हैं, वह भी सयम-पूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए, न कि अपनी इच्छानुसार।

श्रमण-साधना का मूल ध्येय—योगो का पूर्णत. निरोध करना है। परन्तु, इसके लिए हठयोग की साधना को विल्कुल महत्व नही दिया है। यहाँ यह नही भूलना चाहिए कि वैदिक परम्परा के योग विषयक ग्रन्थो मे भी हठयोग को अग्राह्य कहा है,[2] फिर भी वैदिक परम्परा मे हठयोग की प्रधानता वाले अनेक ग्रन्थो एव मार्गों का निर्माण हुआ है। परन्तु, जैन साहित्य मे हठयोग को कोई स्थान नही दिया है। क्योकि, हठयोग

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २६, ११-१२; १७-१८.

२ योगवासिष्ठ, ९२, ३७-३९।

से हठ पूर्वक, बल पूर्वक रोका गया मन थोडी देर के बाद जब छूटता है, तो सहसा टूटे हुए बाँध की तरह तीव्र वेग से प्रवाहित होता है और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसलिए जैन परम्परा मे योगो का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान मे समिति-गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहज योग भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब भी साधक आने-जाने, उठने-बैठने, खाने-पीने, पढने-पढाने आदि की जो भी क्रिया करे, उस समय वह अपने योगो को अन्यत्र से हटाकर उस क्रिया में केन्द्रित कर ले। वह उस समय तद्रूप वन जाए। इससे मन इतस्तत न भटक कर एक जगह केन्द्रित हो जाएगा और उसकी साधना निर्बाध गति से प्रगतिशील बनी रहेगी।

जैनागमो मे योग-साधना के अर्थ मे 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगो को आत्म-चिन्तन मे केन्द्रित करना। ध्यान मे काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ एव जिह्वा को हिलाने की भी अनुमति नही है। उसमे केवल साँस के आवागमन के अतिरिक्त कोई हरकत नही की जाती। इस तरह काय स्थिरता के साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन मे सलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ मे ध्यान एव साधना कहते हैं। एकाग्रता के अभाव मे वह साधना भाव—यथार्थ साधना नही, बल्कि द्रव्य-साधना कहलाती है। भाव-आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है—प्रत्येक साधक—भले ही वह साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जब अपना मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, उपयोग उसमे लगा देता है, उसमे प्रीति रखता है, उसकी भावना करता है और अपने मन को अन्यत्र नही जाने देता है, इस तरह जो साधक उभय काल आवश्यक—प्रतिक्रमण करता है, उसे भाव-आवश्यक' कहते हैं।[1] इसके अभाव मे किया जाने वाला

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र, श्रुताधिकार, २७।

आवश्यक 'द्रव्य-आवश्यक' कहलाता है। यही बात अन्य धर्म-साधना एवं ध्यान के लिए समझनी चाहिए।

जैनागमों मे योग-साधना के लिए प्राणायाम आदि को अनावश्यक माना है। क्योंकि, इस प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग आदि का निवारण किया जा सकता है और काल-मृत्यु के समय का परिज्ञान किया जा सकता है, परन्तु साध्य को सिद्ध नही किया जा मकता। इस प्रक्रिया से मुक्ति लाभ नही हो सकता। उसके लिए योगो को सहज भाव से केन्द्रित करना आवश्यक है और इसके लिए ध्यान-साधना उपयुक्त मानी गई है। इससे योगों मे एकाग्रता आती है, जिससे आस्रव का निरोध होता है, नए कर्मों का आगमन रुकता है और पुरातन कर्म क्षय होते हैं। तब एक समय ऐसा आता है कि साधक समस्त कर्मों का क्षय करके, योगों का निरोध करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, निर्वाण पद को पा लेता है।

जैन योग-ग्रन्थ

यह हम ऊपर बता आए हैं कि जैनागमो मे योग के स्थान मे 'ध्यान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ आगम-ग्रन्थो मे ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन किया है।[१] आगम के बाद निर्युक्ति का नम्बर आता है, उसमे भी आगम मे वर्णित ध्यान का ही स्पष्टीकरण किया है।[२] आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे ध्यान का वर्णन किया है, परन्तु उनका वर्णन आगम से भिन्न नही है।[3] उन्होने आगम एवं निर्युक्ति मे वर्णित विषय से अधिक कुछ नही कहा है। और

१. स्थानांग सूत्र, ४, १; समवायांग सूत्र, ४; भगवती सूत्र, २५,७; उत्तराध्ययन सूत्र, ३०, ३५।

२ आवश्यक निर्युक्ति, कायोत्सर्ग अध्ययन, १४६२-८६।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, ६, २७।

जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का ध्यान-शतक भी आगम की शैली मे लिखा गया है ।[1] आगम युग से लेकर यहाँ तक योग-विषयक वर्णन मे आगम-शैली की ही प्रमुखता रही है ।

परन्तु, आचार्य हरिभद्र ने परम्परा से चली आ रही वर्णन-शैली को परिस्थिति एव लोक-रुचि के अनुरूप नया मोड देकर और अभिनव परिभाषा करके जैन योग-साहित्य में अभिनव युग को जन्म दिया। उनके वनाए हुए योग-विषयक ग्रन्थ—योग-बिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योग-विंशिका, योग-शतक और षोडशक, इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं । उक्त ग्रन्थो मे आप केवल जैन परम्परा के अनुसार योग-साधना का वर्णन करके ही सन्तुष्ट नही हुए, बल्कि पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना एव उसकी विशेष परिभाषाओ के साथ जैन साधना एव परिभाषाओ की तुलना करने एव उसमें रहे हुए साम्य को बताने का प्रयत्न भी किया ।[2]

आचार्य हरिभद्र के योग विषयक मुख्य चार ग्रन्थ हैं—१ योग-बिन्दु, २. योगदृष्टि-समुच्चय, ३ योग-शतक, और ४ योग-विंशिका । षोडशक मे कुछ प्रकरण योग विषयक हैं, परन्तु इसका वर्णन उक्त चार ग्रन्थों मे ही आ जाता है । इसमे योग विषयक किसी भी नई बात का उल्लेख नही मिलता है। अत उनके योग से सम्बन्धित चार ग्रन्थ ही मुख्य हैं। इनमे प्रथम के दो ग्रन्थ सस्कृत मे हैं और

---

१ हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति, पृष्ठ ५८१ ।

२ समाधिरेष एवान्यै सप्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्यर्थ-ज्ञानतस्तथा ॥
असप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परै ।
निरुद्धाशेषवृत्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥
—योगबिन्दु, ४१८, ४२०.

अन्तिम दो ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे हैं। योग-बिन्दु मे ५२७ श्लोक है, योगदृष्टि-समुच्चय २२७ श्लोको का है। योग-शतक और योग-विंशिका मे उनके नामो के अनुरूप क्रमश १०० और २० गाथाएँ है।

१ योग-बिन्दु

प्रस्तुत ग्रन्थ मे सर्व प्रथम योग के अधिकारी का उल्लेख किया है। जो जीव चरमावर्त मे रहते हैं, अर्थात् जिसका काल मर्यादित हो गया है, जिसने मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन कर लिया है और जो शुक्लपक्षी है, वह योग-साधना का अधिकारी है। वह योग-साधना के द्वारा अनादि काल से चले आ रहे अपरिज्ञात ससार या भव-भ्रमण का अन्त कर देता है।[१] इसके विपरीत जो अचरमावर्त मे स्थित हैं, वे मोह-कर्म की प्रबलता के कारण ससार मे, विषय-वासना मे और काम-भोगो मे आसक्त बने रहते है। अत· वे योग-मार्ग के अधिकारी नही हैं। आचार्य ने उन्हे 'भवाभिनन्दी' की सज्ञा से सम्बोधित किया है।[२]

योग के अधिकारी जीवो को आचार्य ने चार भागो मे विभक्त किया है—१. अपुनर्बन्धक, २ सम्यग्दृष्टि या भिन्नग्रन्थि, ३. देशविरति, और ४. सर्वविरति—छट्ठे गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान पर्यन्त। प्रस्तुत ग्रन्थ मे उक्त चार भेदो के स्वरूप एव अनुष्ठान पर विस्तार से विचार किया गया है।

चारित्र के वर्णन मे आचार्य श्री ने पाँच योग-भूमिकाओ का वर्णन किया है—१ अध्यात्म, २ भावना, ३. ध्यान, ४. समता, और ५ वृत्तिसक्षय। यह अध्यात्म आदि योग-साधना देशविरति नामक पञ्चम गुणस्थान से ही शुरू होती है। अपुनर्बन्धक एव सम्यग्दृष्टि अवस्था मे चारित्र मोहनीय की प्रबलता रहने के कारण योग बीज रूप मे रहता है,

---

१. योग-बिन्दु, ७२, ९९

२ वही, ८५-८७

अकुरित एव पल्लवित-पुष्पित नही होता । अत योग-साधना का विकास देशविरति से माना गया है ।

१ अध्यात्म

यथाशक्य अणुव्रत या महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री, प्रमोद, करुणा एव माध्यस्थ भावना-पूर्वक आगम के अनुसार तत्त्व या आत्म-चिन्तन करना अध्यात्म-साधना है । इससे पाप-कर्म का क्षय होता है, वीर्य—सद् पुरुषार्थ का उत्कर्ष होता है और चित्त मे समाधि की प्राप्ति होती है ।

२ भावना

अध्यात्म चिन्तन का बार-बार अभ्यास करना 'भावना' है । इससे काम, क्रोध आदि मनोविकारो एव अशुभ भावों की निवृत्ति होती है और ज्ञान आदि शुभ भाव परिपुष्ट होते हैं ।

३. ध्यान

तत्त्व चिन्तन की भावना का विकास करके मन को, चित्त को किसी एक पदार्थ या द्रव्य के चिन्तन पर एकाग्र करना, स्थिर करना 'ध्यान' है । इससे चित्त स्थिर होता है और भव-परिभ्रमण के कारणो का नाश होता है ।

४ समता

ससार के प्रत्येक पदार्थ एवं सम्बन्ध पर—भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट, तटस्थ वृत्ति रखना 'समता' है । इससे अनेक लब्धियो की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होता है ।

५ वृत्ति-संक्षय

विजातीय द्रव्य से उद्भूत चित्त-वृत्तियो का जडमूल से नाश करना 'वृत्ति-सक्षय' है । इस साधना के सफल होते ही घाति-कर्म का

समूलत क्षय हो जाता है, केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति होती है और क्रमश· चारो अघाति-कर्मों का क्षय होकर निर्वाण पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा भावो का विकास करके एव उन्हे शुद्ध बनाते हुए चारित्र की तीन भूमिकाओ को पार करके चौथी समता साधना मे प्रविष्ट होता है और वहाँ क्षपक श्रेणी करता है। उसके बाद वह वृत्ति-सक्षय की साधना करता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रथम की चार भूमिकाओ का पातञ्जलि योग-सूत्र मे वर्णित सप्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम पाँचवी भूमिका का असप्रज्ञात समाधि के साथ समानता बताई है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी योग-सूत्र वृत्ति मे इस समानता को स्वीकार किया है।

आपने प्रस्तुत ग्रन्थ मे पाँच अनुष्ठानो का भी वर्णन किया है—१. विष, २. गर, ३. अनुष्ठान, ४. तद्धेतु, और ५ अमृत अनुष्ठान। इसमे प्रथम के तीन असदनुष्ठान हैं। अन्तिम के दो अनुष्ठान सदनुष्ठान हैं और योग-साधना के अधिकारी व्यक्ति को सदनुष्ठान ही होता है।

२. योगदृष्टि-समुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ मे वर्णित आध्यात्मिक विकास का क्रम परिभाषा, वर्गीकरण और शैली की अपेक्षा से योग-बिन्दु से अलग दिखाई देता है। योग-बिन्दु मे प्रयुक्त कुछ विचार इसमे शब्दान्तर से अभिव्यक्त किए गए है और कुछ विचार अभिनव भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे योग-बिन्दु मे प्रयुक्त अचरमावर्त काल—अज्ञान काल की अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्त काल—ज्ञानकाल की अवस्था को 'योग-दृष्टि' कहा है। ओघ-दृष्टि मे प्रवृत्तमान भवाभिनन्दी का वर्णन योग-बिन्दु के वर्णन-सा ही है।

इस ग्रन्थ मे योग की भूमिकाओ या योग के अधिकारियो को तीन

विभागो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भेद मे प्रारभिक अवस्था से लेकर विकास की चरम—अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओ के कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से आठ विभाग किए हैं—१ मित्रा, २ तारा, ३ वला, ४ दीप्रा, ५ स्थिता, ६ कान्ता, ७ प्रभा, और ८ परा।

ये आठ विभाग पातञ्जल योग-सूत्र मे क्रमश यम, नियम, प्रत्याहार आदि, बौद्ध परपरा के खेद, उद्वेग आदि, अष्ट पृथक्जनचित—दोष-परिहार और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्टयोग गुणो के प्रकट करने के आधार पर किए गए हैं। इसके पश्चात् उक्त आठ भूमिकाओ मे प्रवृत्तमान साधक के स्वरूप का वर्णन किया है। इसमे पहली चार भूमिकाएँ प्रारभिक अवस्था मे होती है, इनमे मिथ्यात्व का कुछ अश शेष रहता है। परन्तु, अन्तिम की चार भूमिकाओ मे मिथ्यात्व का अश नही रहता है।

द्वितीय विभाग मे योग के तीन विभाग किए हैं—१ इच्छा-योग, २ शास्त्र-योग, और ३ सामर्थ्य-योग। धर्म-साधना मे प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाले साधक मे प्रमाद के कारण जो विकल-धर्म-योग है, उसे 'इच्छा-योग' कहा है। जो धर्म-योग शास्त्र का विशिष्ट बोध कराने वाला हो या शास्त्र के अनुसार हो, उसे 'शास्त्र-योग' कहते हैं और जो धर्म योग आत्म-शक्ति के विशिष्ट विकास के कारण शास्त्र मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो, उसे 'सामर्थ्य-योग' कहते हैं।

तृतीय भेद मे योगी को चार भागो मे बाँटा है—१ गोत्र-योगी, २ कुल-योगी, ३ प्रवृत्त-चक्र-योगी, और ४ सिद्ध-योगी। इनमें गोत्र-योगी मे योग-साधना का अभाव होने के कारण वह योग का अधिकारी नही है। दूसरा और तीसरा योगी योग-साधना का अधिकारी है। और सिद्ध-योगी अपनी साधना को सिद्ध कर चुका है, अब उसे योग की आवश्यकता ही नही है। इसलिए वह भी योग-साधना का

अधिकारी नही है । इस तरह योगदृष्टि समुच्चय मे अष्टाग योग एव योग तथा योगियों के वर्गीकरण मे नवीनता है ।

योग-शतक

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय निरूपण की दृष्टि से योग-बिन्दु के अधिक निकट है । योग-बिन्दु मे वर्णित अनेक विचारो का योग-शतक मे सक्षेप से वर्णन किया है । ग्रन्थ के प्रारभ मे योग का स्वरूप दो प्रकार का बताया है—१ निश्चय, और २. व्यवहार। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का आत्मा के साथ के सम्बन्ध को 'निश्चय योग' कहा है और उक्त तीनो के कारणो—साधनो को 'व्यवहार योग' कहा है। योग-साधना के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन योग-बिन्दु की तरह किया है । चरमावर्त मे प्रवृत्तमान योग अधिकारियो का वर्णन एव अपुनर्बन्धक सम्यग्दृष्टि का वर्गीकरण योग-बिन्दु के समान ही किया है ।

साधक जिस भूमिका पर स्थित है, उससे ऊपर की भूमिकाओ पर पहुँचने के लिए उसे क्या करना चाहिए ? इसके लिए योग-शतक मे कुछ नियमो एव साधनो का वर्णन किया है । आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि साधक को साधना का विकास करने के लिए—१ अपने स्वभाव की आलोचना, लोक परम्परा के ज्ञान और शुद्ध योग के व्यापार से उचित-अनुचित प्रवृत्ति का विवेक करना चाहिए, २. अपने से अधिक गुण सम्पन्न साधक के सहवास मे रहना चाहिए, ३ ससार स्वरूप एव राग-द्वेष आदि दोषो के चिन्तन रूप आभ्यन्तर साधन और भय, शोक आदि रूप अकुशल कर्म के निवारण के लिए गुरु, तप, जप जैसे बाह्य साधनो का आश्रय ग्रहण करना चाहिए । साधना की विकसित भूमिकाओ की ओर प्रवृत्तमान साधक को उक्त साधना का आश्रय लेना चाहिए ।

अभिनव साधक को पहले श्रुत पाठ, गुरु सेवा, आगम आज्ञा, जैसे स्थूल साधन का आश्रय लेना चाहिए । और शास्त्र के अर्थ का यथार्थ

बोध हो जाने के बाद साधक को राग-द्वेष, मोह जैसे आन्तरिक दोषो को निकालने के लिए आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे यह भी बताया गया है कि चित्त मे स्थिरता लाने के लिए साधक को रागादि दोषों के विषय एव परिणामो का किस तरह चिन्तन करना चाहिए।

इतना वर्णन करने के बाद आचार्य श्री ने यह बताया है कि योग-साधना मे प्रवृत्तमान साधक को अपने सद्विचार के अनुरूप कैसा आहार करना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकार ने सर्वसपत्कारी भिक्षा के स्वरूप का वर्णन किया है। इस प्रकार चिन्तन और उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधक अशुभ कर्मों का क्षय और शुभ कर्मों का बन्ध करता है तथा क्रमश आत्म-विकास करता हुआ अबन्ध अवस्था को प्राप्त करके कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

योग-विंशिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मे केवल बीस गाथाएँ है। इसमे योग-साधना का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इसमे आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक भूमिकाओ का वर्णन नही है। परन्तु, योग-साधना की या आध्यात्मिक साधना एव विचारणा—चिन्तन की विकासशील अवस्थाओ का निरूपण है। इसमे चारित्रशील एव आचारनिष्ठ साधक को योग का अधिकारी माना है और उसकी धर्म-साधना या साधना के लिए की जाने वाली आवश्यक धर्म-क्रिया को 'योग' कहा है और उसकी पाँच भूमिकाएँ बताई हैं—१. स्थान, २ ऊर्ण, ३ अर्थ, ४ आलम्बन, और ५ अनालम्बन। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इनमे से आलम्बन और अनालम्बन की ही व्याख्या की है। प्रथम के तीन भेदो की मूल मे व्याख्या नही की गई है। परन्तु, उपाध्याय यशोविजय जी ने योग-विंशिका की टीका मे

पाँचो का अर्थ किया है।[1] और इनमे से प्रथम के दो को कर्म-योग और अन्त के तीन भेदो को ज्ञान-योग कहा है। इसके अतिरिक्त स्थान आदि पाँचो भेदो के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्ध—ये चार-चार भेद करके उनके स्वरूप और कार्य का वर्णन किया है।

ऊपर आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय दिया है। इसका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्य श्री ने अपने ग्रन्थो मे मुख्य रूप से चार बातो का उल्लेख किया है—

१. कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन अनधिकारी।
२ योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूर्व तैयारी—साधना का स्वरूप।
३ योग-साधना की योग्यता के अनुसार साधको का विभिन्न रूप से वर्गीकरण और उनके स्वरूप एव अनुष्ठान का वर्णन।
४. योग-साधना के उपाय—साधन और भेदो का वर्णन।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हरिभद्र के बाद आचार्य हेमचन्द्र का नम्बर आता है। आचार्य हेमचन्द्र विक्रम की बारहवी शताब्दी के एक प्रख्यात आचार्य हुए हैं। आप केवल जैनागम एव न्याय-दर्शन के ही प्रकाण्ड पण्डित नही थे, प्रत्युत व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलकार, काव्य, न्याय, दर्शन, योग

---

१. कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनो को स्थान कहा है। प्रत्येक क्रिया करते समय जिस सूत्र का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण, वर्ण या शब्द कहते है। सूत्र के अर्थ का बोध होना अर्थ है। बाह्य विषयो का ध्यान यह आलम्बन योग है। और रूपी द्रव्य का आलम्बन लिए बिना शुद्ध आत्मा की समाधि को अनालम्बन योग कहा है।

—योग-विंशका, टीका ३.

आदि सभी विषयो पर आपका अधिकार था और उक्त सभी विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। आपके विशाल एव गहन अध्ययन एव ज्ञान के कारण आपको 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योग पर योग-शास्त्र लिखा है। उसमे पातञ्जल योग-सूत्र मे निर्दिष्ट अष्टाग योग के क्रम से गृहस्थ जीवन एव साधु जीवन की आचार साधना का जैनागम के अनुसार वर्णन किया है। इसमे आसन, प्राणायाम आदि से सम्बन्धित बातो का भी विस्तृत वर्णन है। और आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव मे वर्णित पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो का भी उल्लेख किया है। अन्त मे आचार्य श्री ने अपने स्वानुभव के आधार पर मन के चार भेदो—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन—का वर्णन करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। निस्सन्देह योग-शास्त्र जैन तत्त्व ज्ञान, आचार एव योग-साधना का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य शुभचन्द्र

योग विषय पर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव की रचना की है। ज्ञानार्णव और योग-शास्त्र मे बहुत-सा विषय एक-सा है। ज्ञानार्णव मे सर्ग २९ से ४२ तक प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप एव भेदो का वर्णन किया है। यही वर्णन योग-शास्त्र मे पञ्चम प्रकाश से एकादश प्रकाश तक के वर्णन मे मिलता है। उभय ग्रन्थो मे वर्णित विषय ही नही, बल्कि शब्दो मे भी बहुत कुछ समानता है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियो एव परकाय आदि प्रवेश के फल का निरूपण करने के बाद दोनों आचार्यों ने प्राणायाम को साध्य सिद्धि के लिए अनावश्यक, निरुपयोगी, अहितकारक एव अनर्थकारी बताया है। ज्ञानार्णव मे २१ से २७ सर्गों मे यह बताया है कि आत्मा स्वय ज्ञान स्वरूप है। कषाय आदि दोषो ने आत्म-शक्तियो को आवृत्त कर रखा है। अतः

राग-द्वेष एव कषाय आदि दोषो का क्षय करना—मोक्ष है। इसलिए इसमे यह बताया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रिय-जय है, इन्द्रियो को जीतने का उपाय—मन की शुद्धि है, मन-शुद्धि का साधन है—राग-द्वेप को दूर करना, और उसे दूर करने का साधन है—समत्व भाव की साधना। समत्व भाव की साधना ही ध्यान या योग-साधना की मुख्य विशेषता है। यह वर्णन योग-शास्त्र मे भी शब्दश एव अर्थश एक-सा है। यह सत्य है कि अनित्य आदि बारह भावनाओ और पाँच महाव्रतो का वर्णन उभय ग्रन्थो मे एक-से शब्दो मे नही है। फिर भी वर्णन की शैली मे समानता है। उभय ग्रन्थो मे यदि कुछ अन्तर है तो वह यह है कि ज्ञानार्णव के तीसरे प्रकरण मे ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया गया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम की भूमिका पर ही योग-शास्त्र की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते है—"बुद्धिशाली एव त्याग-निष्ठ होने पर भी साधक महादु खो से भरे हुए और अत्यधिक निन्दित गहस्थाश्रम मे रहकर प्रमाद पर विजय नही पा सकता और चचल मन को वश मे नही कर सकता। अतः चित्त की शान्ति के लिए महापुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग ही करते है।" "अरे ! किसी देश और किसी काल-विशेष मे आकाश-पुष्प और गधे के सिर पर शृङ्ग का अस्तित्व मिल भी सकता है, परन्तु किसी भी काल और किसी भी देश मे गृहस्थाश्रम मे रहकर ध्यान सिद्धि को प्राप्त करना सम्भव ही नही है।" परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थ अवस्था मे ध्यान सिद्धि का निषेध नही किया है। आगमो मे भी गहस्थ जीवन मे धर्म-ध्यान की साधना को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे तो यहाँ तक कहा गया है कि किसी साधु की साधना की अपेक्षा गृहस्थ की साधना मे उत्कृष्ट हो

सकता है ।[1] अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान मे धर्म ध्यान को माना है । आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग-शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था ।

उपाध्याय यशोविजय

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी के योग-विषयक ग्रन्थो पर दृष्टि जाती है । उपाध्याय जी का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन, तर्क-कौशल और योगानुभव विस्तृत एव गभीर था । ज्ञान की विशालता के साथ उनकी दृष्टि भी विशाल एव व्यापक थी । उनका हृदय साप्रदायिक सकीर्णताओ से रहित था । वस्तुत उपाध्याय जी केवल परपराओ के पुजारी नही, बल्कि सत्योपासक थे ।

उपाध्याय यशोविजय जी ने योग पर अध्यात्मसार अध्यात्मोपनिषद् और सटीक बत्तीस बत्तीसियाँ लिखी, जिनमे जैन मान्यताओ का स्पष्ट एव रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनो के साथ जैन दर्शन की साम्यता का भी उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त गुजराती भाषी विचारको के लिए आपने गुजराती भाषा मे भी योगदृष्टि सज्झाय की रचना की ।

अध्यात्मसार ग्रन्थ मे उपाध्याय जी ने योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण मे मुख्य रूप से गीता एव पातञ्जल योग-सूत्र का उपयोग करके जैन परपरा मे प्रसिद्ध ध्यान के अनेक भेदो का उभय ग्रन्थो के साथ समन्वय किया है । उपाध्याय जी का यह समन्वयात्मक वर्णन दृष्टि तथा विचार समन्वय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण एव उपयोगी है ।

आध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ मे आपने शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध मे योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद्

---

१ सति एगेहि भिक्खूहि, गारत्था सजमुत्तरा ।

—उत्तराध्ययन, ५, २०

के वाक्यो से उद्धरण देकर जैन-दर्शन के साथ तात्विक ऐक्य या समानता दिखाई है ।

योगावतार बत्तीसी मे आपने मुख्यतया पातञ्जल योग-सूत्र मे वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने आचार्य हरिभद्र की योग-विंशिका एव षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उनमे अन्तर्निहित गूढ तत्त्वो का उद्घाटन किया है । वे इतना लिखकर ही सन्तुष्ट नही हुए, उन्होने पातञ्जल योग-सूत्र पर भी जैन-सिद्धान्त के अनुसार एक छोटी-सी वृत्ति भी लिखी है । उसमे उन्होंने अनेक स्थानो पर साख्य विचारधारा का जैन विचार-धारा के साथ मिलान भी किया और कई स्थलो पर युक्ति एव तर्क के साथ प्रतिवाद भी किया ।

उपाध्याय यशोविजय जी के ग्रन्थो का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी ने अपने वर्णन मे मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता, सूक्ष्म समन्वय शक्ति एव स्पष्टवादिता दिखाई है । अतः हम निस्सकोच भाव से यह कह सकते हैं कि उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि को पल्लवित, पुष्पित किया है, उसे आगे बढाया है ।

योगसार ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर साहित्य मे एक योगसार ग्रन्थ भी है। उसमे लेखक के नाम का उल्लेख नही है और यह भी उल्लेख नही मिलता है कि वह कब और कहाँ लिखा गया है। परन्तु उसके वर्णन, शैली एव दृष्टान्तो का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र के आधार पर किसी श्वेताम्बर आचार्य ने लिखा हो ।

यहाँ तक भारतीय परपरा मे प्रवहमान तीनो—१ वैदिक, २ जैन, और ३ बौद्ध, योग-धाराओ का अध्ययन किया है। और उनमे रही हुई दृष्टि समानता या विचार समानता को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारतीय योग-साहित्य एव योग-साधना पर सक्षेप मे, किन्तु खुलकर विचार करने के वाद अब प्रस्तुत ग्रन्थ अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र पर विस्तार से विचार करेंगे।

योग-शास्त्र

आचार्य हेमचन्द्र का गुर्जर प्रान्त के राजा सिद्धराज जयसिंह पर प्रभाव था। उसके आग्रह से आपने सिद्धहेम व्याकरण की रचना की। सिद्धराज के देहावसान के वाद कुमारपाल राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। वह भी आचार्य हेमचन्द्र का परम भक्त था। उसकी साधना करने की अभिलाषा थी और राज्य का दायित्व आने के वाद उसके सामने यह एक प्रश्न बन गया कि अव वह आध्यात्मिक साधना कैसे कर सकता है? अपनी इस इच्छा को उसने आचार्य हेमचन्द्र के सामने अभिव्यक्त किया। उसकी अभिलाषा को पूरी करने तथा उस मे आध्यात्मिक साधना की अभिरुचि पैदा करने के लिए आपने योग-शास्त्र की रचना की। और उसके निर्माण मे इस बात का पूरा ध्यान रखा कि इससे गृहस्थ भी सरलता के साथ आध्यात्मिक साधना के पथ पर गति-प्रगति कर सके। क्योकि, उन्हे अपना योग-शास्त्र एक गृहस्थ—उसमे भी राज्य के गुरुतर दायित्व को वहन करने वाले राजा के लिए बनाना था। अत प्रस्तुत योग-शास्त्र मे साधु धर्म के साथ गृहस्थ धर्म का भी विस्तार से वर्णन किया है। यह सत्य है कि गृहस्थ के आचार धर्म मे उन्होने अपनी ओर से कोई अभिनव बात नही कही है। उपासकदशाग सूत्र मे वर्णित अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत का ही वर्णन किया है। यदि इसमे उनकी अपनी कुछ विशेषता है, तो वह यह है कि श्रावक धर्म की नीव

पर ध्यान, समाधि आदि योगागो का भव्य भवन खड़ा कर दिया है और क्रमश योग-साधना का सागोपाग वर्णन किया है।

प्रथम-प्रकाश

प्रस्तुत योग-शास्त्र वारह प्रकाशो मे विभक्त है। प्रथम प्रकाश मे साधुत्व की साधना का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे तीन श्लोको मे मगलाचरण है। चतुर्थ श्लोक मे योग-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। उसके वाद श्लोक ५ से १३ तक योग-साधना से प्राप्त लब्धियो का उल्लेख किया गया है। उसके पश्चात् योग के स्वरूप एव उसके मूल-सम्यज्ञान, दर्शन एव चारित्र के स्वरूप का वर्णन किया है। चारित्र—आचार-साधना मे साधु के पाँच महाव्रतो, उनकी पच्चीस भावनाओ, पञ्च-समिति, त्रि-गुप्ति का तथा द्विविध—साधु-धर्म एव गृहस्थ-धर्म का वर्णन किया है।

द्वितीय-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारम्भ मे सम्यक्त्व-मूलक श्रावक के वारह व्रतों के नामो का उल्लेख किया है। दूसरे-तीसरे श्लोक मे सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व के स्वरूप को वताया है। श्लोक ४ से १४ तक देव और कुदेव गुरु और कुगुरु एव धर्म और कुधर्म के लक्षण को वताकर साधक को यह सकेत किया है कि उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करके सच्चे देव, गुरु और धर्म की उपासना करनी चाहिए। १५ से १७ तक तीन श्लोकों मे सम्यक्त्व के लक्षण, उसके भूषण एव दूषणो का वर्णन किया है। श्लोक १८ से ११५ तक पांच अणुव्रतो के स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद एव उनके गुण-दोषो का विस्तार से वर्णन किया है। इसमे यह स्पष्ट रूप से वताया है कि श्रावक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का कैसे पालन करना चाहिए। उसका खान-पान

कितना सादा, सात्विक एव निर्दोष होना चाहिए तथा आचार-निष्ठ श्रावक के जीवन मे कितना सन्तोष होना चाहिए।

तृतीय-प्रकाश

तृतीय-प्रकाश के ११८ श्लोको मे तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रतो का वर्णन किया है और उनके भेद-प्रभेद एव व्रतो की शुद्धि को बनाए रखने के लिए उसके दोषो का विस्तार से वर्णन किया है तथा बारह व्रतो के अतिचारो का भी उल्लेख किया है, जिससे साधक अतिचारो का परित्याग करके निर्दोष व्रतो का परिपालन कर सके। इसके पश्चात् श्रावक के स्वरूप, उसकी दिनचर्या, साधना के स्वरूप एव साधना के फल का वर्णन किया है। इस तरह द्वितीय एव तृतीय प्रकाश के करीब २७० श्लोको मे गृहस्थ धर्म एव साधना का सागोपाग वर्णन किया है।

चतुर्थ-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश के प्रारभ मे रत्न-त्रय—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध बताया है। द्वितीय श्लोक मे इस अभेद सम्बन्ध का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों कहा गया है कि—"जो योगी अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा मे जानता है, वही उसका चारित्र है, वही उसका ज्ञान है और वही उसका दर्शन है।" इस तरह आचार्य श्री ने साधना के लिए आत्म-ज्ञान के महत्व को स्वीकार किया है।

राग-द्वेष एव कषायो की प्रबलता के कारण आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जान नही पाता है। अत कषायो के आवरण को अनावृत्त करने के लिए कषाय एव राग-द्वेष के स्वरूप, राग-द्वेष की दुर्जयता एव इन्द्रिय, कषाय तथा राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के मार्ग का वर्णन किया है। राग-द्वेष का क्षय करने के लिए समभाव की साधना आवश्यक है और उसके लिए अनित्य आदि भावनाएँ भी सहायक होती है। इसलिए

समभाव के महत्व, उसकी साधना, बारह भावनाओ के स्वरूप, उसकी विधि एव उसके फल का वर्णन किया है। उसके आगे ध्यान के महत्त्व एव ध्यान को परिपुष्ट करने वाली मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भावना का भी वर्णन किया है।

ध्यान मे स्थिरता एव एकाग्रता लाने के लिए आसन एक उपयोगी साधन है। अत आचार्य श्री ने विविध आसनो का एव उनके स्वरूप का उल्लेख किया है। परन्तु, किसी आसन विशेष पर ज्यादा जोर नही दिया है। आसनो के सम्बन्ध मे उनका यह सकेत महत्त्वपूर्ण है कि—"जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप मे प्रयोग करना चाहिए।"

पञ्चम-प्रकाश

पातञ्जल योग-सूत्र मे प्राणायाम को योग का चतुर्थ अग माना है और उसे मुक्ति-साधना के लिए उपयोगी माना है। परन्तु, जैन विचारक मोक्ष-साधना के साधन रूप ध्यान मे इसे सहायक नही मानते। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसे मोक्ष-साधना के लिए उपयोगी नही माना है। उन्होने साधक के लिए प्राणायाम या हठयोग की साधना का स्पष्ट शब्दो मे निषेध किया है।[1] इससे मन का कुछ देर के लिए निरोध हो जाता है, परन्तु उसमे एकाग्रता एव स्थिरता नही आती। और इस प्रक्रिया से मन मे शान्ति का प्रादुर्भाव नही होता, बल्कि सक्लेश उत्पन्न होता है।

योग-साधना के लिए प्राणायाम को निरुपयोगी बताने पर भी उसका प्रस्तुत ग्रन्थ मे विस्तार से वर्णन किया है। २७३ श्लोको मे

---

१ तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्यं प्राणायामै कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित-विप्लवः।
—योग-शास्त्र, ६, ४

प्राणायाम के स्वरूप, उसके भेदो एव उससे मिलने वाले शुभाशुभ फल तथा उसके माध्यम से होने वाले काल-ज्ञान का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम से होने वाले अनेक चमत्कारो एव परकाय प्रवेश जैसे क्लेशकारी साधनो का तथा उससे मिलने वाले फल का भी वर्णन किया है।

षष्ठ प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश मे परकाय-प्रवेश को अपारमार्थिक एव अहितकर बताया है और प्राणायाम की प्रक्रिया को साध्य सिद्धि के लिए अनुपयोगी बताकर उसका भी निषेध किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्याहार और धारणा के स्वरूप, उसके भेद एव फल का वर्णन किया है।

सप्तम-प्रकाश

इसमे ध्यान के स्वरूप, ध्याता की योग्यता, ध्येय का स्वरूप और धारणाओ के भेदो का तथा धर्म-ध्यान के चार भेदो—१ पिण्डस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, और ४ रूपातीत ध्यान का और उसमे पिण्डस्थ ध्यान के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

अष्टम-प्रकाश

इसमे पदस्थ ध्यान के स्वरूप, उसके फल, ध्यान के भेद, विभिन्न मत्र एव विद्याओ का वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रकाश मे आचार्य हेमचन्द्र ने लौकिक एव लोकोत्तर कार्यों की सिद्धि के लिए तथा साध्य को सिद्ध करने के लिए अनेक मत्रो का तथा उसकी साधना का विस्तार से वर्णन किया है।

नवम-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश मे रूपस्थ ध्यान के स्वरूप एव उसके फल का विस्तार से वर्णन किया है।

दशम-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश मे रूपातीत-ध्यान के स्वरूप, ध्यान के क्रम एव उसके फल का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त धर्म-ध्यान के प्रकारान्तर से चार भेदो—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, सस्थान-विचय, उसके स्वरूप एव उससे मिलने वाले आत्मिक आनन्द एव पारलौकिक फल का भी वर्णन किया है।

एकादश-प्रकाश

प्रस्तुत प्रकाश मे शुक्ल-ध्यान का वर्णन है। इसमे शुक्ल-ध्यान के स्वरूप, उसके अधिकारी, उसके भेद एव भेदो के स्वरूप, त्रि-योग—१ मन, २ वचन, और ३ काय योग की अपेक्षा से शुक्ल-ध्यान के विभाग का विस्तार से वर्णन किया है तथा सयोगी एव अयोगी अवस्था मे किए जाने वाले शुक्ल-ध्यान का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त शुक्ल-ध्यान के स्वामी एवं उसके फल का भी निर्देश किया है।

शुक्ल-ध्यान का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य श्री ने घाति-कर्म एव उसके नाश से मिलने वाले फल का वर्णन किया है और तीर्थ कर एव सामान्य केवली मे रहे हुए अतिशयो आदि के अन्तर को बताया है। इसमे तीर्थंकर भगवान् के चौंतीस अतिशयो का भी वर्णन है। अन्त मे केवली किस अवस्था मे समुद्घात करते है, इसका वर्णन करके योग निरोध करने की प्रक्रिया का तथा उससे प्राप्त होने वाले निर्वाण पद एव मुक्त पुरुष—सिद्धो के स्वरूप का वर्णन किया है।

द्वादश प्रकाश

पीछले ग्यारह प्रकाशो मे आगम एव गुरु के उपदेश के आधार पर योग-साधना का वर्णन किया है। परन्तु, प्रस्तुत प्रकाश मे आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अनुभव के प्रकाश मे योग-साधना का निरूपण किया है। इसमे उन्होने मन के—१ विक्षिप्त मन, २. यातायात मन,

३ श्लिष्ट मन, और ४ सुलीन मन—चार भेद करके वर्णन मे नवीनता एव शैली मे चमत्कार लाने का प्रयत्न किया है।

इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप, सिद्धि प्राप्त करने के साधन, गुरु सेवा के महत्व एव उसके फल तथा दृष्टि, इन्द्रिय एव मन पर विजय प्राप्त करने के साधनो का वर्णन किया है। इसके पश्चात् भव्य जीवो को उपदेश देकर शान्ति एव आत्म-साधना के रहस्य को समझाया है।

अन्त मे ग्रन्थकार ने योग-शास्त्र रचने के उद्देश्य का भी उल्लेख कर दिया है। इसमें उन्होने बताया है कि राजा कुमारपाल की प्रार्थना पर मैंने योग-शास्त्र का निर्माण किया है।

योग-विषयक साहित्य का एव प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद हम नि सन्देह कह सकते हैं कि भारत मे योग का अत्यधिक महत्व रहा है। और मध्य युग मे लौकिक कार्यों को सिद्ध करने के लिए भी योग का सहारा लिया जाता रहा है। और अनेक मत्र एव विद्याओ की साधना की जाती रही है।

भारत मे योग का क्या महत्त्व था और किस परपरा मे वह किस रूप मे आया एव विकसित हुआ ? इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमने योग-शास्त्र का गहराई से परिशीलन किया और वह पाठको के सामने प्रस्तुत है। प्रस्तुत निबन्ध मे हमने भारतीय योग-साधना एव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है और तीनो विचार-धाराओ मे रहे हुए साम्य को भी दिखाने का प्रयत्न किया है, जिससे योग-शास्त्र के जिज्ञासु पाठको को समग्र भारतीय योग-साहित्य का सहज ही परिचय मिल जाए।

जैन परम्परा निवृत्ति-प्रधान है। इसलिए जैन विचारको ने योग-साधना पर विशेष जोर दिया है। और आचार-साधना मे योग को

महत्व दिया है—भले ही वह आचार श्रमण-साधना का हो या श्रमणोपासक—गृहस्थ की उपासना का। साधु एव गृहस्थ दोनो के आध्यात्मिक विकास करने एव साध्य तक पहुँचने के लिए योग को उपयोगी माना है। ज्ञान के साथ साधना के महत्त्व को स्पष्टत स्वीकार किया है। ज्ञान और योग—आचार या क्रिया की समन्वित साधना के विना मोक्ष की प्राप्ति होना कठिन ही नही, असभव है, अशक्य है।

जैन परपरा मे योग-साधना पर सस्कृत एव प्राकृत मे बहुत कुछ लिखा गया है। आगमो मे योग पर अनेक स्थलो पर विचार बिखरे पडे हैं। आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग एव भगवती सूत्र मे अनेक स्थानो पर योग का वर्णन मिलता है। जैन आगम-साहित्य मे साधना के अर्थ मे योग के स्थान मे 'ध्यान' शब्द का प्रयोग किया है।

आगमो के बाद नियुक्ति, चूर्णि एव भाष्यो मे भी आगम-सम्मत योग-साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है। आवश्यक नियुक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक वृत्ति मे भी ध्यान के स्वरूप, उसके भेदो एव उसकी साधना का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रन्थो मे भी योग का वर्णन मिलता है।

जैन परंपरा मे योग-साधना पर क्रम-बद्ध साहित्य सृजन करने का श्रेय आचार्य हरिभद्र को है। योग-साहित्य पर सर्व-प्रथम उन्होने लेखनी चलाई। उनके बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर अनेक आचार्यों एव विचारको ने योग पर साहित्य लिखा और कई विचारको ने वैदिक एव बौद्ध परपरा की योग प्रक्रिया का जैन परपरा के साथ समन्वय करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुत देखा जाए तो इस विषय मे समन्वयात्मक शैली के जन्मदाता भी आचार्य हरिभद्र ही थे।

प्रस्तुत निबन्ध मे योग-साहित्य का पूरा परिचय तो नही दिया जा सकता। प्रस्तुत मे सक्षिप्त परिचय ही दिया जा सकता है। अत·

यहाँ पर पूरे साहित्य का परिचय न देकर, कुछ प्रमुख ग्रन्थो का ही उल्लेख कर रहे हैं ।

	ग्रन्थ	लेखक	समय
१	आचाराग सूत्र	आर्य सुधर्मा	
२	सूत्रकृताग सूत्र	,,	
३	भगवती सूत्र	,,	
४	अनुयोगद्वार सूत्र	,,	
५	स्थानाग सूत्र	,,	
६	ध्यान-शतक	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	
७	समयसार	आचार्य कुन्दकुन्द	
८	प्रवचन सार	,, ,,	
९	योग-बिन्दु	आचार्य हरिभद्र	७-८ वीं
१०.	योगदृष्टि-समुच्चय	,, ,,	,,
११	योगशतक	,, ,,	,,
१२	योगविंशिका	,, ,,	,,
१३	ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचन्द्र	११ वीं
१४	योगशास्त्र	आचार्य हेमचद्र	१२ वीं
१५	अध्यात्मसार	उपाध्याय यशोविजय	१८ वी
१६	अध्यात्मोपनिषद्	,, ,,	,,
१७	योगावतार बतीसी	,, ,,	,,
१८	पातञ्जल योग-सूत्र (वृत्ति)	,, ,,	,,
१९	योगविंशिका (टीका)	,, ,,	,,
२०	योगदृष्टि नी सज्झाय (गुज०)	,, ,,	,,

वर्तमान युग मे भी विचारको ने योग पर गहन चिन्तन-मनन किया है, लेखनी चलाई है। यह सत्य है कि आधुनिक जैन विचारको ने योग पर किसी स्वतत्र एव मौलिक ग्रन्थ की रचना नही की, परन्तु पुरातन ग्रन्थो का आधुनिक ढग से सम्पादन एव अनुवाद अवश्य किया है। और उनका यह कार्य भी इतना महत्वपूर्ण है कि उसके अध्ययन से योग-साधना के प्रारम्भ से लेकर अब तक के विकास का सागोपाग परिचय मिल जाता है। अत यहाँ हम कुछ आधुनिक सम्पादको एवं अनुवादको द्वारा सम्पादित एव अनुवादित ग्रन्थों का नाम निर्देश कर रहे है, जिससे पाठक उनसे लाभ उठा सकें।

	ग्रन्थ	लेखक	सम्पादक
१	योग-विंशिका	आचार्य हरिभद्र	डा० सुखलाल सघवी
२.	योगदृष्टि-समुच्चय (गुज०)	,,	डा० भगवानदास मेहता
३	योग-शतक (,,)	,,	डा० इन्दुकला बहिन
४	योग-शास्त्र (,,)	आचार्य हेमचन्द्र	गोपालदास जीवाभाई पटेल
५	,, (हिन्दी)	,,	मुनि समदर्शी प्रभाकर

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशु. शितः ।
अमूलमन्त्र-तन्त्रं च कार्मण निर्वृत्तिश्रिय ॥

भूयासोऽपि पाप्मान., प्रलय यान्ति योगत ।
चण्डवाताद् घनघना, घनाघनघटा इव ॥

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि ।
तदेव तस्य चारित्र तज्ज्ञानं तच्चदर्शनम् ॥

सत्या हि मनस शुद्धौ सन्त्यसन्तोऽपि यद्गुणा. ।
सन्तोऽप्यसत्या नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्ततः ॥

मुनि श्री मांगीलाल जी म०

जन्म	दीक्षा	स्वर्गवास
१९८७	१९९४	२०१३

जीवन रेखा

परम श्रद्धेय मुनि श्री मागीलालजी म०[1] का जन्म वि० स० १९४० भाद्रपद शुक्ला दशमी को राजस्थान की किशनगढ स्टेट के दादिया गाँव मे हुआ था। श्री हजारीमल जी तातेड आपके पूज्य पिता थे और श्रीमती पुष्पादेवी आपकी माता थी। आप तीन भाई थे—१. श्री जवाहर सिह जी, २. श्री मोतीलाल जी, और ३ रघुनाथसिह जी। आप सबसे छोटे थे। जन्म के कुछ दिन बाद आपको मागीलाल के नाम से पुकारने लगे और अन्त तक आप इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। सयम स्वीकार करने के बाद भी आपका नाम मुनि श्री मागीलालजी महाराज ही रहा।

बाल्य-काल

बाल्य-काल जीवन का सुखद एव सुहावना समय होता है। यह जीवन का स्वर्णिम काल होता है। इस समय मनुष्य दुनिया की समस्त चिन्ताओ एव परेशानियो से मुक्त होता है और विषय-विकारो से भी कोसो दूर होता है। परन्तु, इस सुहावने समय मे आपको अपने पूज्य पिता श्री का वियोग सहना पडा। यह सौभाग्य की बात है कि माता के अगाध स्नेह एव प्यार दुलार मे आपका जीवन विकसित होता रहा। चौंतीस वर्ष की अवस्था तक आपको माता श्री का सान्निध्य बना रहा, प्यार-दुलार मिलता रहा।

---

१. मेरे (लेखिका के) पूज्य-पिताजी हैं।

आपका ननिहाल नसीराबाद छावनी के निकट वाण्या गाँव मे था और वही के प्रसिद्ध व्यापारी श्री हजारीमल जी की सुपुत्री अनुपम कुमारी के साथ आपका विवाह हुआ। और जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। जवानी जीवन के उत्थान-पतन का समय है। इस समय शक्ति का विकास होता है। यदि इस समय मानव को पथ-प्रदर्शन एव सहयोग अच्छा मिल जाए और सगी-साथी योग्य मिल जाएँ तो वह अपने जीवन को विकास की ओर ले जा सकता है और यदि उसे बुरे साथियो का सपर्क मिल जाए, तो वह अपना पतन भी कर सकता है। वस्तुत यौवन—जीवन की एक अनुपम शक्ति है, ताकत है। इसका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का जीवन अपने लिए, धर्म, समाज, प्रान्त एव राष्ट्र के लिए हितप्रद बन सकता है, और इसका दुरुपयोग करने पर वह सबके लिए विनाश का कारण भी बन सकता है। यह जीवन का एक सुनहरा पृष्ठ है, जिसमे मानव अपने आप को अच्छा या बुरा जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

आपका जीवन प्रारभ से ही सस्कारित था। बाल्य-काल मे मिले हुए सुसस्कारो का विकास होता रहा है। और आप प्राय साधु-सन्यासियो के सपर्क मे आते रहते थे। इसका ही यह मधुर परिणाम है कि आगे चलकर आप एक महान् साधक बने और अपने जीवन का सही दिशा मे विकास किया। आपके जीवन मे अनेक गुण विद्यमान थे। परन्तु सरलता, स्नेहशीलता, दयालुता एव न्यायप्रियता आपके जीवन के कण-कण मे समा चुकी थी। आपके जीवन की यह विशेपता थी कि आप कभी किसी के दु ख को देख नही सकते थे। आप सदा-सर्वदा दूसरे के दु ख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

सेवा-निष्ठ जीवन

वि० स० १९७४ मे प्लेग की भयकर बीमारी फैल गई। जन-मानस आतक की उत्ताल तरगो से आन्दोलित एव विचलित हो उठा।

देखते ही देखते सबके स्वजन-परिजन काल के गाल मे समाने लगे और लोग अपने परिवार के साथियो का मोह त्यागकर अपने प्राण बचाने का प्रयन्त करने लगे। गाँव खाली होने लगा, और घरो मे लाशो के ढेर लगने लगे। उन्हे श्मशान भूमि तक ले जाकर दाह सस्कार करने वाले मिलने कठिन हो रहे थे। चारो तरफ त्राहि-त्राहि मच गई। मेरे पिताजी के परिवार के सदस्य भी महामारी की चपेट मे आ गए थे और ८ दिन मे परिवार के २३ सदस्य सदा के लिए इस लोक से विदा हो चुके थे। घर मे सन्नाटा छाया हुआ था। चारो तरफ कुहराम मच रहा था। ऐसे विकट एव दुखद समय मे भी आपके धैर्य का बाँध नही टूटा। आप दिन-रात जन-सेवा मे लगे रहे। लोगो के लिए दवा की व्यवस्था करना और जिस परिवार मे मृत व्यक्ति को कोई कधा देने वाला नही रहता, उस लाश को उठाकर उसे श्मशान मे ले जाकर दाह-सस्कार कर देना। इस तरह आपने हृदय से बीमारो की सेवा की और साहस के साथ महामारी का सामना किया।

प्लेग के कारण बहुत-से लोग मर गए और बहुत-से लोग अपने जीवन को बचाने के लिए गाँव छोडकर जगलो मे चले गए और वही झोपडियाँ बनाकर रहने लगे। परन्तु परिवार मे सदस्यो की कमी हो जाने तथा बीमारी के कारण शक्ति क्षीण हो जाने से उनमे खेती करने की शक्ति कम रह गई और अर्थभाव भी उनके सामने मुँह फाडे खडा था। अन्न की समस्या बिकट हो रही थी। लोगो को खाने के लिए रोटी नही मिल रही थी। लोग वृक्षो की छाले पीसकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाते या झाडियो के बेर खाकर ही सन्तोष करते थे। अन्त मे विवश होकर लोग अपने राजा के पास पहुँचे और उनसे सहायता माँगी। उस समय मेरे पिताजी राज-दरबार मे कामदार थे। उन्होने भी जनता का साथ दिया और राजा से अन्न-सकट को दूर करने का प्रयत्न करने की प्रार्थना की। किन्तु, जनता की प्रार्थना राजा के कर्ण कुहरो से

टकराकर अनन्त आकाश मे विलीन हो गई। दुर्भाग्य से, वह राजा के हृदय मे नही पहुँच पाई। उस करुण दृश्य को देखकर भी राजा का वज्र हृदय नही पसीजा। उसन स्पष्ट शब्दो मे सहायता देने से इन्कार कर दिया। जन-मन भय से काँप उठा। लोगो की आँखो से अविरल अश्रु धारा बहने लगी।

इस समय आप शान्त नही रह सके। आवेश मे उठ खडे हुए और राजा से दो हाथ करने को तैयार हो गए। इस समय जनता का उन्हें सहयोग प्राप्त था। परिणाम यह हुआ कि राजा को सिंहासन से हटा दिया गया और उनके पुत्र को राजगद्दी पर बैठा दिया। परन्तु, उन्हे इतने मात्र से सन्तोष नही हुआ। वे स्वय भी कुछ करना चाहते थे। अत वहाँ से घर पहुँचते ही उन्होने अपनी जमीन और जेवर आदि बेचकर जनता के अन्न सकट को दूर करने का प्रयत्न किया। और उनकी सेवा-निष्ठा एव उनके सद्प्रयत्नो के फलस्वरूप जनता की स्थिति मे सुधार हुआ। लोग अपना कार्य करने एव जीवन निर्वाह करने मे समर्थ हो गए और महामारी भी समाप्त हो गई। चारो ओर शान्ति की सरिता प्रवहमान होने लगी। गाँव मे फिर से चहल-पहल शुरू हो गई। परन्तु, राजा के दुर्व्यवहार से आपके मन मे राज-दरबार के प्रति घृणा हो गई थी। अत आपने इस राज्य मे काम नही करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।

जीवन का नया मोड

आपके ज्येष्ठ भ्राता उन दिनों इन्दौर मे रहते थे। सरकारी कार्य-कर्त्ता होने के कारण सारा परिवार सनातन—वैदिक धर्म मे विश्वास रखता था। जैनधर्म से उनका कोई परिचय नही था। परन्तु, उन दिनो इन्दौर मे जैन सन्तो का चातुर्मास था और एक मुनि जी ने चार महीने का व्रत ग्रहण कर लिया। वे सिर्फ गर्म पानी ही लेते थे। आपके भ्राता जी उनकी सेवा मे पहुँचे और जैन मुनियो के त्याग-निष्ठ जीवन

से प्रभावित हुए। उन्होने एक दिन मुनिजी को आहार के लिए निमत्रण दिया। क्योकि, वे जैन मुनियो के आचार-विचार से परिचित थे नही। उन्हे यह भी पता नही था कि जैन मुनि किसी का निमत्रण स्वीकार नही करते और न अपने लिए तैयार किया गया विशेष भोजन ही स्वीकार करते हैं। अत. मुनि जी ने यही कहा कि यथासमय जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होगा देखा जाएगा। परन्तु, भाग्य की बात है कि सन्त घूमते-घूमते उसी गली मे आ पहुंचे और उनके घर मे प्रविष्ट हो गए। जब आपके बडे भाई ने मुनिजी को अपने घर मे प्रविष्ट होते देखा तो उनका रोम-रोम हर्ष से विकसित हो उठा, उनका मन प्रसन्नता से नाच उठा। वे अपने आसन से उठे और सन्तो के सामने जा पहुंचे उन्हे भक्ति पूर्वक वन्दन किया। मुनि जी ने घर मे प्रवेश किया और उनके चरण भोजनशाला—रसोई घर की ओर बढने लगे। वहाँ पहुंचकर मुनि जी ने निर्दोष आहार ग्रहण किया और वहाँ से चल पडे। परन्तु उनके वहाँ से चलते ही रसोई घर मे केशर ही केशर बिखर गई। इस दृश्य को देखकर उनके मन मे जैन-धर्म एव जैन सन्तो के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारा परिवार जैन बन गया।

उन दिनो मेरे पिताजी किशनगढ रहते थे। जब वे अपने बडे भाई से मिलने को इन्दौर गए और वहाँ जाकर यह सुना कि इन्होने जैनधर्म स्वीकार कर लिया है, तो उन्हे आवेश आ गया। और वे अपने बडे भाई को बहुत-कुछ खरी-खोटी सुनाने लगे। परन्तु बडे भाई शान्त स्वभाव के थे। उन्होने उन्हे शान्त करने का प्रयत्न किया। उन्हे जैन-धर्म एव सन्तो की विशेषता का परिचय दिया। परन्तु, इससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। वे स्वय चमत्कार देखना चाहते थे। अत. सन्तों के सम्पर्क मे आते रहे और नवकार मन्त्र की साधना करते रहे। उनके जीवन मे यह एक विशेषता थी कि वे श्रद्धा मे पक्के थे। उन्हे कोई भी व्यक्ति अपने पथ से, ध्येय से विचलित नही कर सकता था। वे जब

साधना मे सलग्न होते, तब और सब कुछ भूल जाते थे। यहाँ तक कि उन्हे अपने शरीर की भी चिन्ता नही रहती थी। एक दिन उन्होंने अपने रुई के गोदाम मे आग लगादी और स्वय वही अपने ध्यान मे मस्त हो गए। चारो ओर हल्ला मच गया। परन्तु, वे विचलित नही हुए। जब लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि आग उनके शरीर को छू ही नही पाई। उनके निकट मे पाँच-पाँच गज तक की रुई सुरक्षित थी। इस घटना ने उनके जीवन को बदल दिया। अब वे जैन-धर्म पर पूरा विश्वास रखने लगे, श्रद्धा मे दृढता आ गई।

आप श्रद्धा-निष्ठ एव साहसी व्यक्ति थे। घोर सकट के समय भी घबराते नही थे। एक बार आप किसी कार्यवश ऊँट पर जा रहे थे। जगल मे चलते-चलते ऊँट विक्षिप्त हो गया और आपके प्राण सकट मे पड गए। परन्तु, इस समय भी आप घबराए नही। आपने साहस के साथ एक वृक्ष की टहनी को पकडा और उस पर चढ गए। ऊँट भी उस वृक्ष के चारो ओर चक्कर काटता रहा, परन्तु उनका कुछ नही बिगाड सका। उन्हें निरन्तर ६ दिन तक वृक्ष पर ही रहना पडा, क्योकि भयानक जगल होने के कारण उस रास्ते से लोगो का आवागमन कम ही था। फिर भी आपने नमस्कार मत्र का स्मरण किया और साहस पूर्वक वृक्ष से नीचे उतरे और ऊँट पर काबू पाया। इस तरह आपको धर्म पर अटूट श्रद्धा-निष्ठा थी।

परिस्थितियो का परिवर्तन

समय परिवर्तनशील है। वह सदा-सर्वदा एक-सा नही रहता। धूप-छाया की तरह परिवर्तित होता रहता है। कभी राजा को रक बना देता है, तो कभी दर-दर की खाक छानने वाले भिखारी को छत्रपति बना देता है। मनुष्य सोचता कुछ है और परिस्थितियाँ कुछ और ही बना देती है। वह सभल ही नही पाता कि जीवन करवटें बदलने लगता

है और नई-नई समस्याएँ उसके सम्मुख आ खडी होती है। पूज्य पिता श्री का समय आनन्द से बीत रहा था, परन्तु एकाएक परिस्थितियाँ बदलने लगी और उन्हे अपने जीवन मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा।

प्लेग के समय घर की बहुत-सी पूँजी जन सेवा मे खर्च हो गई थी। घर का जेवर एव जमीन आदि भी बेच दी गई थी। इससे उनकी भाभी जी काफी नाराज रहती थी और अपनी देवरानी (मेरी माता जी) पर ताने एव व्यग कसती रहती थी। माताजी शान्त स्वभाव की थी। वह सब कुछ सहन कर लेती थी। वह पिताजी के उग्र स्वभाव से परिचित थी, अत उन्होने उनके सामने इस बात का कभी जिक्र तक नही किया, परन्तु एक दिन एक पडौसिन ने मेरे पिताजी को सारी घटना कह सुनाई। यह सुनते ही पिताजी को आवेश आ गया और वे आवेश मे ही घर से चल पडे। उन्होने घर से कोई वस्तु साथ नही ली। माता जी को साथ लेकर वे घर से खाली हाथ अहमदाबाद की ओर रवाना हो गए और किसी तरह अहमदाबाद आ पहुँचे।

अहमदाबाद मे उनका किसी से कोई परिचय नही था और न पास मे पैसा ही था कि कोई काम शुरू किया जाए। परन्तु अचानक उन्हे एक परिचित छीपा – कपडे छापने वाला मिल गया। उससे चार आने उधार लिए और दाल-सेव का खोमचा लगाकर अपना काम शुरू किया। उसके बाद एक अस्पताल मे कम्पाउडर का काम करने लगे। दिन मे अस्पताल मे काम करते, शाम को दाल-सेव बेचते और रात को खान (Minc) पर पहरा देते। इस तरह दिन-रात कठोर परिश्रम करके उन्होने ११००० रुपए कमाए। अपने श्रम से अपने भाग्य को नया मोड देने लगे।

परन्तु, दुर्भाग्य ने अभी भी उनका पीछा नही छोडा। एक दिन

पहरा देते समय असावधानी के कारण वे खान (Mine) मे गिर पड़े और अपने हाथ की नगी तलवार से उनके पैर मे गहरा घाव पड गया। उन्हे अस्पताल मे दाखिल कर दिया। उस समय माताजी गर्भवती थी। अत उन्हे किशनगढ भेज दिया और १०-१२ दिन बाद मेरा जन्म हुआ और जन्म के सात दिन बाद ही माताजी का देहान्त हो गया। अभी तक पिताजी के अपने एव भाइयो के २३ पुत्रो के वियोग के आँसू सूख ही नहीं पाए थे कि उन पर यह वज्रपात हो गया। इस समय चार व्यक्ति उन्हे अहमदाबाद के अस्पताल से लेकर घर पर आए। वहाँ पर आते ही देखा तो घर का ताला टूटा हुआ था और रात-दिन खून-पसीना एक-करके जो पैसा कमाया था, वह सब चोर ले गए थे। उनके पास कुछ भी नही बचा था। खैर, एक व्यक्ति से पचास रुपए उधार लेकर वे किशनगढ पहुचे। परन्तु जब तक वे पहुँचे, तब तक माताजी का अग्नि-स कार हो चुका था।

सन्तोषमय जीवन

मेरी माताजी के देहान्त के बाद परिजनो ने उन्हे दूसरा विवाह करने के लिए बहुत जोर दिया। परन्तु वे अब पुनर्विवाह करने के पक्ष मे नही थे। वे अपना जीवन शान्ति एव स्वतत्रता के साथ बिताना चाहते थे। अत उन्होने विवाह करने से इन्कार कर दिया और सीधा-सादा एव त्याग-निष्ठ जीवन बिताने लगे। उन्होंने दूध, दही, घी, तैल, मिष्ठान, नमक और सब्जी आदि के त्याग कर दिए। आपने सात वर्ष तक बिना नमक-मिर्च की उडद की दाल और जौ की रूखी रोटी खाई। गृहस्थ जीवन मे भी आप त्याग-विराग के साथ रहने लगे। आपने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली थी।

अपूर्व साहस

जब मैं पाँच वर्ष की थी, तब मेरे पिताजी एक दिन मुझे ननिहाल ले जा रहे थे। रास्ते मे एक दिन के लिए मौसीजी के घर पर ठहरे।

वहाँ से मेरा ननिहाल दो मील था। अत रात को बहुत जल्दी उठकर चल पडे। वे मुझे गोद मे उठाए हुए तेजी से कदम बढा रहे थे। पहाडी रास्ता था और पगडण्डी के रास्ते से चल रहे थे। दुर्भाग्यवश रास्ता भूल गए और घने जगल मे भटक गए। फिर भी वे साहस के साथ बढ रहे थे कि एक झाडी में से शेर निकल आए। शेरो को देखते ही उन्होने मुझे घास के गट्ठर की तरह जमीन पर एक ओर फेंक दिया और म्यान मे से तलवार निकालकर शेरो पर टूट पडे। मेरे बदन मे काफी चोट लगी, फिर भी मैं भय के कारण सहम गई और शेरो के साथ चलने वाले उनके सघर्ष को देखती रही। कई घटो तक उनमे और शेरो मे युद्ध चलता रहा। आखिर, उन्होने साहस के साथ शेरो पर विजय प्राप्त की। एक-दो शेर मर गए और एक-दो अत्यधिक घायल होकर झाडियो मे जा छिपे। पिता जी का शरीर भी काफी क्षित-विक्षित हो गया था। परन्तु उन्होने उसकी कुछ भी परवाह नही की। मुझे गोद मे उठाया और रास्ता खोजते हुए आगे बढते चले। भाग्यवश, सही रास्ता मिल गया और सूर्योदय से एक-डेढ घटे पूर्व ही वे मुझे लेकर मेरे ननिहाल आ पहुँचे। अभी तक घर का द्वार नही खुला था। अत. उसे खुलवाया, परन्तु घावो मे से खून बह रहा था और वे पर्याप्त थक चुके थे। इसलिए वे न तो ठीक तरह से खडे ही रह सके और न किसी से बात ही कर पाए। वे तो एकदम चारपाई पर गिर पडे। उनकी यह दशा—हालत देखकर मेरे ननिहाल वाले काफी घबरा गए। फिर मैंने उन्हे सारी घटना कह सुनाई। उन्होने उनको नसीराबाद के अस्पताल मे दाखिल करवाया, वहाँ कई महीने उपचार होता रहा और डाक्टरो के सद्प्रयत्न से वे पूर्णत स्वस्थ हो गए।

स्नेह और प्रतिज्ञा

पिताजी का स्वाथ्य ठीक होते ही, वे पुन मुझे घर ले गए। क्योंकि मेरी बडी बहिन का विवाह था। विवाह खूब धूम-धाम से हो रहा था।

परन्तु, पिताजी सात वर्ष से विना नमक-मिर्च की उडद की दाल और जौ की रूखी रोटी खा रहे थे। अत उन्होने सबके साथ भोजन नही किया। इससे सभी वरातियो ने तब तक भोजन करने से इन्कार कर दिया जब तक वे साथ बैठकर भोजन नही करते। कुछ देर तक मान-मनुहार होती रही। अन्त मे सम्बन्धियो के हार्दिक स्नेह के सामने उन्हे झुकना पडा। उन्होने सात वर्ष से चली आ रही परपरा को तोडकर उनके साथ भोजन किया। वस्तुत हार्दिक स्नेह एव सच्चा प्यार भी मनुष्य को विवश कर देता है।

निर्भयता

बहिन के विवाह कार्य से निवृत्त होकर पिताजी एक निकट के सम्बन्धी के विवाह मे शामिल होने जा रहे थे। मैं भी साथ थी। हम बैलगाडी मे जा रहे थे। रास्ते मे एक नदी पडती थी। उसे पार करते समय बैलो के पैर उखड गए और गाडीवान भी उन्हे नही सँभाल पाया। इस सकट के समय भी वे घबराए नही। डरना तो उन्होंने सीखा ही नही था। अत साहस के साथ गाडी से कूद पडे और बैलो की लगाम पकडकर गाडी को नदी से पार कर दिया। परन्तु, यह क्या ? एक सफेद रग का सर्प उनके पैरो से चिपटा हुआ था। सर्प को देखते ही मैं चीख उठी। परन्तु वे विचलित नही हुए और न डरे ही। उन्होने निर्द्वन्द भाव से सर्प को हाथ से खीचा और पानी मे फैंक दिया।

अन्तिम वियोग

जब मैं साढ़े ग्यारह वर्ष की थी, तब मेरा विवाह कर दिया। दो वर्ष बडे आनन्द मे बीत गए। विवाह के बाद अभी तक मेरा गौना नही हुआ था। उसकी तैयारियाँ हो ही रही थी कि अचानक उनके देहावसान का समाचार मिला। यह समाचार सुनकर पिताजी के मन पर बहुत गहरा आघात लगा। उन्होने अपने जीवन मे अनेक वियोग सहे, परन्तु यह सबसे कठिन आघात था और यो कहिए—गृहस्थ जीवन मे

घटने वाला अन्तिम वियोग था। उनके मन मे मेरे भविष्य की अत्यधिक चिन्ता एव वेदना थी।

साधना के पथ पर

उनकी मृत्यु के १० या ११ दिन बाद परम श्रद्धेय महासती श्री सरदार कुँवर जी म० (मेरी गुरणी जी म०) अजमेर मे पधारी और मुझे मागलिक सुनाने आई। मेरी अन्तर्वेदना देखकर उनका हृदय भर आया। उन्होने मुझे सान्त्वना दी और जीवन का सही मार्ग बताने का प्रयास किया। इसके एक वर्ष बाद जब मैं अपने मायके दादिया गाँव मे थी, तब भी श्रद्धेय गुरणी जी म० किशनगढ पधारी और पिताजी की आग्रहभरी विनती स्वीकार करके वे मुझे दर्शन देने दादिया गाँव पहुँची, और यही पर मेरे मन मे श्रमण-साधना का बीज अकुरित होने लगा।

इसके पश्चात् मेरे पिताजी मुझे लेकर नोखा गाँव (जोधपुर) मे गुरणी जी म० के दर्शनो के लिए पहुँचे और यही मेरे मन मे दीक्षा ग्रहण करने का भाव जगा और मैंने अपना दृढ निश्चय पिताजी के सामने प्रकट कर दिया। उस समय नोखा गाँव से कुछ दूर कुचेरा मे स्व० स्वामी जी हजारीमल जी महाराज विराजमान थे। पूज्य पिताजी उनके चरणों मे पहुँचे और उनके मन मे दीक्षा लेने की भावना जागृत हो उठी। और उसी समय मेरी ससुराल वालो को अजमेर तार दे दिया कि वह मेरे साथ दीक्षा ले रही है। बहुत प्रयत्न के बाद हम दोनो को दीक्षा स्वीकार करने की आज्ञा मिल गई।

वि० स० १९९४ मगसिर कृष्णा ११ को प्रात ८ बजे परम श्रद्धेय स्वामी जी श्री हजारीमल जी महाराज के कर-कमलो से मेरी और पिताजी की दीक्षा सम्पन्न हुई। मैं परम श्रद्धेय महासती श्री सरदार कुँवरजी महाराज की शिष्या बनी और पिता जी परम श्रद्धेय श्री हजारीमल महाराज के शिष्य बने।

साधना का प्रारम्भ

दीक्षा के समय आपकी आयु ५३ वर्ष की थी और अध्ययन बहुत गहरा नही था। परन्तु, गृहस्थ जीवन से ही ध्यान एव आत्म-चिन्तन की ओर मन लगा रहता था। उसी भावना को विकसित करने के लिए आप प्राय मौन रखते थे। और ध्यान, जप एव आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे। इसके साथ-साथ उन्होने तप-साधना भी प्रारभ कर दी। वे सदा दिन भर मे एक बार ही आहार करते थे और वह भी एक ही पात्र मे खाते थे। उन्हे जो कुछ खाना होता, वह अपने एक पात्र मे ही ले लेते थे। स्वाद पर, जिह्वा पर उनका पूरा अधिकार था। वे स्वाद के लिए नही, केवल जीवन निर्वाह के लिए खाते थे।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी आपको अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा, अनेक परीषह सहने पडे। अनेक अनुकूल एव प्रति-कूल समस्याएँ आपके सामने आई। परन्तु, आप सदा अपने विचारो पर, अपने साधना पथ पर अडिग रहे। आप उनसे कभी घबराए नही, विचलित नही हुए। वे समस्याओ को दुःख का, पतन का कारण नही, बल्कि जीवन विकास का कारण मानते थे। अत शान्त भाव से उन्हे सुलझाते रहे और उन पर विजय पाने का प्रयत्न करते रहे।

स्थविर-वास

कुछ वर्षों मे आपकी शारीरिक शक्ति काफी क्षीण हो गई। फिर भी आप विहार करते रहे। जब तक पैरो मे चलने की शक्ति रही, तब तक अपने परम श्रद्धेय गुरुदेव के साथ विचरण करते रहे। परन्तु जब पैरो मे गति करने की शक्ति नही रही, चलते-चलते पैर लडखडाने लगे, तब पूज्य-गुरुदेव की आज्ञा से आप कुन्दन-भवन, ब्यावर मे स्थाना-पति हो गए। मुनि श्री भानुऋषि जी म० आपकी सेवा में रहे। मुनि श्री पाथर्डी परीक्षा बोर्ड से जैन सिद्धान्ताचार्य की परीक्षा की तैयारी

कर रहे थे। परन्तु, अध्ययन के साथ सेवा भी बहुत करते थे। मुनि श्री जी ने दो वर्ष तक तन-मन से जो सेवा-सुश्रूषा की वह कभी भी विस्मृति के अंधेरे कोने मे नही धकेली जा सकती। मुनिश्री का उनके साथ पिता-पुत्र-सा स्नेह सबध था। वह दृश्य आज भी मेरी आँखो के सामने घूमता रहता है।

दयालु हृदय

आप करीब १८ वर्ष ८ महीने श्रमण-साधना मे सलग्न रहे। इस साधना काल मे आपके जीवन मे अनेक घटनाएँ घटित हुई, परन्तु आप सदा शान्तभाव से सहते रहे। आप मे अपने कष्टो एव दु खो को सहने की हिम्मत थी। परन्तु, वे दूसरे का दु ख नही देख सकते थे। उनके अन्तर्मन मे दया एव करुणा का सागर ठाठे मारा करता था। स्वर्गवास के एक वर्ष पहले की बात है—आप एक दिन शौच के लिए बाहर पधारे और वहाँ चारे की कमी के कारण दुर्बल एव भूखी गायो को देखकर आपका हृदय रो उठा और आँखो से अजस्र अश्रुधारा बह निकली। वे परवेदना को सहने मे बहुत कमजोर थे। गायो की दयनीय स्थिति देखकर उन्होने उस दिन से दूध-दही आदि का त्याग कर दिया।

आपका जीवन सादा और सरल था। आप हमेशा सादगी से रहना पसन्द करते थे। आप यथासभव अल्प से अल्प मूल्य के वस्त्र ग्रहण करते थे और वह भी मर्यादा से कम ही रखते थे। सर्दियो के दिनो मे आप टाट ओढकर रात बिता देते थे। आसन के लिए तो आप टाट का ही उपयोग करते थे। आपकी आवश्यकताएँ भी बहुत सीमित थी।

समाधि-मरण

यह मैं ऊपर लिख चुकी हूँ कि वे अधिकतर ध्यान एवं जप-साधना मे ही सलग्न रहते थे। रात के समय ३-४ घटे निद्रा लेते थे, शेष समय

ध्यान एव जप मे ही बीतता था और इसी कारण उन्हे अपना भविष्य भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगा। आपने अपने महाप्रयाण के ६ महीने पूर्व ही अपने देह-त्याग के सम्बन्ध मे बता दिया था। जब मेरी ज्येष्ठ गुरु बहिन परम श्रद्धेय महासती श्री झमकू कुंवर जी म० का सथारा चल रहा था, तब भी आपने सबके सामने कहा कि मेरा जीवन भी अब चार महीने का ही शेष रहा है। यह सुनते ही निहालचन्द जी मोदी ने कहा कि—"महाराज आप ऐसा क्यो फरमा रहे हैं ? अभी तो श्रद्धेय सतीजी म० चलने की तैयारी कर रही हैं। अभी हमे आपके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है।" आपने अपने भविष्य की बात को दोहराते हुए दृढ स्वर मे कहा कि—"आप माने या न मानें, होगा ऐसा ही।" उसके डेढ महीने के बाद महासती श्री झमक् कुंवर जी म० का स्वर्गवास हो गया। मेरा अध्ययन चल रहा था और ब्यावर सघ का आग्रह होने से हमने वही वर्षावास मान लिया। इससे पूज्य पिता श्री जी के दर्शनो एव सेवा का लाभ मिलता रहा। परन्तु उनका अन्तिम समय भी निकट आ गया। स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व भी आपने हमे सजग कर दिया कि अब मैं सिर्फ तीन दिन का ही मेहमान हूं। परन्तु हमने इस बात पर विशेष ध्यान नही दिया।

परन्तु आप अपने कार्य मे सजग थे। अत आपने अपने जीवन की आलोचना करके शुद्धि की और सबसे क्षमित-क्षमापना की। स्वर्गवास के दिन करीब १२ बजे तक अपने भक्तो के घर जाकर उन्हे दर्शन देते रहे। सबसे शुद्ध हृदय से क्षमित क्षमापना करके हमारे स्थानक मे भी दर्शन देने पधारे। जब मैंने उनसे कहा कि "आपके घुटनो मे दर्द है, फिर आपने यहाँ आने का कष्ट क्यो किया।" तब आपने शान्त स्वर मे कहा कि "जीवन में दर्द तो चलता ही रहता है। जब तक आत्मा के साथ शरीर है, तब तक वेदनाएँ तो लगी ही रहती हैं। और अपना सम्बन्ध

तो सिर्फ आज का ही और है। कल तो केवल मेरी स्मृति मात्र ही रह जाएगी। इसलिए तुमसे भी क्षमित-क्षमापना करने आ गया।"

उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा था। शरीर पर ऐसे कोई चिह्न दिखाई नही दे रहे थे कि जिससे ऐसी कल्पना कर सके कि यह महापुरुष हम सबको छोडकर आज ही चले जाएँगे। उनके जाने के बाद हम कुन्दन भवन पढने के लिए गई। अध्ययन करने के बाद हम सदा कुछ देर तक महाराज श्री की सेवा मे बैठती थी। उस दिन भी सेवा मे थी। वहाँ से चलते समय मुनि श्री भानुऋषिजी म० से पूछा तो उन्होने बताया कि कल रात को १२ वजे ध्यान करते समय हाल कुछ क्षणो के लिए तेज प्रकाश से भर गया और उनके मुख से यह आवाज सुनाई दी कि "पैगाम आ गया है।"

हम चार वजे कुन्दन भवन से अपने स्थानक मे आई। सायकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् समाचार मँगवाए तो सुख-शान्ति के ही समाचार मिले। कोई चिन्ता जैसी बात नही थी। परन्तु, रात को चार-पाँच बजे कुन्दन भवन के बाहर हल-चल देखकर मन मे कुछ सन्देह हुआ। और पूछने पर पता लगा कि परम श्रद्धेय पूज्य-पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। यह सुनते ही मन रो उठा और अपने अन्तिम समय के लिए उनके द्वारा कहे गये शब्द याद आने लगे।

इस तरह वह महासाधक वि० स २०१३ श्रावण कृष्णा दशमी की रात को अनन्त की गोद मे सदा के लिए सो गया। आज उनका भौतिक शरीर हमारे सम्मुख नही है। परन्तु उनकी साधना, सरलता, सौजन्यता एव दयालुता आज भी हमारे सामने है। उनके गुण आज भी जीवित है। अत वे मरे नही, बल्कि मरकर भी जीवित हैं और सदा-सर्वदा जीवित रहेगे।

—महासती उमराव कुँवर

भक्ति-योग सर्वोच्च योग है,

अगर साथ हो उचित विवेक।

सर्वनाश का बीज अन्यथा—

अन्ध भक्ति का है अतिरेक॥

—उपाध्याय अमर मुनि

योग-शास्त्र

(हिन्दी अनुवाद सहित)

प्रथम प्रकाश

मंगलाचरण

नमो दुर्वाररागादि-वैरिवार निवारिणे।
अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने॥ १॥

जिनको जीतना कठिन है, ऐसे राग-द्वेष आदि वैरियो के समूह को निवारण करने वाले, चार घाति कर्मों का नाश करने वाले, योगियो के नाथ और प्राणी मात्र के सरक्षक भगवान महावीर को नमस्कार हो।

पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पाद-सस्पृशि।
निर्विशेषमनस्काय, श्री वीरस्वामिने नमः॥ २॥

अपने चरणो का स्पर्श करने वाले चण्डकौशिक साँप पर और सुरेन्द्र पर पूर्ण रूप से समभाव रखने वाले, परम वीतराग मनोवृत्ति वाले श्री वीर भगवान् को नमस्कार हो। तात्पर्य यह है कि चण्ड-कौशिक पूर्व भव मे कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण था और सुरेन्द्र का नाम भी कौशिक है। सर्प ने काटने—डँसने के इरादे से प्रभु के पैर का स्पर्श किया था और इन्द्र ने भक्ति से प्रेरित होकर। दोनो की भावनाओ मे आकाश-पाताल का अन्तर था, किन्तु भगवान् के भाव मे कुछ भी अन्तर नही था। उनका दोनो पर एक-सा करुणामय भाव था।

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयो ।
ईषद्वाष्पार्द्रयोर्भद्र, श्री वीर जिननेत्रयो ॥ ३ ॥

सगम देव जैसे अपराधी जन पर भी दयामय होने से जिनके नेत्रो के तारे झुक गये तथा हल्के से वाष्प से आर्द्र हो गए हैं, ऐसे श्री वीर भगवान् के दोनो कल्याणमय नेत्रो को नमस्कार हो।

श्रुताम्भोधेरधिगम्य, सम्प्रदायाच्च सद्गुरो. ।
स्वसवेदनतश्चापि, योगशास्त्र विरच्यते ॥ ४ ॥

श्रुत रूपी सागर से, गुरु की परम्परा से और स्वानुभव से ज्ञान प्राप्त करके योग-शास्त्र की रचना की जाती है।

योग की महिमा

योग सर्वविपद्वल्ली-विताने परशु शित ।
अमूलमन्त्र-तन्त्र च, कार्मण निर्वृत्तिश्रिय ॥ ५ ॥

योग समस्त विपत्ति रूपी लताओ के वितान को काटने के लिए तीखी धार वाले परशु के समान है। मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश मे करने के लिए विना मन्त्र-तन्त्र के कामण के समान है। अर्थात् योग के माहात्म्य से समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मुक्ति रूपी लक्ष्मी स्वय ही वश मे हो जाती है।

भूयासोऽपि पाप्मान', प्रलय यान्ति योगत. ।
चण्डवाताद् घनघना, घनाघनघटा इव ॥ ६ ॥

योग के प्रभाव से विपुलतर पाप भी उसी प्रकार विलीन-विनष्ट हो जाते है, जैसे—प्रचड वायु के चलने से मेघो की सघन घटाएँ विलीन हो जाती हैं।

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि ।
प्रचितानि यथैवासि, क्षणादेवाशुशुक्षणि ॥ ७ ॥

चिरकाल से उपार्जन किये हुए पापों को योग उसी तरह नष्ट कर देता है, जैसे इकट्ठी की हुई बहुत-सी लकडियो को अग्नि क्षण भर मे भस्म कर देती है ।

कफविप्रुण्मलामर्श - सर्वौषधमहर्द्धय ।
सम्भिन्नश्रोतोलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम् ॥ ८ ॥

कफ, मूत्र, मल, अमर्श और सर्वौषध ऋद्धियाँ तथा सभिन्न-श्रोतोलब्धि, यह सब योग के ही प्रभाव से प्राप्त होती है ।

टिप्पण—योग के अचिन्त्य प्रभाव से योगी जनो को नाना प्रकार की अद्भुत ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं । किसी योगी को ऐसी ऋद्धि प्राप्त होती है कि उसका कफ समस्त रोगो के लिए औषध बन जाता है, किसी के मूत्र मे रोगो का शमन करने की शक्ति आ जाती है, किसी के मल मे सब बीमारियो को हटा देने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, किसी के स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते है ।

किसी-किसी के मल, मूत्र आदि सभी औषध रूप हो जाते है । यह सब महान् ऋद्धियाँ योग के ही प्रभाव से उत्पन्न होती हैं । इनके अतिरिक्त सभिन्नश्रोतोलब्धि भी योग का ही एक महान् फल है । सभिन्नश्रोतोलब्धि का स्वरूप इस प्रकार है—

सर्वेन्द्रियाणां विषयान्, गृह्णात्येकमपीन्द्रियम् ।
यत्प्रभावेन सम्भिन्नश्रोतोलब्धिस्तु सा मता ॥

जिस लब्धि के प्रभाव से एक ही इन्द्रिय सभी इन्द्रियो के विषय को ग्रहण करने लगती है, वह सभिन्नश्रोतोलब्धि कहलाती है ।

टिप्पण—यह लब्धि जिसे प्राप्त होती है वह स्पर्शेन्द्रिय से रस, गध, रूप और शब्द को ग्रहण कर लेता है, जीभ से सूंघता और देखता है, नाक से चखता और देखता है, आँख से सुनता है, सूंघता है, चखता है,

और स्पर्श का भी अनुभव करने लगता है। आशय यह है कि ऐसा योगी किसी भी एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियो का काम ले सकता है।

चारणाशीविषावधि-मन पर्यायसम्पद ।
योगकल्पद्रुमस्यैता, विकासिकुसुमश्रिय ॥ ९ ॥

चारण लब्धि, आशीविष लब्धि, अवधिज्ञान लब्धि और मन पर्याय लब्धि, यह सब योग रूपी कल्प-वृक्ष के खिले हुए पुष्प हैं। योग के निमित्त स ही यह सब लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

टिप्पण—चारण लब्धि वाले योगी दो प्रकार के होते हैं—जघाचारण और विद्याचारण। जघाचारण एक ही उडान मे रुचकवर द्वीप मे पहुँच जाते हैं। लौटते समय रुचकवर द्वीप से एक उडान मे नन्दीश्वर द्वीप तक आते हैं और दूसरी उडान मे अपने स्थान पर आ पहुँचते हैं। अगर जघाचारण मुनि ऊपर जाने की इच्छा करें तो एक उडान मे पाण्डुक वन पर पहुँच सकते हैं। लौटते समय एक उडान मे नन्दन वन आते हैं और दूसरी उडान मे अपने स्थान पर आ जाते हैं।

विद्याचारण मुनि एक उडान मे मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान मे नन्दीश्वर द्वीप तक पहुँच जाते हैं। किन्तु लौटते समय एक ही उडान मे अपने स्थान तक आ जाते हैं। विद्याचारणो की ऊर्ध्वगति भी तिर्छी गति के ही क्रम से समझनी चाहिए।

जघाचारण और विद्याचारण मुनियो के गमन-आगमन के सामर्थ्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि जघाचारणो और विद्याचारणो के सामर्थ्य मे परस्पर विरोध-सा है। जघाचारणो का सामर्थ्य जाते समय अधिक होता है और आते समय कम, किन्तु विद्याचारणो का जाते समय कम और आते समय अधिक होता है। इसका कारण यह है कि जघाचारण लब्धि तप और सयम के निमित्त से प्राप्त होती है। लब्धि का प्रयोग करने से तप-सयम की उत्कृष्टता कम हो जाती है। इसी

कारण जघाचारणो की लौटते समय सामर्थ्य कम हो जाती है। मगर विद्याचारण विद्या के प्रभाव से होते हैं। विद्या का ज्यों-ज्यो प्रयोग किया जाता है, त्यो-त्यो उसका उत्कर्ष होता है। इसी कारण विद्याचारण जितनी दूर दो उडानो मे जाते है, आते समय एक ही उडान मे उस दूरी को पार कर लेते है।

आशीविष लब्धि वह है, जिसके प्रभाव से शाप और अनुग्रह की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन्द्रियो और मन की सहायता के विना रूपी द्रव्यो को नियत सीमा तक जानने वाला ज्ञान—अवधि-ज्ञान कहलाता है। अढाई द्वीप के अन्तर्गत सज्ञी जीवो के मनोद्रव्यो को साक्षात् जानने वाला ज्ञान—मन पर्याय कहलाता है। यह दोनो ज्ञान भी लब्धियो मे गिने गए है।

तात्पर्य यह है कि उल्लिखित समस्त लब्धियाँ योग के निमित्त से प्राप्त होती हैं।

> अहो योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन् ।
> अवाप केवलज्ञान, भरतो भरताधिपः ॥ १० ॥
>
> पूर्वमप्राप्त धर्माऽपि, परमानन्दनन्दिता ।
> योगप्रभावत· प्राप, मरुदेवी परं पदम् ॥ ११ ॥
>
> ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण-गोघात - पातकान्नरकातिथेः ।
> दृढप्रहारि - प्रभृतेर्योगो, हस्तावलम्ननम् ॥ १२ ॥
>
> तत्कालकृतदुष्कर्म - कर्मठस्य दुरात्मन· ।
> गोप्त्रे चिलातिपुत्रस्य, योगाय स्पृहयेन्न कः ? ॥ १३ ॥

उस योग के माहात्म्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय जिसके प्रभाव से षट्खण्ड—भरतक्षेत्र के अधिपति भरत चक्रवर्त्ती ने विशाल साम्राज्य के भार को वहन करते हुए भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। धर्मतीर्थ की स्थापना न होने के कारण जिन्हे पहले धर्म की

तत्त्व है। पुण्य और पाप की अलग गणना करने पर नौ तत्त्व भी कहे जाते है। इन तत्त्वो के वास्तविक स्वरूप का सक्षेप से अथवा विस्तार से ज्ञान होना—सम्यग्ज्ञान है, ऐसा ज्ञानी जनो ने कहा है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा॥ १७॥

वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्वो पर रुचि होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार से होता है—१ निसर्ग से और २ गुरु के अधिगम से।

टिप्पण—ससारी जीव अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है और विविध प्रकार की वेदनाएँ एव व्यथाएँ सहन कर रहा है। जैसे किसी पहाडी नदी के जल-प्रवाह मे पडा हुआ पाषाण खण्ड बहता-बहता और अनेक चट्टानो से टकराता-टकराता अकस्मात् गोल-मटोल हो जाता है, उसी प्रकार भव-भ्रमण करता हुआ जीव कदाचित् ऐसी स्थिति मे आ जाता है कि उसके कर्मों की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम की शेष रह जाती है। यह स्थिति प्राप्त होने पर वह जीव राग-द्वेष की अनादि-कालीन दुर्भेद्य ग्रथि को भेदने के लिए उद्यत होता है। यह यथा प्रवृत्ति-करण कहलाता है। उस समय यदि राग-द्वेष की तीव्रता हो जाती है तो किनारे आया हुआ भी फिर मँझधार मे डूब जाता है। किन्तु जो भव्य आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करके आत्मा के वीर्य को प्रस्फुटित करता है, वह कर्मो की उक्त स्थिति को कुछ और कम करके अपूर्वकरण को प्राप्त करता है। अपूर्वकरण के पश्चात् उस दुर्भेद्य ग्रथि का भेदन हो जाता है और अनिवृत्तिकरण के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाला दर्शन निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

गुरु के उपदेश का निमित्त मिलने पर जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

निसर्गज और अधिगमज—दोनो प्रकार के सम्यग्दर्शनो मे अन्त-रग कारण अनन्तानुवधी चतुष्क एव दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम समान है। किन्तु, वाह्य निमित्त अलग-अलग हैं। वाह्य निमित्तो की भिन्नता के कारण ही सम्यग्दर्शन के दो भेद किये गये हैं।

सम्यक चारित्र का स्वरूप

सर्वसावद्ययोगाना, त्यागश्चारित्रमिष्यते ।
कीर्तित तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ॥ १८ ॥

मव प्रकार के सावद्य (पापमय) योगो का त्याग करना सम्यक् चारित्र कहलाता है। अहिंसा आदि व्रतो के भेद से वह पाँच प्रकार का है।

व्रतो के भेद

अहिंसासूनृतास्तेय - ब्रह्मचर्यापरिग्रहा ।
पञ्चभि पञ्चभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥१९॥

व्रत रूप चारित्र के पाँच भेद हैं—१ अहिंसा, २. सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, और ५ अपरिग्रह। यह पाँचो पाँच-पाँच भावनाओ मे युक्त होकर मोक्ष के कारण होते है।

१ अहिंसा-महाव्रत

न यत्प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसाना स्थावराणाञ्च, तदहिंमाव्रत मतम् ॥ २० ॥

प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के) प्राणियो के प्राणो का हनन न करना अहिंमाव्रत है।

२ सत्य-महाव्रत

प्रिय पथ्य वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥ २१ ॥

प्रिय, पथ्य (हितकर) और तथ्य (यथार्थ) वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है। जो वचन अप्रिय है या अहितकर है, वह तथ्य होने पर भी सत्य नही है।

३. अस्तेय-महाव्रत

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रत - मुदीरितम् ।
बाह्या प्राणा नृणामर्थो, हरता त हता हिते ॥ २२ ॥

स्वामी के द्वारा दिये बिना किसी वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय व्रत कहा गया है। धन मनुष्यो का बाह्य प्राण है, अत धन को हरण करने वाला प्राणो का ही हरण करता है। क्योकि धन का हरण होने पर धनी को इतनी व्यथा होती है, जितनी प्राणो का हरण होने पर। अत अदत्तादान हिंसा के समान पाप है।

४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत

दिव्यौदारिककामाना, कृतानुमतिकारितै. ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥२३॥

देवो सम्बन्धी और औदारिक शरीर धारियो (मनुष्यो एव तिर्यञ्चो) सम्बन्धी कामो का कृत, कारित और अनुमोदन से, मन वचन और काय से त्याग करना—अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है।

टिप्पण—दिव्य कामो का मन से स्वय सेवन न करना, दूसरो से सेवन न कराना और सेवन करने वाले का अनुमोदन न करना, इसी प्रकार वचन से और काय से सेवन करने का त्याग करना—नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य है। जैसे दिव्य काम-त्याग से नव भेद सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार

औदारिक शरीर सम्बन्धी काम-परित्याग से नव भेद होते हैं। दोनो को मिला देने पर ब्रह्मचर्य के अठारह भेद हो जाते हैं। कहीं-कहीं देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी काम-भोगो के त्याग का कथन। उस कथन मे और इस कथन मे कोई अर्थभेद नही है। यहाँ 'औदारिक' इस एक शब्द से ही मनुष्यो और तिर्यञ्चो को ग्रहण कर लिया गया है।

५ अपरिग्रह-महाव्रत

सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्याग स्यादपरिग्रह ।
यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लव. ॥ २४ ॥

समस्त पर-पदार्थों मे मूर्च्छा (आसक्ति) का अभाव ही अपरिग्रह कहलाता है। पदार्थों के विद्यमान न होने पर भी अगर उनमे मूर्छा-गृद्धि हो, तो चित्त मे क्षोभ होता है।

टिप्पण—तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ का पास मे होना अथवा न होना परिग्रह और अपरिग्रह नही है, परन्तु मूर्च्छा का होना परिग्रह और न होना अपरिग्रह है। पदार्थ प्राप्त न हो, किन्तु उसमे आसक्ति हो तो भी वह परिग्रह हो जाता है। इसके विपरीत शरीर जैसी वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी ममत्व न होने के कारण वह अपरिग्रह है। अत परिग्रह का त्यागी वही है, जो पदार्थों के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित आसक्ति को भी त्याग देता है। कहा भी है—

यद्वत्तुरग सत्स्वप्याभरणभूषणेष्वनभिषक्त ।
तद्वदुपग्रहवानपि, न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थ ॥

जैसे घोडे को आभरण और भूषण पहना दिये जाते हैं, तो भी वह उन आभरणो और आभूषणो मे आसक्त नही होता, उसी प्रकार धर्मोपकरण रखता हुआ भी साधु परिग्रही नही कहलाता।

महाव्रतों की भावनाएँ

भावनाभिर्भावितानि, पञ्चभि पञ्चभिः क्रमात् ।
महाव्रतानि नो कस्य, साधयन्त्यव्यय पदम् ॥२५॥

प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। उन भावनाओ से भावित—पुष्ट किये हुए महाव्रत किसे अक्षय पद (मोक्ष) प्रदान नही करते ? अर्थात् भावनाओ सहित महाव्रतो का पालन करने वाला अवश्य ही अजर-अमर पद प्राप्त करता है।

मनोगुप्त्येषणादानेर्याभि समितिभि सदा।
दृष्टान्नपानग्रहणेनाहिंसा भावयेत् सुधी ॥२६॥

इन पांच भावनाओ से विवेकशील पुरुष को अहिंसा को भावित करना चाहिए—१. मनोगुप्ति—मन के अशुभ व्यापारो का त्याग करना, २ एषणासमिति—निरवद्य अर्थात् सूझता अन्न-पानी आदि ग्रहण करना, ३ आदान समिति—सयम के उपकरणो को उपयोग सहित उठाना-रखना, ४ ईर्या समिति—चलते समय जीव-जन्तु की रक्षा के लिए आगे की चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हुए चलना, ५ दृष्टान्नपान-ग्रहण—अच्छी तरह देख-भालकर भोजन-पानी ग्रहण करना। अँधेरे मे न ग्रहण करना और न खाना-पीना ।

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत्सूनृतव्रतम् ॥२७॥

१ हँसी-मजाक का त्याग, २ लोभ का त्याग, ३ भय का त्याग, ४. क्रोध का त्याग, और ५ सदैव सोच-विचार कर बोलना, यह पाँच सत्य-महाव्रत की भावनाएँ है।

आलोच्यावग्रहयाच्ञाभीक्ष्णावग्रहयाचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैतदित्यवग्रह धारणम् ॥ २८ ॥

आसक्ति का त्याग करना और अमनोज्ञ स्पर्श आदि मे द्वेष का त्याग करना—अपरिग्रह-महाव्रत की पाँच भावनाएँ है।

टिप्पण—व्रतो का भली-भाँति पालन करने के लिए कुछ सहायक नियमो की अनिवार्य आवश्यकता होती है। कहना चाहिए कि उन नियमो के पालन पर ही व्रतो का समीचीन रूप से पालन हो सकता है। सहायक नियम व्रतो की रक्षा करते हैं और पुष्टि भी करते है। यहाँ प्रत्येक व्रत की रक्षा करने के लिए पाँच-पांच भावनाओ का इसी अभिप्राय से कथन किया गया है।

सम्यक्-चारित्र

अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
चारित्र सम्यक्चारित्र-मित्याहुर्मुनिपुङ्गवा ॥ २४ ॥

अथवा पाँच समितियो और तीन गुप्तियो से युक्त आचार सम्यक् चारित्र कहलाता है, ऐसा महामुनि अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान् कहते है।

टिप्पण—पहले अठारहवे श्लोक मे सम्यक् चारित्र की व्याख्या की गई थी। यहाँ दूसरी व्याख्या बतलाई गई है। पहली व्याख्या मूलव्रत-परक है और इस दूसरी व्याख्या मे उत्तर व्रतो का भी समावेश किया गया है। अहिसा आदि पांच महाव्रत मूलव्रत कहलाते है और समिति-गुप्ति आदि उत्तर व्रत कहे जाते हैं।

मूल गुणो और उत्तर गुणो का आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तर-गुणो का पालन किये विना सम्यक् प्रकार से मूल गुणो का पालन होना सभव नही है, और मूल गुणो के अभाव मे उत्तर गुणो की कल्पना वैसी ही है जैसे मूल के विना वृक्ष की कल्पना।

इस प्रकार मूल गुणो और उत्तर गुणो के सम्बन्ध को दृष्टि मे रखते हुए दोनो व्याख्याओं मे कोई अन्तर नही है, तथापि चारित्र जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक विषय की स्पष्टता के हेतु शास्त्रकार ने यहाँ दो

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्ग-संज्ञिकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो, गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ॥३५॥

जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचे, ऐसे यतनापूर्वक किये जाने वाले व्यापार — प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं—१ ईर्या समिति, २ भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४ आदान निक्षेप समिति, और ५ उत्सर्ग समिति।

सम्यक् प्रकार से योग का निग्रह करना 'गुप्ति' कहलाता है। योग तीन हैं—१ मनोयोग, २ वचनयोग, और ३ काययोग। इन तीनों का निग्रह ही क्रमशः मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहलाती है।

१. ईर्या-समिति

लोकातिवाहिते मार्गे, चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या मता सताम् ॥ ३६ ॥

जिस मार्ग पर लोगों का आवागमन हो चुका हो और जिस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों या पड़ चुकी हों, उस पर जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए आगे की चार हाथ भूमि देख-देखकर चलना सन्त जनों द्वारा सम्मत ईर्यासमिति है।

२ भाषा-समिति

अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम् ।
प्रिया वाचंयमानां, सा भाषा समितिरुच्यते ॥ ३७ ॥

भाषा सम्बन्धी दोषो से बचकर प्राणी मात्र के लिए हितकारी परिमित भाषण करना 'भाषा समिति' है। यह सयमी पुरुषो की प्रिया है।

टिप्पण—मुनि का उत्सर्ग मार्ग है—मौन धारण करना। किन्तु निरन्तर मौन लेकर जीवन-व्यापार नही चलाया जा सकता। अतः जब उसे वाणी का प्रयोग करना पडे तो कुछ आवश्यक नियमो का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। यही 'भाषासमिति' है। मुख्य नियम यह है—

१. मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य और भय से प्रेरित होकर न बोले।

२ निरर्थक भाषण न करे। प्रयोजन होने पर परिमित ही बोले। विकथा न करे।

३. अप्रिय, कटुक और कठोर भाषा का प्रयोग न करे।

४. भविष्य मे होने वाली घटना के विषय मे निश्चयात्मक रूप से कुछ न कहे।

५ जो बात सम्यक् रूप से देखी, सुनी या अनुभव न की हो, उसके विषय में भी निर्णयात्मक शब्द न कहे।

६. परपीडा-जनक सत्य भी न बोले। असत्य का कदापि प्रयोग न करे।

३. एषणा-समिति

द्विचत्वारिशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम्।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैपणासमितिर्मता ॥ ३८ ॥

प्रतिदिन भिक्षा के बयालीस दोषो को टालकर मुनि जो निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते है, उसे 'एषणा-समिति' कहते है।

टिप्पण—जिनेन्द्र देव के शासन मे मुनियो के आहार की शुद्धि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसका कारण यह है कि आहार के

साथ मनुष्य के आचार और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुनि की सयमयात्रा तभी निर्विघ्न सम्पन्न हो सकती है, जब उसका आहार सयम के अनुरूप हो। आहार के विषय मे जो स्वच्छन्द होता है या लोलुप होता है, वह ठीक तरह सयम का निर्वाह नही कर सकता और न हिंसा के पाप से ही बच सकता है। अत सयत मुनियो को आहार के विषय मे अत्यन्त सयत रहने का आदेश दिया गया है।

यहाँ भिक्षा के जिन बयालीस दोषो को टालने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है—उद्गम-दोष १६, उत्पादना-दोष १६, और एषणा-दोष १०। दाता के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम-दोष' कहलाते है, आदाता—पात्र के द्वारा होने वाले दोष 'उत्पादना-दोष' कहे जाते हैं और दोनो—दाता एव आदाता के द्वारा होने वाले दोष 'एषणा-दोष' कहलाते हैं। इन सब का लक्षण अन्य शास्त्रो से समझ लेना चाहिए।

यह बयालीस प्रधान दोष आचाराग, सूत्रकृताग और निशीथसूत्र मे वर्णित हैं। आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि सूत्रो मे इनके अतिरिक्त और भी दोषो का उल्लेख है, जो इन्ही दोषो मे से प्रतिफलित होते हैं। उन सब को सम्मिलित कर लेने पर आहार के १०६ दोष होते हैं।

४ आदान-समिति

आसनादीनि सवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नत ।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत्, सादानसमिति स्मृता ॥३६॥

आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि सयम के उपकरणो को सम्यक् प्रकार से देख-भाल करके, उनकी प्रतिलेखना करके, यतनापूर्वक ग्रहण करना और रखना 'आदान-समिति' कहलाती है।

टिप्पण—सयम के आवश्यक उपकरणो को रखते या उठाते समय जीव-जन्तु की विराधना न हो जाय, इस अभिप्राय से आदान-समिति

का विधान किया गया है। इस समिति का प्रतिपालन करने वाला मुनि हिंसा से बच जाता है।

५ उत्सर्ग-समिति

कफमूत्रमलप्राय, निर्जन्तुजगतीतले।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः, सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ ४० ॥

कफ, मूत्र, मल जैसी वस्तुओ का जीव-जन्तुओ से रहित पृथ्वी पर यतना के साथ मुनि त्याग करते हैं। यही 'उत्सर्ग-समिति' है।

१. मन-गुप्ति

विमुक्तकल्पनाजाल, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माराम मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ ४१ ॥

सब प्रकार की कल्पनाओ के जाल से मुक्त, पूरी तरह समभाव मे स्थित और आत्मा मे ही रमण करने वाला मन 'मनोगुप्ति' कहलाता है।

टिप्पण—यहाँ मनोगुप्ति के तीन रूप प्ररूपित किये गये हैं—१ आर्त्त-रौद्र ध्यानयुक्त कल्पनाओ का त्याग करना, २ मध्यस्थभाव धारण करना, और ३. मनोयोग का सर्वथा निरोध करना।

२ वचन-गुप्ति

संज्ञादिपरिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः सवृतिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥ ४२ ॥

संज्ञा आदि का त्याग करके सर्वथा मौन धारण कर लेना तथा भाषण सम्बन्धी व्यापार को सवरण करना 'वचन-गुप्ति' है।

टिप्पण—मुख, नेत्र, भौह आदि द्वारा किया जाने वाला या ककर आदि फेंक कर किया जाने वाला इशारा भी न करते हुए मौन धारण करना भी 'वचन-गुप्ति' है और यतनापूर्वक सिद्धान्त से अविरुद्ध भाषण करना भी 'वचन-गुप्ति' है। इस प्रकार मौनावलम्बन तथा सम्यग्-भाषण, यह वचन-गुप्ति के दो रूप है।

३ काय-गुप्ति

उपसर्गप्रसङ्गेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुने ।
स्थिरीभाव शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥ ४३ ॥

शयनासन-निक्षेपादान - चक्रमरोषु य ।
स्थानेषु चेष्टानियम , कायगुप्तिस्तु साऽपरा ॥ ४४ ॥

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आने पर भी, कायोत्सर्ग मे स्थित मुनि की काया की स्थिरता 'काय-गुप्ति' कहलाती है । उपसर्ग आने पर भी मुनि जब कायोत्सर्ग करके अपने शरीर के हलन-चलन आदि व्यापारो को रोक लेता है और शरीर से अडोल तथा अकप बन जाता है, तभी काय-गुप्ति होती है ।

सोने-बैठने, रखने-उठाने, आवागमन करने आदि-आदि क्रियाओ मे नियमयुक्त चेष्टा करना भी 'कायगुप्ति' है । यह दूसरी काय-गुप्ति कहलाती है ।

टिप्पण—गुप्ति का अर्थ है—गोपन करना अथवा निरोध करना । मन के, वचन के और काय के व्यापार को रोकना—क्रमश मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति है । पूर्वोक्त पाँचो समितियाँ इनका अपवाद है ।

आठ माताएँ

एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात् ।
सशोधनाच्च साधूना, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ॥ ४५ ॥

पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ साधुओ के चारित्र रूपी शरीर को जन्म देती हैं, उसका पालन-पोषण और रक्षण करती हैं और उसे विशुद्ध बनाती हैं, अत यह आठ माताएँ कही गई हैं ।

टिप्पण—बालक के शरीर को जन्म देना, जन्म देने के पश्चात्

उसका पालन-पोषण करना और उसे साफ-स्वच्छ रखना माता का काम है। इसी प्रकार चारित्र का जनन, रक्षण और सशोधन करने के कारण समितियाँ और गुप्तियाँ—चारित्र रूप शरीर की माताएँ कहलाती हैं। इनके अभाव मे प्रथम तो चारित्र की उत्पत्ति ही नही हो सकती, कदाचित् उत्पत्ति हो जाय तो उसकी रक्षा होना सभव नही है और फिर उसका विशुद्ध रहना तो सर्वथा असभव ही है। इसी कारण इन्हे प्रवचनमाता भी कहते हैं।

द्विविध चारित्र

सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम् ।
यतिधर्मानुरक्ताना, देशत. स्यादगारिणाम् ॥ ४६ ॥

यहाँ तक जिस चारित्र का कथन किया गया है, वह मुनि-धर्म का पालन करने के इच्छुक मुनियो का सर्व चारित्र या सर्वविरति चारित्र है। इसी चारित्र का एक देश से पालन करना श्रावक-चारित्र या देश-चारित्र कहलाता है। मुनिजन चारित्र का पूर्ण रूप से पालन करते है और श्रावक एक देश से परिपालन करते है।

टिप्पण—साधु का और श्रावक का चारित्र भिन्न-भिन्न नही है। दोनो के लिए चारित्र तो एक ही है, किन्तु उसके पालन करने की मात्रा अलग-अलग है। इस मात्रा-भेद का कारण उनकी योग्यता और परिस्थिति की भिन्नता है। गृहस्थ श्रावक मे न ऐसी योग्यता होती है और न उसकी ऐसी परिस्थिति ही होती है कि वह पूर्ण रूप से चारित्र का पालन कर सके। इसी कारण अधिकारी भेद को लेकर चारित्र के दो भेद किये गये है।

गृहस्थ-धर्म

न्यायसम्पन्नविभवः, शिष्टाचार प्रशंसक' ।
कुलशीलसमैः सार्द्ध", कृतोद्वाहोन्यगोत्रजै ॥ ४७ ॥

पापभीरु प्रसिद्धञ्च, देशाचार समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषत ।। ४८ ।।

अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेक - निर्गमद्वार - विवर्जित - निकेतन. ।। ४६ ।।

कृतसङ्ग सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजक. ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ।। ५० ।।

व्ययमायोचित कुर्वन्, वेष वित्तानुसारत. ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ।। ५१ ।।

अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यत ।
अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन् ।। ५२ ।।

यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ।। ५३ ।।

अदेशाकालयोश्चर्या, त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञान वृद्धाना, पूजक. पोष्यपोषकः ।। ५४ ।।

दीर्घदर्शी विशेषज्ञ., कृतज्ञो लोकवल्लभ ।
सलज्ज सदय सौम्य, परोपकृतिकर्मठ. ।। ५५ ।।

अन्तरङ्गारिषड्वर्ग - परिहार - परायण ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते ।। ५६ ।।

गृहस्थ-धर्म को पालन करने का पात्र वह होता है, जिसमे निम्न-लिखित विशेषताएँ हो—

१ न्याय-नीति से धन उपार्जन करे ।
२ शिष्ट पुरुषो के आचार की प्रशसा करने वाला हो ।
३ अपने कुल और शील मे समान भिन्न गोत्र वालो के साथ विवाह-सम्बन्ध करने वाला हो ।

४ पापों से डरने वाला हो ।

५ प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे ।

६ किसी की और विशेष रूप से राजा आदि की निन्दा न करे ।

७. ऐसे स्थान पर घर बनाए जो न एकदम खुला हो और न एक दम गुप्त भी हो ।

८ घर मे बाहर निकलने के द्वार अनेक न हो ।

९ सदाचारी पुरुषो की सगति करता हो ।

१०. माता-पिता की सेवा-भक्ति करे ।

११ रगडे-झगडे और बखेडे पैदा करने वाली जगह से दूर रहे, अर्थात् चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान मे न रहे ।

१२ किसी भी निन्दनीय काम मे प्रवृत्ति न करे ।

१३. आय के अनुसार व्यय करे ।

१४ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहने ।

१५. बुद्धि के आठ गुणो[१] से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म-श्रवण करे ।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन न करे ।

१७ नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे ।

१८. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुपार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न हो ।

१९. अतिथि, साधु और दीन—असहाय जनो का यथायोग्य सत्कार करे ।

२०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो ।

---

१ शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहण धारण तथा ।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञान, तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणा ॥

श्रवण करने की इच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारण, चिन्तन, अपोह, अर्थज्ञान और तत्त्वज्ञान—यह बुद्धि के आठ गुण है ।

२१ गुणो का पक्षपाती हो—जहाँ कही गुण दिखाई दें, उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशसा करे।

२२. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे।

२३ अपनी शक्ति और अशक्ति को समझे। अपने सामर्थ्य का विचार करके ही किसी काम मे हाथ डाले, सामर्थ्य न होने पर हाथ न डाले।

२४ सदाचारी पुरुषो की तथा अपने से अधिक ज्ञानवान् पुरुषो की विनय-भक्ति करे।

२५ जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करे।

२६ दीर्घदर्शी हो, अर्थात् आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।

२७ अपने हित-अहित को समझे, भलाई-बुराई को समझे।

२८ कृतज्ञ हो, अर्थात् अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करे।

२९ लोकप्रिय हो, अर्थात् अपने सदाचार एव सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करे।

३० लज्जाशील हो, निर्लज्ज न हो। अनुचित कार्य करने मे लज्जा का अनुभव करे।

३१ दयावान् हो।

३२ सौम्य हो। चेहरे पर शान्ति और प्रसन्नता झलकती हो।

३३ परोपकार करने मे उद्यत रहे। दूसरो की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे न हटे।

३४ काम-क्रोधादि आन्तरिक छह शत्रुओ को त्यागने मे उद्यत हो।

३५ इन्द्रियो को अपने वश मे रखे।

टिप्पण—बीज बोने से पहले क्षेत्र-शुद्धि की जाती है। ऐसा न किया जाए तो यथेष्ट फल की प्राप्ति नही होती और दीवार खडी करने से

पहले नीव मजबूत कर ली जाती है। नीव मजबूत न की जाय तो दीवार के किसी भी समय गिर जाने का खतरा रहता है। इसी प्रकार गृहस्थ-धर्म को अगीकार करने से पहले आवश्यक जीवन-शुद्धि कर लेना उचित है। यहाँ जो बाते बतलाई गई हैं, उन्हे गृहस्थ-धर्म की नीव या आधार-भूमि समझना चाहिए। इस आधार-भूमिका पर गृहस्थ-धर्म का जो भव्य प्रासाद खडा होता है, वह स्थायी होता है। उसके गिरने का भय नही रहता।

इन्हे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहते है। इनमे कई गुण ऐसे हैं जो केवल लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उन्हे गृहस्थ-धर्म का आधार बतलाने का अर्थ यह है कि वास्तव मे जीवन एक अखण्ड वस्तु है। अत लोक-व्यवहार मे और धर्म के क्षेत्र मे उसका विकास एक साथ होता है। जिसका व्यावहारिक जीवन पतित और गया-बीता होगा, उसका धार्मिक जीवन उच्च श्रेणी का नही हो सकता। अत व्रतमय जीवन यापन करने के लिए व्यावहारिक जीवन को उच्च बनाना परमावश्यक है। जब व्यवहार मे पवित्रता आती है, तभी जीवन धर्म-साधना के योग्य बन पाता है।

योगीश्वर भगवान महावीर ने आत्मा के साथ सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बन्ध को निश्चय दृष्टि से 'योग' कहा है। क्योंकि, ये रत्न-त्रय मोक्ष के साथ आत्मा का 'योग'—सम्बन्ध करा देते हैं।

—आचार्य हरिभद्र

मन, वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।

—भगवान महावीर

चित्त की वृत्तियों को वश मे रखना ही योग है।

—महर्षि पतंजलि

समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर निश्चिन्त—चिन्ताओ से मुक्त-उन्मुक्त हो जाना ही योग है। वस्तुत चिन्ता-मुक्ति का नाम योग है।

—महर्षि पतजलि

सर्वत्र समभाव रखने वाला योगि अपने को सब भूतों में और सब भूतो-प्राणियो को अपने मे देखता है।

—गीता

द्वितीय प्रकाश

श्रावक के बारह व्रत

सम्यक्त्वमूलानि पञ्चाणुव्रतानि गुणास्त्रय ।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥ १ ॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह गृहस्थो के बारह व्रत हैं। यह व्रत सम्यक्त्व-मूलक होने चाहिए। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही गृहस्थ का चारित्र सम्यक्-चारित्र कहलाता है।

टिप्पण—सम्यक्त्व के अभाव मे किया जाने वाला समस्त आचरण मिथ्या-चारित्र कहलाता है। मिथ्या-चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नही होती। वह ससार-भ्रमण का ही कारण होता है। सम्यक्त्व से दृष्टि निर्मल और सम बनती है। जब सम्यक्त्व नही होता है, तो लक्ष्य ही सही नही होता और उस दशा मे किया गया कठोर से कठोर अनुष्ठान भी यथेष्ट लाभदायक नही होता।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की पहली सीढी है। उसके अभाव मे न सम्यग्ज्ञान होता है और न सम्यक्-चारित्र ही हो सकता है।

सम्यक्त्व का स्वरूप

या देवे देवता - बुद्धिर्गुरौ च गुरुतामति ।
धर्मे च धर्मधी शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ २ ॥

सच्चे देव को देव समझना, सच्चे गुरु को गुरु मानना और सच्चे धर्म मे धर्म बुद्धि होना—सम्यक्त्व कहलाता है।

मिथ्यात्व का स्वरूप

अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्व तद्विपर्ययात् ॥ ३ ॥

कुदेव को देव मानना, कुगुरु को गुरु मानना और कुधर्म को धर्म समझना—मिथ्यात्व है, क्योकि इस प्रकार की समझ वास्तविकता से विपरीत है।

टिप्पण—जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप मे मानना—वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है और अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना 'मिथ्यात्व' है। इस कथन से यह भी प्रतिफलित होता है कि देव को कुदेव, गुरु को कुगुरु और धर्म को अधर्म समझना भी मिथ्यात्व है।

देव का लक्षण

सर्वज्ञो जितरागादि-दोपस्त्रैलोक्य-पूजित ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥ ४ ॥

जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारो को जिसने पूर्ण रूप मे जीत लिया हो, जो तीनो जगत् के द्वारा पूज्य हो और यथार्थ वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त भगवान् ही सच्चे देव है।

टिप्पण—चार अतिशय—सच्चे देवत्व की कसौटी है। वह चार अतिशय जिसमे पाये जाएँ, वही सच्चा देव है। वह अतिशय यह है—१ ज्ञानातिशय—केवलज्ञान, २ अपायापगमातिशय-वीतरागता-रागादि समस्त दोषो का नाश, ३ पूजातिशय—सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रो आदि के द्वारा पूज्य होना, तथा ४ वचनातिशय—यथार्थ वादित्व।

यह चार अतिशय अरिहन्त देव मे ही पाये जाते है । अत वही सच्चे देव है ।

देवोपासना की प्रेरणा

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमय शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्य, शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥ ५ ॥

अर्हन्-परमात्मा ही ध्यान करने योग्य हैं। वही उपासना करने योग्य हैं। उन्ही की शरण ग्रहण करना चाहिए। यदि तुम मे चेतना है, समझदारी है, विवेक है—तो अरिहन्त प्रभु के शासन-आदेश को स्वीकार करो।

कुदेव का लक्षण

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि-रागाद्यङ्ककलङ्किताः ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवा स्युर्न मुक्तये ॥ ६ ॥
नाट्याट्टहाससङ्गीताद्युपप्लवविसंस्थुला ।
लम्भयेयु पद शान्तं, प्रपन्नान् प्राणिन· कथम्? ॥ ७ ॥

जो राग के चिह्न स्त्री से युक्त है, द्वेष के चिह्न शस्त्र से युक्त हैं और मोह के चिह्न जपमाला से युक्त हैं, जो निग्रह और अनुग्रह करने मे तत्पर है, अर्थात् किसी का वध करने वाले और किसी को वरदान देने वाले है, ऐसे देव मुक्ति के कारण नही हो सकते ।

जो देव स्वय ही नाटक, अट्टहास एव सगीत आदि मे उलझे हुए है । जिनका चित्त इन सब आमोद-प्रमोदो के लिए तरसता है, वे ससार के प्राणियो को शान्ति-धाम—मोक्ष कैसे प्राप्त करा सकते हैं ?

टिप्पण जिसमे रागभाव की तीव्रता होगी, वही स्त्री को अपने समीप रखेगा । जिसमे द्वेष की वृत्ति विद्यमान होगी, वही शस्त्र धारण करेगा । जिसे विस्मृति आदि मोह का भय होगा, वही जपमाला हाथ मे रखेगा । अत स्त्री, शस्त्र और माला आदि क्रमश. राग, द्वेष और

मोह के द्योतक हैं । जो व्यक्ति इन दोषो के द्योतक चिह्नो को धारण करते हैं, वे राग-द्वेष और मोह से युक्त है । इसके अतिरिक्त किसी का वध वन्धन आदि निग्रह करना और किसी पर वरदान आदि देकर अनुग्रह करना भी राग-द्वेप का परिचायक है । इस प्रकार जिसमे यह सब दोष विद्यमान हैं, वह वास्तविक देव नही है । उसकी उपासना से मुक्ति नही मिल सकती ।

गुरु का लक्षरण

महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविन ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मता ।। ८ ।।

अहिंसा आदि पूर्वोक्त पाँच महाव्रतो को धारण करने वाले, परीषह और उपसर्ग आने पर भी व्याकुल न होने वाले, भिक्षा से ही उदर निर्वाह करने वाले, सदैव सामायिक—समभाव मे रहने वाले और धर्म का उपदेश देने वाले 'गुरु' कहलाते हैं ।

टिप्पण—महाव्रतो का पालन, धैर्य, भिक्षाजीवी होना और सामायिक मे रहना—साधु मात्र का लक्षण है । यह लक्षण प्रत्येक मुनि मे होता है, किन्तु 'धर्मोपदेशकता' गुरु का विशेष लक्षण है । साधु के गुणो से युक्त होते हुए जो धर्मोपदेशक होते हैं, वह गुरु कहलाते हैं ।

कुगुरु का लक्षरण

सर्वाभिलाषिण सर्वभोजिन सपरिग्रहा ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ।। ९ ।।
परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयु कथ परान् ?
स्वय दरिद्रो न परमीश्वरीकर्त्तुमीश्वर ।। १० ।।

अपने भक्तो के धन-धान्य आदि सभी पदार्थों की अभिलाषा रखने वाले, मद्य, मधु, मास आदि सभी वस्तुओ का आहार करने वाले,

परिग्रह से युक्त, ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नही है।

जो स्वय परिग्रह और आरम्भ मे आसक्त होने से ससार-सागर मे डूबे हुए है, वे दूसरो को किस प्रकार तार सकते हैं? जो स्वय ही दरिद्र है, वह दूसरे को ऐश्वर्यशाली क्या बनाएगा।

धर्म का लक्षण

दुर्गतिप्रपतत्प्राणि - धारणाद्धर्म उच्यते।
सयमादिदशविध सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥ ११ ॥

नरक और तिर्यञ्च गति मे गिरते हुए जीवो को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म कहलाता है। सर्वज्ञ के द्वारा कथित, सयम आदि के भेद से दस प्रकार का धर्म ही मोक्ष प्रदान करता है।

अपौरुषेयं वचनमसंभवि भवेद्यदि।
न प्रमाणं भवेद्वाचा, ह्याप्ताधीना प्रमाणता ॥ १२ ॥

अपौरुषेय वचन प्रथम तो असभव है, फिर भी यदि मान लिया जाय तो वह प्रमाण नही हो सकता। क्योकि वचन की प्रमाणता आप्त के अधीन है।

टिप्पण—ससार मे दो प्रकार के मत हैं—१ सर्वज्ञवादी, और २, असर्वज्ञवादी। जो मत किसी न किसी आत्मा का सर्वज्ञ होना स्वीकार करते है, वे 'सर्वज्ञवादी' कहलाते हैं। जो सर्वज्ञ का होना असभव मानते हैं, वे 'असर्वज्ञवादी' कहलाते हैं। सर्वज्ञवादी मत अपने आगम को सर्वज्ञोपदेश मूलक मानकर प्रमाणभूत मान लेते है, परन्तु असर्वज्ञवादी मत ऐसा नही मान सकते। उनसे पूछा जाता है कि आपके मत मे कोई सर्वज्ञ तो हो नही सकता, फिर आपके आगम की प्रमाणता का क्या आधार है? आपका आगम सर्वज्ञकृत नही है, तो उसे कैसे प्रमाण माना जाए? तब वे कहते हैं—हमारा आगम अपौरुषेय है। किसी भी पुरुष के द्वारा

उमकी रचना नही की गई है। वह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है।

यहाँ शास्त्रकार ने असर्वज्ञवादियो के इसी अपौरुपेयवाद का निराकरण किया है। शास्त्र मात्र वर्णात्मक होते हैं और वर्णो की उत्पत्ति कठ, तालु आदि स्थानो से तथा पुरुप के प्रयत्न से होती है। कभी कोई शव्द पुरुप के प्रयत्न के अभाव मे अपने आप गूंजता हुआ नही सुना जाता। ऐसी स्थिति मे अपौरुपेय शव्दो की कल्पना करना मिथ्या है। कोई भी आगम अपौरुपेय नही हो सकता।

तर्क के लिए आगम को अपौरुपेय मान भी लिया जाय तो भी उसकी प्रमाणता सिद्ध नही होती। वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता पर निर्भर है। जव वक्ता आप्त—प्रामाणिक होता है, तभी उसका वचन प्रामाणिक माना जाता है। अपौरुषेय आगम का वक्ता कोई आप्त पुरुप नही है, तो उसे प्रमाण भी किस प्रकार माना जा सकता है ?

कुधर्म का लक्षरण

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिसाद्यै कलुषीकृत ।
स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम् ।। १३ ।।

मिथ्या-दृष्टियो के द्वारा प्रवर्तित और हिंसा आदि दोषो से कलुषित धर्म, 'धर्म' के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी ससार-भ्रमण का ही कारण है।

सरागोऽपि हि देवश्चेद्, गुरुरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्म स्यात्, कष्ट-नष्ट हहा जगत् ।।१४।।

जो राग आदि दोषो से युक्त है, वह भी देव हो जाय, ब्रह्मचारी न होने पर भी गुरु हो जाय और दयाहीन भी धर्म हो जाय, तव तो हाय ! इस जगत् की क्या दुर्दशा होगी !

सम्यक्त्व के लक्षण

शम - सवेग - निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्य-लक्षणै ।
लक्षणै पञ्चभि सम्यक्, सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥१५॥

शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—इन पाँच लक्षणो से सम्यक्त्व का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है ।

टिप्पण—सम्यक्त्व आत्मा का एक शुभ परिणाम है । वह इन्द्रियगोचर नही है—तथापि शम, सवेग आदि लक्षणो से उसका अनुमान किया जा सकता है । शम आदि का अर्थ इस प्रकार है—

१. शम—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय न होना ।

२ सवेग—मोक्ष की अभिलाषा होना । सम्यग्दृष्टि जीव नरेन्द्रों और सुरेन्द्रो के सुख को भी दु ख रूप मानता है । वह उनकी अभिलाषा नही करता ।

३ निर्वेद—ससार के प्रति विरक्ति होना ।

४. अनुकम्पा—बिना भेदभाव से दुखी जीवो के दुःख को दूर करने की इच्छा होना । यह आत्मीय है या यह पराया है, ऐसा विकल्प न रखते हुए प्राणी मात्र के दु ख को दूर करने की इच्छा होना अनुकम्पा है । अनुकम्पा के दो भेद हैं—द्रव्यानुकम्पा और भावानुकम्पा । सामर्थ्य होने पर दुखी के दु ख का प्रतीकार करना 'द्रव्य-अनुकम्पा' है और हृदय में आर्द्र भाव उत्पन्न होना 'भाव-अनुकम्पा' है ।

५ आस्तिक्य—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो पर दृढ श्रद्धा होना ।

उक्त पाँच लक्षणो से अप्रत्यक्ष सम्यक्त्व भी जाना जा सकता है ।

सम्यक्त्व के पाँच भूषण

> स्थैर्य प्रभावना भक्ति, कौशल जिन-शासने ।
> तीर्थ-सेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते ॥१६॥

सम्यक्त्व के पांच भूपण कहे गये हैं—१ जिन-शासन मे स्थिरता, २ जिन-शासन की प्रभावना, ३ जिन-शासन की भक्ति, ४ जिन-शासन मे कौशल, और ५ चतुर्विध तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की मेवा। इन पाँच सद्‌गुणो से सम्यक्त्व भूपित होता है।

सम्यक्त्व के पाँच दूषण

> शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सा-मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
> तत्पस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्व दूषयन्त्यलम् ॥१७॥

यह पाँच दोष सम्यक्त्व को मलीन करते हैं—१ शका, २ काक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ मिथ्यादृष्टि-प्रशसा, और ५ मिथ्यादृष्टि-सस्तव। इनका अर्थ इस प्रकार है—

१ वीतराग के वचन मे सन्देह करना 'शका दोष' है। शका दो प्रकार की है—सर्व-विषय और देश-विषय। 'धर्म है या नही ?' इस प्रकार की शका को 'सर्व-विपय' शका कहते है। किसी वस्तु-विशेष के किसी विशेप धर्म मे सशय होना 'देश-विषय' शका है, जैसे—आत्मा है, किन्तु वह सर्वव्यापी है, अणुपरिमाण है या देहपरिमाण ?

२ अन्य दर्शनो को स्वीकार करने की इच्छा होना 'काक्षा दोप' कहलाता है। इसके भी शका की तरह दो भेद हैं।

३ धर्म के फल मे अविश्वास करना 'विचिकित्सा' है। मुनियो के मलीन तन को देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा है।

४ मिथ्यादृष्टियो की प्रशसा करना 'मिथ्यादृष्टि-प्रशसा' दोष कहलाता है।

५. मिथ्या दृष्टियो के साथ निरन्तर निवास करना, वार्त्तालाप करना, घनिष्ट परिचय करना 'मिथ्यादृष्टि-सस्तव' दोष है। ऐसा करने से, सम्यक्त्व के दूषित होने की सभावना रहती है, अत यह 'सम्यक्त्व' का दोष है।

पाँच अणुव्रत

विरति स्थूलहिसादेर्द्विविधत्रिविधादिना ।
अहिसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिना. ॥ १८ ॥

दो करण, तीन योग आदि से स्थूल हिसा आदि दोषो के त्याग को जिनेन्द्र देव ने अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत कहे है।

टिप्पण—यहाँ हिसा और अहिसा के साथ जोडे हुए आदि पद से यह समझना चाहिए कि स्थूल असत्य का त्याग करना 'सत्याणुव्रत' है, स्थूल स्तेय का त्याग करना 'अचौर्याणुव्रत' है, स्थूल मैथुन का त्याग करना, अर्थात् पर-स्त्री और पर-पुरुष के साथ काम-सेवन का त्याग करना 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' है और परिग्रह की मर्यादा करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' है।

मूल श्लोक मे 'द्विविध-त्रिविध' के साथ जो 'आदि' पद लगाया गया है, उसका आशय यह है कि सभी गृहस्थ एक ही प्रकार से हिंसा आदि का त्याग नही करते, किन्तु अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कोई किसी प्रकार से और कोई किसी प्रकार से त्याग करता है। द्विविध का अर्थ है—दो करण से और त्रिविध का अर्थ है तीन—योगों से।

स्वय करना, दूसरे से कराना और करने वाले का अनुमोदन करना, यह 'तीन करण' हैं। मन, वचन और काय, यह 'तीन योग' है।

स्थूल हिंसा आदि को त्यागने के गृहस्थो के प्रकार प्राय. यह हैं—
१. दो करण-तीन योग से, २. दो करण-दो योग से, ३. दो करण-

एक योग से, ४ एक करण-तीन योग से, ५ एक करण-दो योग से और ६ एक करण-एक योग से ।

कोई गृहस्थ अवस्था-विशेष मे तीन करण और तीन योग से भी त्याग करता है, किन्तु साधारण तौर पर नही । मतलब यह है कि गृहस्थ अपनी सुविधा, शक्ति और परिस्थिति के अनुसार स्थूल हिंसा आदि दोषो का त्याग करता है ।

जिस हिंसा को मिथ्या-दृष्टि भी हिंसा समझते हैं वह—त्रस प्राणियो की हिंसा 'स्थूल हिंसा' कहलाती है ।

हिसा विरति

पगुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफल सुधी ।
निरागस्त्रस जन्तूना, हिंसा सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥ १६ ॥

पगुपन, कोढीपन और कुणित्व आदि हिंसा के फलो को देखकर विवेकवान् पुरुष निरपराध त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा का त्याग करे ।

टिप्पण—लोक मे अनेक व्यक्ति लूले-लगडे, कई कोढी और कई टोंटे देखे जाते है । यह सव हिंसा के प्रत्यक्ष फल हैं । इन्हे देखकर बुद्धिमान मनुष्य पूर्ण हिंसा का त्याग न कर सके तब भी मारने की बुद्धि से निरपराध त्रस जीवो की हिंसा का अवश्य त्याग करे ।

आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुख - दु खे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टा, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥ २० ॥

अपने समान समस्त प्राणियो को सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय, ऐसा विचार कर मनुष्य को हिंसा का आचरण नही करना चाहिए। क्योकि जैसे अपनी हिंसा अपने को प्रिय नही है, उसी प्रकार दूसरो को भी अपनी हिंसा प्रिय नही हो सकती ।

निरर्थिका न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि ।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञ , काङ्क्षन्मोक्षमुपासक· ॥ २१ ॥

अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मुक्ति की अभिलाषा रखने वाला श्रावक स्थावर जीवो की भी निरर्थक हिंसा न करे ।

टिप्पण—पहले त्रस जीवो की हिंसा का निषेध किया गया है, उससे यह न समझ लिया जाय कि स्थावर जीवो की हिसा के विषय मे श्रावक के लिए कोई मर्यादा नही है । शरीर-निर्वाह और कुटुम्ब के पालन-पोषण की दृष्टि से ही गृहस्थ के लिए स्थावर जीवो की हिंसा का अनिवार्य निषेध नही किया गया है । इससे यह फलित होता है कि जो स्थावर हिंसा शरीर-निर्वाह आदि के लिए आवश्यक नही है, श्रावक को उसका त्याग करना चाहिए ।

> प्राणी प्राणित-लोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।
> तद्वधोत्थमघ सर्वोर्वी-दानेऽपि न शाम्यति ॥२२॥

जो प्राणी अपने जीवन के लोभ से राज्य का भी परित्याग कर देता है, उसके वध से उत्पन्न होने वाला पाप सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने पर भी शान्त नही हो सकता ।

टिप्पण—भूमिदान सब दानो मे श्रेष्ठ है, ऐसी लोक मान्यता है । उसी को लक्ष्य करके यहाँ बतलाया गया है कि हिसा के पाप को समस्त भूमडल का दान भी नष्ट नही कर सकता, अर्थात् हिंसा का पाप सब से बडा पाप है ।

हिसक की निन्दा

> वने निरपराधाना, वायुतोयतृणाशिनाम् ।
> निघ्नन् मृगाणा मासार्थी, विशिष्येत कथ शुनः? ॥२३॥
> दोर्यमाणः कुशेनापि य स्वागे हन्त दूयते ।
> निर्मन्तून् स कथ, जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ॥२४॥
> निर्मातु क्रूरकर्माण, क्षणिकामात्मनो धृतिम् ।
> समापयन्ति सकल, जन्मान्यस्य शरीरिण ॥२५॥

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुखित ।
मार्यमाण प्रहरणैर्दारुणै , स कथ भवेत् ॥२६॥

वन में निवास करने वाले, किसी का कुछ अपराध न करने वाले, हवा-पानी और घास खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मृगो की घात करने वाला मासार्थी पुरुष कुत्ते से किस बात मे बडा है ? वस्तुत उसमे और कुत्ते मे कोई अन्तर नही है ।

दूब की नोक से भी अपना अग विदारण करने पर जिसे पीडा का अनुभव होता है । अरे ! वही मनुष्य तीखे शस्त्रो से निरपराध प्राणियों का वध कैसे करता है ?

क्रूरकर्मी लोग अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे प्राणी के सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर देते हैं ।

'तुम मर जाओ', ऐसा कहने पर भी मनुष्य को दु ख का अनुभव होता है । ऐसी स्थिति मे भयानक शस्त्रो से हत्या करने पर उस बेचारे प्राणी की हालत कैसी होती होगी ?

हिंसा का फल

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च, सप्तम नरक गतौ ॥ २७ ॥

आगम मे प्रसिद्ध है कि जीव-हिंसा के द्वारा रौद्रध्यान मे तत्पर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती सातवें नरक के अतिथि बने !

हिंसा की निन्दा

कुणिर्वर वर पगुरशरीरो वर पुमान् ।
अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसापरायण ॥ २८ ॥

हिंसा से विरक्त लूला-लगडा एव हाथो से रहित तथा कोढ आदि रोग से युक्त व्यक्ति भी श्रेष्ठ है । परन्तु, हिंसा करने वाला सर्वाङ्ग-सम्पन्न होकर भी श्रेष्ठ नही है ।

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥ २९ ॥

विघ्नो को शान्त करने के प्रयोजन से की हुई हिंसा भी विघ्नो को ही उत्पन्न करती है और कुल के आचार का पालन करने की बुद्धि से भी की हुई हिंसा-कुल का विनाश कर देती है ।

अपि वंशक्रमायाता, यस्तु हिंसा परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठ. सुलस इव, कालसौकरिकात्मज ॥ ३० ॥

जो मनुष्य वश परम्परा से चली आ रही हिंसा का त्याग कर देता है, वह कालसौकरिक के पुत्र सुलस की भाँति अत्यन्त प्रशंसनीय होता है ।

दमो देव - गुरूपास्तिर्दानमध्ययन तपः ।
सर्वमप्येतदफल, हिसा चेन्न परित्यजेत् ॥ ३१ ॥

यदि कोई मनुष्य हिंसा का परित्याग नही करता है तो उसका इन्द्रिय-दमन, देवोपासना, गुरु-सेवा, दान, अध्ययन और तप—यह सब निष्फल है ।

हिंसा के उपदेशक

विश्वस्तो मुग्धधीर्लोक, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकै. ॥ ३२ ॥

खेद है कि हिंसामय शास्त्रो के दयाहीन उपदेश और मासलोलुप उपदेशको ने अपने ऊपर विश्वास रखने वाले मूढ लोगो को नरक के महागर्त मे गिरा दिया ।

साराश यह है कि भोले लोगो ने समझा कि यह शास्त्रकार हमे स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग बतलाएँगे, परन्तु वे मास के लोलुप थे और दया से विहीन थे । अत उन्होने अपने भक्तो को नरक का मार्ग दिखलाया ।

हिंसक शास्त्रो का विधान

यज्ञार्थ पशव सृष्टा, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ।। ३३ ।।

प्रजापति ब्रह्मा ने स्वय ही यज्ञ के लिए पशुओ की सृष्टि की है। यज्ञ इस समस्त जगत् की विभूति के लिए किया जाता है। अत. यज्ञ मे होने वाली हिंसा, हिंसा नही है।

टिप्पण—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेद मे जिस हिंसा का विधान किया गया है, वह हिंसा—हिंसा नही है, यह याज्ञिक लोगो का मन्तव्य है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि यज्ञ के लिए मारे हुए प्राणी स्वर्ग प्राप्त करते हैं। मारने वाले और मरने वाले को भी जब स्वर्ग प्राप्त होता है, तब वह हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है ? इसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

औषध्य पशवो वृक्षास्तिर्यञ्च पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधन प्राप्ता, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुन ।। ३४ ।।

जो दूर्वा आदि औषधियाँ, बकरा आदि पशु यूप आदि वृक्ष, गाय और घोडा आदि तिर्यञ्च और कपिञ्जल आदि पक्षी—यज्ञ के निमित्त मारे जाते हैं, वे देव आदि ऊँची योनियो को प्राप्त होते हैं।

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनु ।। ३५ ।।

मधुपर्क मे, यज्ञ मे, पितृकर्म मे और देवकर्म मे ही पशुओ की हिंसा करनी चाहिए, इनके सिवाय दूसरे प्रसगो पर नही करनी चाहिए। ऐसा मनु ने विधान किया है।

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्, वेदतत्त्वार्थविद् द्विज ।
आत्मान च पशू श्चैव, गमयत्युत्तमा गतिम् ।। ३६ ।।

इन पूर्वोक्त प्रयोजनो के लिए पशुओ की हिंसा करने वाला, वेद के मर्म का ज्ञाता द्विज—ब्राह्मण अपने आपको और उन मारे जाने वाले पशुओ को उत्तम गति मे ले जाता है। ऐसा मनु का कथन है।

नास्तिक से अधम

ये चक्रु क्रूरकर्माण शास्त्र हिंसोपदेशकम्।
क्व ते यास्यन्ति नरके, नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिका ॥३७॥

जिन क्रूरकर्मा ऋषियो ने हिंसा का उपदेश करने वाले ग्रन्थ बनाये हैं, वे नास्तिको से भी नास्तिक है और ये अधम लोग न जाने किस नरक मे जाएँगे ?

वर वराकश्चार्वाको, योऽसौ प्रकट-नास्तिक ।
वेदोक्तितापसच्छद्मच्छन्न , रक्षो न जैमिनि ॥ ३८ ॥

इनसे चार्वाक ही अच्छा है, जो प्रकट रूप से नास्तिक है। वह जैसा है, वैसा ही अपने को प्रकट भी करता है। किसी को धोखा नही देता। किन्तु वेद की वाणी और तापसो के वेष मे अपनी वास्तविकता को छिपाने वाला जैमिनि चार्वाक से भी ज्यादा खतरनाक है। यह तो वेद के नाम पर हिंसा का विधान करके भोले लोगों को भ्रम मे डालता है।

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गत-घृणा, घोरा ते यान्ति दुर्गतिम् ॥३९॥

भैरो-भवानी आदि देवो को बलि चढाने के बहाने से अथवा यज्ञ के बहाने से, जो निर्दय लोग प्राणियो की हिंसा करते है, वे नरक आदि घोर दुर्गतियो को प्राप्त होते हैं।

टिप्पण—देव-पूजा के लिए या यज्ञ के लिए जीव हिंसा की आवश्यकता नही है। यह कार्य तो दूसरे प्रकार से भी हो सकते है। फिर भी जो इनको उद्देश्य करके त्रस जीवो की हिंसा करते है, वे देव-पूजा और यज्ञ का बहाना मात्र करते हैं। वस्तुत वे अपनी

मास-लोलुपता की अभिलाषा को ही पूर्ण करते है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यहाँ 'व्याज'—बहाना शब्द दो बार दिया गया है।

शमशीलदयामूल हित्वा, धर्म जगद्धितम्।
अहो हिंसाऽपि धर्माय, जगदे मन्द-बुद्धिभि ॥ ४० ॥

शम—कषायो और इन्द्रियो पर विजय और शील—दया और प्राणियो की अनुकम्पा, यह सब जिसके मूल है और जो प्राणीमात्र का हितकारी है, ऐसे धर्म का परित्याग करके मन्द-बुद्धि जनो ने हिंसा को भी धर्म का साधन कहा है।

श्राद्ध की हिंसा

परपक्ष का कथन

हविर्यच्चिररात्राय, यच्चानन्त्याय कल्पते।
पितृभ्यो विधिवद्दत्त, तत्प्रवक्ष्याम्यशेषत ॥ ४१ ॥

पितरो को विधिपूर्वक दी हुई हवि या दिया हुआ श्राद्ध-भोजन दीर्घकाल तक उनको तृप्ति प्रदान करता है और कोई अनन्तकाल तक तृप्ति देता है। वह सब मैं पूर्ण रूप से कहूँगा।

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मास प्रीयन्ते, विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ ४२ ॥

पितरो को विधिपूर्वक तिल, व्रीहि, यव, उडद, जल और मूल-फल देने से एक मास तक तृप्ति होती है। इन वस्तुओ से श्राद्ध किया जाय तो मृत पितर एक महीने तक तृप्त रहते हैं।

द्वौ मासौ मत्स्यमासेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुर, शाकुनेनेह पञ्च तु ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार मत्स्य के मास से दो मास तक, हिरण के मास से तीन मास तक, मेढ़े के मास से चार मास तक और पक्षियो के मास से पाँच महीने तक पितरो की तृप्ति रहती है।

षण्मासारछाग मासेन, पार्षतेनेह सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मासेन, रौरवेण नवैव तु ॥ ४४ ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराहमहिषामिषै ।
शशकूर्मयोर्मासेन, मासानेकादशैव तु ॥ ४५ ॥
संवत्सर तु गव्येन, पयसा पायसेन तु ।
वार्ध्रीणसस्य मासेन, तृप्तिर्द्वादश वार्षिकी ॥ ४६ ॥

बकरे के मास से छह माह तक, पृषत के मास से सात मास तक, एण के मास से आठ मास तक और रुरु के मास से नौ मास तक पितर तृप्त रहते है। यहाँ पृषत, एण और रुरु मृगो की अलग-अलग जातियाँ हैं।

वराह—जगली शूकर एव भैसा के मास से दस मास तक और शशक तथा कछुवे के मास से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त रहते हैं।

गौ के दूध से, खीर से और बूढे बकरे के मास से बारह वर्ष के लिए पितरो की तृप्ति हो जाती है।

टिप्पण—यहाँ ४१ से ४६ तक के श्लोको मे पितरो के निमित्त की जाने वाली हिंसा के प्ररूपक शास्त्रो का मत प्रदर्शित किया है। यह श्लोक भी उन्ही शास्त्रो के हैं। यहाँ जो कुछ कहा है, वह स्पष्ट ही है। अब स्वय शास्त्रकार इस मन्तव्य का खण्डन करते है।

इति स्मृत्यनुसारेण, पितृणा तर्पणाय या ।
मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गतिहेतवे ॥ ४७ ॥

इस पूर्वोक्त स्मृति के अनुसार पितरो की तृप्ति के लिए, मूढ जनो के द्वारा की जाने वाली हिंसा भी नरक आदि दुर्गतियो का ही कारण है। तात्पर्य यह है कि भले ही हिंसा शास्त्र की आज्ञा के अनुसार की गई हो या उसका उद्देश्य पितरो का तर्पण करना हो, फिर भी वह पाप रूप ही है। उससे दुर्गति के अतिरिक्त सुगति प्राप्त नही हो सकती।

अहिंसक को भय नहीं

> यो भूतेष्वभय दद्याद्, भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
> यादृग्वितीर्यते दान, तादृगासाद्यते फलम् ।। ४८ ।।

जो मनुष्य प्राणियो को अभयदान देता है, उसे उन प्राणियो की ओर से भय नही रहता है। जैसा दान दिया जाता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है ।

> कोदण्डदण्डचक्रासि - शूलशक्तिधरा सुरा ।
> हिंसका अपि हा कष्ट, पूज्यन्ते देवताधिया ॥ ४९ ॥

धनुष, दण्ड, चक्र, खड्ग, त्रिशूल और शक्ति को धारण करने वाले हिंसक देवो को भी लोग देव समझ कर पूजते हैं। इससे अधिक खेद की बात क्या हो सकती है ?

टिप्पण—हिंसा की भावना के अभाव मे शस्त्र धारण नही किये जाते। अत जो शस्त्रधारी है, वह हिंसक होना ही चाहिए। जो देव शस्त्रधारक हैं, उन्हे देव समझ कर पूजना बडे खेद की बात है ।

राम धनुषधारी है, यम दडधारी है, विष्णु चक्र एव खड्ग-धारी हैं, शिव त्रिशूलधारी हैं और कुमार शक्ति-शस्त्र को धारण करते हैं ।

यहाँ शस्त्रो के थोडे नामो का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त जो देव जिस किसी भी शस्त्र का धारक है, वह सब यहाँ समझ लेना चाहिए। शस्त्रधारी देवी-देवताओ की कल्पना हिंसाप्रिय लोगो की कल्पना है ।

अहिंसा की महिमा

> मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
> अहिंसैव हि ससारमरावमृतसारणि ॥ ५० ॥
> अहिंसा दु खदावाग्नि-प्रावृषेण्य घनावली।
> भवभ्रमिरुगार्त्तानामहिंसा परमौषधी ॥ ५१ ॥

अहिंसा माता के समान समस्त प्राणियो का हित करने वाली है। अहिंसा ससार रूपी मरुस्थल मे अमृत की नहर है। अहिंसा दुख रूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघो की घनघोर घटा है। अहिंसा भव-भ्रमण रूपी रोग से पीडित जनो के लिए उत्तम औषध है।

टिप्पण—हिंसा विष और अहिंसा अमृत है। हिंसा मृत्यु और अहिंसा जीवन है। अहिंसा के आधार पर ही जगत् का टिकाव है। अहिंसा का अभाव जगत् मे महाप्रलय उपस्थित कर सकता है। ससार मे जो थोडा-बहुत सुख और शान्ति है, तो वह अहिंसा माता का ही प्रभाव है। अहिंसा ही सुख-शान्ति का मूल है।

अहिंसाव्रत का फल

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता।
अहिंसाया. फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥ ५२ ॥

दीर्घ आयु, श्रेष्ठ रूप, नीरोगता एव प्रशसनीयता—यह सब अहिंसा के ही फल है। वस्तुत. अहिंसा सभी मनोरथो को सिद्ध करने वाली कामधेनु है।

टिप्पण—मनुष्य अन्य प्राणियो की आयु का विनाश न करने के कारण इस जन्म मे दीर्घ आयु पाता है, दूसरे के रूप को नष्ट न करने के फलस्वरूप प्रशस्त रूप प्राप्त करता है, अन्य को अस्वस्थता उत्पन्न न करने से नीरोगता पाता है और अभयदान देने के कारण प्रशसा का पात्र बनता है। दुनिया मे कोई ऐसा मनोरथ नही है, जो अहिंसा के द्वारा पूर्ण न हो सके।

असत्य का फल

मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम्।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालोकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥ ५३ ॥

मन ही मन मे बोलना—दूसरो को मन की बात कहने की शक्ति का न होना 'मन्मनत्व' दोष है। जीभ के लथडा-लडखडाजाने से स्पष्ट उच्चारण करने का सामर्थ्य न होना 'काहलत्व' दोष है। वचनो का उच्चारण ही न कर सकना 'मूकत्व' दोष है। मुख में विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो जाना 'मुखरोगिता' दोष कहलाता है। यह सब असत्य भाषण करने के फल हैं। इन फलो को देखकर श्रावक को कन्यालीक आदि स्थूल असत्य भाषण का त्याग करना चाहिए।

असत्य के भेद

कन्यागोभूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा।
कूटसाक्ष्यञ्च पञ्चेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन् ॥ ५४ ॥

जिनेन्द्र देव ने १ कन्यालीक, २ गो-अलीक, ३ भूमि-अलीक, ४ न्यासापहार और ५ कूट-साक्षी, यह पाँच स्थूल असत्य कहे हैं।

टिप्पण—कन्या के सम्बन्ध मे मिथ्या भाषण करना 'कन्यालीक' कहलाता है, जैसे—सुरूप को कुरूप कहना। गाय के विषय मे असत्य बोलना 'गो-अलीक' कहलाता है, जैसे—थोडा दूध देने वाली गाय को बहुत दूध देने वाली कहना या बहुत दूध देने वाली को थोडा दूध देने वाली कहना। भूमि के विषय मे मिथ्या भाषण करना 'भूम्यलीक' है, जैसे—पराई जमीन को अपनी कहना या अपनी को पराई कह देना। दूसरे की धरोहर—अमानत को हजम कर जाना 'न्यासापहार' कहलाता है। कचहरी या पचायत आदि मे झूठी साक्षी देना 'कूट-साक्षी' है। इस तरह यह पाँच प्रकार का स्थूल असत्य है।

यहाँ 'कन्या', 'गो' और 'भूमि' शब्द उपलक्षण मात्र है। अत इन शब्दो से इनके समान अन्य पदार्थों का भी ग्रहण समझना चाहिए जैसे—'कन्या' शब्द से लडका, स्त्री, पुरुष आदि समस्त द्विपदो—दो पैर वालो का ग्रहण होता है। 'गो' शब्द से बैल, भैंस आदि सब चतुष्पदो को समझना

चाहिए और 'भूमि' शब्द से वृक्ष आदि भूमि से पैदा होने वाले सब अपद द्रव्यो का ग्रहण करना चाहिए।

इस स्पष्टीकरण का तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी द्विपद के विषय मे मिथ्या भाषण करना 'कन्यालीक', किसी भी चतुष्पद के विषय मे मिथ्या भाषण करना 'गो-अलीक' और किसी भी अपद के विषय मे असत्य बोलना 'भूमि-अलीक' कहलाता है।

प्रश्न—ऐसा अर्थ है तो कन्या, गो और भूमि के बदले क्रमशः द्विपद, चतुष्पद एव अपद शब्दो का ही व्यवहार क्यो नही किया गया ?

उत्तर—लोक मे कन्या, गाय और भूमि के सम्बन्ध मे झूठ बोलना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता है। इसलिए लोक-प्रसिद्धि के अनुसार 'कन्या' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। फिर भी इन शब्दो का व्यापक अर्थ ही लेना चाहिए।

सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् ।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥ ५५ ॥

कन्यालीक, गो-अलीक और भूमि-अलीक—लोक से विरुद्ध है। न्यासापहार—विश्वासघात का जनक है और कूटसाक्षी—पुण्य का नाश करने वाली है। अत श्रावक को स्थूलमृषावाद नही बोलना चाहिए।

असत्य का परित्याग

असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्य परिवर्जयेत् ॥ ५ ॥

असत्यवचनं प्राज्ञ., प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयासि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमा· ॥ ५७ ॥

असत्यवचनाद् - वैरविपादाप्रत्ययादय· ।
प्रादु:षन्ति न के दोषा, कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥५८॥

असत्य भाषण करने से लोग उसे तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं। असत्य बोलने से मनुष्य निन्दा का पात्र बनता है, बदनाम हो जाता है। असत्य भाषण से अधोगति की प्राप्ति होती है। अत ऐसे अनर्थकर असत्य का परित्याग करना ही श्रेष्ठ है।

क्रोध या लोभ आदि के आवेश मे आकर असत्य बोलने की बात तो दूर रही, विवेकवान् पुरुष को प्रमाद से—असावधानी, सशय या अज्ञान से भी असत्य नही बोलना चाहिए। जैसे आंधी से बडे-बडे पेड गिर जाते हैं, उसी प्रकार असत्य से कल्याण का नाश होता है।

जैसे कुपथ्य के सेवन से व्याधियां उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार असत्य वचन से वैर-विरोध, विषाद-पश्चात्ताप और अविश्वास आदि कौन-कौन से दोष उत्पन्न नही होते ? मिथ्या भाषण करने से सभी दोषो की उत्पत्ति हो जाती है।

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु।
उत्पद्यन्ते मृषावाद-प्रसादेन शरीरिण ॥५९॥

असत्य भाषण के प्रसाद से जीव निगोद मे, तिर्यञ्च गति मे तथा नारकों मे उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—पहले असत्य भाषण का इसी लोक मे होने वाला फल बतलाया गया था। यहाँ उसका पारलौकिक फल दिखलाया गया है।

सत्य और असत्य-भाषी

ब्रूयाद् भियोपरोधाद्वा, नासत्य कलिकार्यवत्।
यस्तु ब्रूते स नरक, प्रयाति वसुराजवत् ॥६०॥

कालिकाचार्य की तरह मृत्यु आदि के भय से या शील-सकोच के कारण भी असत्य भाषण नही करना चाहिए। जो इन कारणो से असत्य भाषण करता है, वह नरक गति को प्राप्त करता है।

पर-पीड़ाकारी वचन

न सत्यमपि भाषेत, पर-पीडाकरं वचः ।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात् कौशिको नरकं गतः ॥६१॥

जो वचन लोक मे भले ही सत्य कहलाता हो, किन्तु दूसरे को पीडा उत्पन्न करने वाला हो, वह भी नही बोलना चाहिए । लोक मे भी सुना जाता है कि ऐसा वचन बोलने से कौशिक नरक मे गया ।

टिप्पण—कौशिक नामक एक तापस अपने आश्रम मे रहता था । एक वार कुछ चोर उसके आश्रम के समीप वन मे छिप गए । कौशिक सन्यासी ने उन्हे वन मे प्रवेश करते देखा था । चोरो ने जिस गाँव मे चोरी की थी, वहाँ के लोग तापस के पास आये । उन्होने आकर पूछा—महात्मन् ! आपको ज्ञात है कि चोर किस ओर गए है ? धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ तापस ने चोरो को बतला दिया । तापस के कहने पर शस्त्र-सज्जित ग्रामीणजनो ने वहाँ पहुँच कर चोरो को मार डाला ।

इस प्रकार जो वचन तथ्य होने पर भी पीडाकारी हो, वह भी असत्य मे ही परिगणित है । कौशिक तापस ऐसे वचन बोलकर आयु पूर्ण होने पर नरक मे उत्पन्न हुआ ।

अल्प असत्य भी त्याज्य

अल्पादपि मृषावादाद्रौरवादिषु संभवः ।
अन्यथा वदता जैनी वाचं त्वहह का गतिः ? ॥६२॥

लोक सम्बन्धी अल्प असत्य बोलने से भी रौरव एव महारौरव आदि नरको मे उत्पत्ति होती है, तो जिनवाणी को अन्यथा रूप मे बोलने वालो की, क्या गति होगी ? उन्हे तो नरक से भी अधिक अधम गति प्राप्त होती है ।

सत्यवादी की प्रशंसा

ज्ञान-चारित्रयोर्मूल, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्रीक्रियते, तेषा चरण-रेणुभि. ।।६३।।

जो सत्पुरुष ज्ञान और चारित्र के कारणभूत सत्य वचन ही बोलते हैं, उनके चरणो की रज पृथ्वी को पावन बनाती है ।

सत्यवादी का प्रभाव

अलीक ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधना ।
नापराद्धुमल तेभ्यो - भूतप्रेतोरगादय ।।६४।।

सत्यव्रत रूप महाधन से युक्त महापुरुष मिथ्या भाषण नही करते हैं। अत भूत, प्रेत, सर्प, सिह, व्याघ्र आदि उनका कुछ भी नही बिगाड सकते हैं।

टिप्पण—सत्य के प्रचण्ड प्रभाव से भूत-प्रेत आदि भी प्रभावित हो जाते हैं। सत्य के सामने उनकी भी नही चलती ।

अदत्तादान का फल

दौर्भाग्य प्रेष्यता दास्यमङ्गच्छेद दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफल ज्ञात्वा, स्थूलस्तेय विवर्जयेत् ।।६५।।

अदत्तादान के अनेक फल हैं। जैसे—अदत्तादान करने वाला आगे चलकर अभागा होता है, उसे दूसरो की गुलामी करनी पडती है, दास होना पडता है, उसके अगोपागो का छेदन किया जाता है और वह अतीव दरिद्र होता है। इन फलो को जानकर श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करे ।

टिप्पण—जिस वस्तु का जो न्यायत' स्वामी है, उसके द्वारा दी हुई वस्तु को लेना दत्तादान कहलाता है और उसके विना दिए उसकी वस्तु

ग्रहण करना 'अदत्तादान' है। अदत्तादान का त्याग महाव्रत भी है और अणुव्रत भी है। घास का तिनका, रास्ते का ककर और धूल भी बिना दिए ग्रहण न करना—अदत्तादान-विरमण महाव्रत है। इसका पालन मुनिजन ही करते हैं।

श्रावको के लिए स्थूल अदत्तादान के त्याग का विधान है। जिस अदत्तादान—चोरी को करने से व्यक्ति लोक मे 'चोर' कहलाता है, जिसके कारण राजदण्ड मिलता है और लोकनिन्दा होती है, वह स्थूल अदत्तादान कहलाता है। श्रावक के लिए ऐसा अदत्तादान अवश्य ही त्याज्य है।

अदत्तादान का परिहार

पतितविस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम्।
अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित् सुधीः ॥६६॥

किसी की कोई वस्तु सवारी आदि से गिर पडी हो, कोई कही रखकर भूल गया हो, गुम हो गई हो, स्वामी के पास रखी हो, तो उसे उसकी अनुमति के बिना बुद्धिमान् पुरुष, किसी भी परिस्थिति मे—कैसा भी सकट क्यो न आ पडा हो, उसे ग्रहण न करे।

चौर्य-कर्म की निन्दा

अयं लोकः परलोको, धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः।
मुष्णता परकीयं स्व, मुषितं सर्वमप्यद ॥६७॥

जो पराये धन का अपहरण करता है, वह अपने इस लोक को, परलोक को, धर्म को, धैर्य को, स्वास्थ्य को और हिताहित के विवेक को हरण करता है। दूसरे के धन को चुराने से इस लोक मे निन्दा होती है, परलोक मे दुःख का सवेदन पडता हैं, धर्म एव धीरज का और सन्मत्ति का नाश हो जाता है।

चौर्य-कर्म महापाप है

एकस्यैक क्षणं दु ख, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीव हृते धने ॥६८॥

मारे जाने वाले जीव को, अकेले को और एक क्षण के लिए दु ख होता है। किन्तु जिसका धन हरण कर लिया जाता है, उसे और उसके पुत्र एव पौत्र को जीवन भर के लिए दु ख होता है।

टिप्पण—प्राण हरण करने पर जिसके प्राण हरण किए जाते हैं, उसी को कष्ट होता है, दूसरो को नही। पर, धन हरण करने पर धन के स्वामी को भी कष्ट होता है और उसके पुत्रो एव पौत्रो को भी कष्ट होता है। और मृत्यु के समय क्षण भर ही दु ख का सवेदन होता है, परन्तु धन का अपहरण करने पर धनवान् को जिन्दगी भर दु ख बना रहता है। इन दो कारणो से अदत्तादान, हिंसा से भी बडा पाप है।

चोरी का फल

चौर्य्यपाप-द्रुमस्येह, वध-बन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु, फल ' नरक-वेदना ॥६९॥

चोरी के पाप रूप पादप के फल दो भागो मे विभक्त किये जा सकते हैं—१ इहलोक सम्बन्धी, २ और परलोक सम्बन्धी। चोरी से इस लोक मे वध, बन्धन आदि फल प्राप्त होते हैं और परलोक मे नरक की भीषण वेदना का सवेदन करना पडता है।

दिवसे वा रजन्या वा, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।
सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्य नर क्वचित् ॥७०॥

चौर्य कर्म करने के कारण मनुष्य कही भी स्वस्थ-निश्चिन्त नही रह पाता। दिन मे और रात मे, सोते समय और जागते समय, सदा-सर्वदा वह सशल्य—चौर्य-कर्म की चुभन से बेचैन ही बना रहता है।

मित्रपुत्रकलत्राणि, भ्रातरः पितरोऽपि हि ।
संसजन्ति क्षणमपि, न म्लेच्छैरिव तस्करैः ॥७१॥

चोरी करने वाले के मित्र, पुत्र, पत्नी, भाई-वधु और पिता आदि स्वजन भी उससे मिलना पसद नही करते । जैसे अनार्य से कोई नही मिलता, उसी प्रकार चोर से भी कोई नही मिलना चाहता ।

टिप्पण—चोरी करने वाला दूसरो की दृष्टि मे तो गिर ही जाता है, परन्तु अपने आत्मीय जनो की निगाह मे भी गिर जाता है । चोर का ससर्ग करना भी पाप है, ऐसा समझ कर उसके कुटुम्बी भी उससे दूर रहने मे ही अपना कल्याण समझते है । वे उसे म्लेच्छ के समान समझते हैं ।

नीति मे चोर का सग करना भी महापाप माना है ।

ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्ससर्गञ्च पञ्चमम् ॥

ब्रह्म-हत्या, मदिरा-पान, चोरी और गुरु की पत्नी के साथ गमन करना, यह महापातक है और इन पातको को करने वालो से ससर्ग रखना पाँचवाँ महापाप है ।

संबन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मण्डूकवन्नृपैः ।
चौरोऽपित्यक्त चौर्य:स्यात्स्वर्गभाग्रौहिणेयवत् ॥७२॥

राजा चोरी करनेवाले अपने सम्बन्धी को भी दडित करते है और चोर भी चोरी का त्याग करके, रौहिणेय की तरह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है ।

दूरे परस्य सर्वस्वमपहर्तु मुपक्रमः ।
उपाददीत नादत्तं तृणमात्रमपि क्वचित् ॥७३॥

दूसरे के सर्वस्व का अपहरण करने का प्रयत्न करना तो दूर रहा, स्वामी के विना दिए एक तिनका भी ग्रहण करना उचित नही है।

अचौर्य का फल

परार्थग्रहणे येषा नियम शुद्धचेतसाम् ।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषा स्वयमेव स्वयवरा ॥७४॥

अनर्था दूरतो यान्ति साधुवाद प्रवर्त्तते ।
स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते स्फुटमस्तेयचारिणाम् ॥७५॥

शुद्ध चित्त से युक्त जिन पुरुषो ने पराये धन को ग्रहण करने का त्याग कर दिया है, उनके सामने स्वय लक्ष्मी, स्वयवरा की भाँति चली आती हैं। उनके समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं। सर्वत्र उनकी प्रशसा होती है और उन्हे स्वर्ग के सुख प्राप्त होते है।

स्वदार-सन्तोष व्रत

षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेद, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधी ।
भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥७६॥

व्यभिचारी पुरुष परलोक मे षण्ढ-नपुसक होता है और इस लोक मे इन्द्रिय-च्छेद आदि दुष्फल भोगता है। इस अनिष्ट फल को देखकर बुद्धिमान् पुरुष स्वदार-सन्तोषी बने अथवा परस्त्री-सेवन का त्याग करे।

टिप्पण—श्रावक के ब्रह्मचर्य-व्रत के सम्बन्ध मे कई प्रकार का परम्परा-भेद पाया जाता है। साधारणतया इस व्रत का स्वरूप यह है कि विधिपूर्वक अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियो के साथ गमन करने का त्याग किया जाए, किन्तु कुछ आचार्य इस व्रत के दो खड करते हैं—१. स्वस्त्री-सन्तोष और, २ परस्त्रीत्याग।

स्वस्त्री-सन्तोष व्रत का परिपालक श्रावक अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के साथ गमन करने का त्याग करता है, किन्तु परस्त्री

त्याग-व्रत को ग्रहण करने वाला दूसरो की विवाहित स्त्रियो का ही त्याग करता है।

गृहस्थ के व्रतो के लिए, साधुओ के महाव्रतो की तरह, एक निश्चित रूप नही है। श्रावक अपनी योग्यता के अनुसार त्याग करता है। अत. उसके त्याग मे विविधता है। तथापि चतुर्थ अणुव्रत का ठीक-ठीक प्रयोजन तभी सिद्ध होता है, जब कि वह स्वदार-सन्तोषी वन कर परस्त्री-गमन का परित्याग कर दे। ऐसा करने पर ही उसकी वासना सीमित हो सकती है। परन्तु जिसका हृदय इतना दुर्वल है कि परस्त्री-मात्र का त्याग नही कर सकता, उन्हे भी कम से कम, पर-विवाहिता स्त्री से सम्पर्क करने का त्याग तो करना ही चाहिए। इसी दृष्टिकोण से यहाँ चतुर्थ अणुव्रत के दो रूप वताए गए हैं।

मैथुन-निन्दा

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम्॥७७॥

मैथुन प्रारम्भ मे तो रमणीय मालूम पडता है, किन्तु परिणाम मे अत्यन्त भयानक है। वह किंपाक फल के समान है। जैसे किंपाक फल सुन्दर दिखलाई देता है, किन्तु उसके खाने से मृत्यु हो जाती है, इसी प्रकार मैथुन-सेवन ऊपर-ऊपर से रमणीय लगने पर भी आत्मा की घात करने वाला है। कौन विवेकवान् पुरुष ऐसे मैथुन का सेवन करेगा ?

टिप्पण—साधारणतया स्त्री और पुरुष का जोडा 'मिथुन' कहलाता है। उनकी रति-चेष्टा को 'मैथुन' कहते हैं। किन्तु 'मैथुन' शब्द का वास्तविक अर्थ इतना सकीर्ण नही है। वासना को उत्तेजित करने वाली कोई भी काम—राग जनित चेष्टा 'मैथुन' ही कहलाती है, चाहे वह चेष्टा स्त्री-पुरुष के साथ हो, स्त्री-स्त्री के साथ हो, पुरुष-पुरुष के साथ हो या मनुष्य एव पशु के साथ की जा रही हो।

मैथुन का परिणाम बडा ही भयानक होता है। अतः प्रवुद्ध-पुरुष पहले से ही उसके दुष्परिणाम को समझकर उसका परित्याग कर देते हैं।

मैथुन का फल

कम्प स्वेद श्रमो मूर्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षय ।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिता ॥७८॥

मैथुन से कम्प—कँप-कँपी, स्वेद—पसीना, श्रम—थकावट, मूर्छा—मोह, भ्रमि—चक्कर आना, ग्लानि—अगो का टूटना, शक्ति का विनाश, राजयक्ष्मा—क्षय रोग तथा अन्य खासी, श्वास आदि रोगो की उत्पत्ति होती है।

टिप्पण—मैथुन का सेवन करने से वीर्य का विनाश होता है। वीर्य का विनाश होने पर शरीर निर्बल हो जाता है। शरीर की निर्बलता से विविध प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

मैथुन में हिंसा

योनियन्त्र-समुत्पन्ना सुसूक्ष्मा जन्तुराशय ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुन त्यजेत् ॥७६॥

मैथुन का सेवन करने से योनि रूपी यत्र मे उत्पन्न होने वाले अत्यन्त सूक्ष्म जीवो के समूह पीडित होकर विनाश को प्राप्त होते हैं, इसलिए मैथुन का त्याग करना ही उचित है।

काम-शास्त्र का मत

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तय ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूर्ति, जनयन्ति तथाविधाम् ॥ ८० ॥

काम-शास्त्र के प्रणेता आचार्य वात्स्यायन ने भी योनि मे सूक्ष्म जन्तुओ का अस्तित्व स्वीकार किया है। वे कहते हैं—रुधिर से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म जतु योनि मे होते हैं। उनमे से अनेक साधारण शक्ति

वाले, अनेक मध्यम शक्ति वाले और अनेक अधिक शक्ति वाले होते है। अधिक शक्तिशाली जन्तु तीव्र खुजली उत्पन्न करते हैं, मध्यम शक्तिशाली मध्यम और अल्प शक्तिशाली अल्प खुजली उत्पन्न करते हैं।

काम-भोग : शान्तिदायक नहीं

स्त्रीसम्भोगेन य कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताश घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥ ८१ ॥

जो पुरुष विषय-वासना का सेवन करके काम-ज्वर का प्रतीकार करना चाहता है, वह घी की आहुति के द्वारा आग को बुझाने की इच्छा करता है।

टिप्पण—जैसे घी की आहुति देने से अग्नि बुझती नही, बढती है, उसी प्रकार विषय-सेवन से काम-वासना शान्त न होकर, अधिक बढती है। अत: काम का उपशमन करने के लिए काम का सेवन करना, विपरीत प्रयास है।

मैथुन के दोष

वरं ज्वलदयस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते ।
न पुनर्नरक-द्वार - रामा-जघन-सेवनम् ॥ ८२ ।

आग से तपे हुए लोहे के स्तभ का आलिगन करना श्रेष्ठ है, किन्तु विषय-वासना की दृष्टि से स्त्री की जघाओ का सेवन करना उचित नही है, क्योकि विषय-वासना नरक का द्वार है।

टिप्पण आग से तपे हुए लोह-स्तभ का आलिगन करने से क्षणिक वेदना होती है, परन्तु मैथुन-सेवन से जो मोहोद्रेक होता है, वह चिरकाल—जन्म-जन्मान्तर तक घोर वेदना पहुँचाता है। अत विवेकशील व्यक्ति को सदा उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

सतामपि हि वामभ्रूर्ददाना हृदये पदम् ।
अभिरामं गुणग्रामं, निर्वासयति निश्चितम ॥ ८३ ॥

स्त्री (काम-वासना) महात्मा पुरुषो के भी चित्त मे स्थान पाकर उनके सुन्दर गुणो को दूर कर देती है। अर्थात् विषय-वासना के सेवन से सद्‌गुणो का नाश होता है। इतना ही नही, बल्कि मन मे भी विषय-विकारो एव काम-भोगो का चिन्तन करने से भी सद्‌गुणो का नाश होता है।

स्त्री-दोष

वञ्चकत्व नृशसत्व, चञ्चलत्व कुशीलता।
इति नैसर्गिका दोषा-यासा तासु रमेत क ?॥ ८४॥

प्राप्तु पारमपारस्य, पारावारस्य पार्यते।
स्त्रीणा प्रकृतिवक्राणा, दुश्चरित्रस्य नो पुन ॥ ८५॥

नितम्बिन्य पति-पुत्र, पितर-भ्रातर क्षणात्।
आरोपयन्त्यकार्येऽपि, दुर्वृत्ता प्राणसशये॥ ८६॥

भवस्य बीज नरकद्वार-मार्गस्य दीपिका।
शुचा कन्द कलेर्मूल, दु खाना खनिरङ्गना॥ ८७॥

जिन स्त्रियो मे छल-कपट, कठोरता, चचलता, स्वभाव की दुष्टता, आदि दुर्गुण स्वाभाविक हैं, उनमे कौन बुद्धिमान् रमण करेगा ?

जिसका किनारा दिखाई नही देता, उस समुद्र का किनारा पाया जा सकता है, किन्तु स्वभाव से ही कुटिल स्त्रियो की दुष्ट चेष्टाओ का पार पाना कठिन है।

यौवन के उन्माद से मतवाली बनी हुई दुराचारिणी स्त्रियाँ विना स्वार्थ अथवा तुच्छ स्वार्थ के लिए अपने पति के, पुत्र के, पिता के और भ्राता के प्राण ले लेती है या उनके प्राणो को खतरे मे डाल देती हैं।

वासना जन्म-मरण रूप ससार का कारण है, नरक मे प्रवेश करने का मार्ग दिखलाने वाला दीपक है, शोक को उत्पन्न करने वाली है और शारीरिक एव मानसिक दु खो की खान है।

टिप्पण—ससारी जीव अनादि काल से विषय-वासना के वशीभूत हो रहा है। विषयो की वासना बडी प्रबल है। उसमे भी विजातीय का आकर्षण सबसे अधिक प्रवल है। स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति जो जन्मजात आकर्षण है, वह किसी प्रकार दूर हो जाए तो आत्म-कल्याण के मार्ग की सब से बडी कठिनाई दूर हो जाए। उस आकर्षण को दूर करने के लिए अब्रह्मचर्य के दोषो का चिन्तन करने के साथ उन आकर्षक विजातीय व्यक्तियो के भी दोषो का चिन्तन करना उपयोगी होता है।

जो पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की अभिलाषा रखता है, उसे विषय-सेवन की तथा उसके आकर्षण के केन्द्रभूत स्त्री के दोषो का विचार करना आवश्यक होता है, जिससे उसके प्रति अरुचि हो जाय। इसी दृष्टिकोण से यहाँ स्त्री के दोषो का दिग्दर्शन कराया गया है।

यह ध्यान मे रखना है कि जैसे ब्रह्मचर्य का इच्छुक पुरुष, स्त्री के दोषो का चिन्तन करना है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की इच्छुक स्त्री को भी पुरुष के दोषो का विचार करना चाहिए। यहाँ पुरुष को उद्देश्य करके स्त्री के दोपो का उल्लेख किया गया है, किन्तु इसका फलितार्थ यही है कि दोनो एक-दूसरे के दोषो का चिन्तन करके विजातीय आकर्षण को कम या नष्ट करने का प्रयत्न करे। ग्रन्थकार को किसी भी एक पक्ष को गिराना अभीष्ट नही है।

वेश्या-गमन निषेध

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां, ताः कथं सुखहेतव. ॥ ८८ ॥
मासमिश्र सुरामिश्रमनेकविट - चुम्बितम् ।
को वेश्यावदन चुम्वेदुच्छिष्टमिव भोजनम् ॥ ८९ ॥
अपि प्रदत्तसर्वस्वात्, कामुकात् क्षीणसम्पद ।
वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति गच्छत पण्यपोपित. ॥ ९० ॥

न देवान्न गुरून्नापि, सुहृदो न च बान्धवान् ।
असत्सङ्गरतिर्नित्य, वेश्यावश्यो हि मन्यते ॥ ६१ ॥
कुष्ठिनोऽपि स्मरसमान्, पश्यन्ती धनकाङ्क्षया ।
तन्वन्ती कृत्रिम स्नेह, नि स्नेहा गणिका त्यजेत् ॥ ६२ ॥

जिनके मन मे कुछ और होता है, वचन मे कुछ और होता है तथा क्रिया मे कुछ और होता है, वे साधारण स्त्रियाँ—वेश्याएँ कैसे सुख दे सकती हैं ? सुख के लिए पारस्परिक विश्वास होना चाहिए । किन्तु जहाँ धूर्त्तता है, छल-कपट है, ठगने की वृत्ति है, वहाँ पारस्परिक विश्वास कहाँ ? और जहाँ विश्वास नही, वहाँ सुख भी नही ।

वेश्याएँ मास और मदिरा का सेवन करती है, अत उनका मुख इन अशुचि वस्तुओ से भरा रहता है । अनेक व्यभिचारी पुरुष उनके मुख को चूमते हैं । अत कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो वेश्याओ के ऐसे अपावन मुख का चुम्बन करना चाहेगा ?

वेश्याएँ अत्यन्त लोभ-ग्रस्त और स्वार्थपरायण होती हैं । किसी कामी पुरुष ने उन्हे अपना सर्वस्व दे दिया है । परन्तु, अब दरिद्र होने से वह और कुछ नही दे सकता, तो उस जाते हुए व्यक्ति का वे वस्त्र भी छीन लेती हैं ।

नित्य दुष्ट-दुराचारियो के ससर्ग मे रहने वाला, वेश्या के वशीभूत हुआ पुरुष न देवो को मानता है, न गुरुओ को मानता है, न मित्रो को मानता है और न बन्धु-बाधवो को ही मानता है ।

वेश्याएँ धन के लालच से कोढी को भी कामदेव के समान समझती है । वे वस्तुत स्नेह से सर्वथा रहित होती हैं, फिर भी स्नेह का दिखावा करती हैं । अत वेश्याओ से दूर रहना ही उचित है ।

परस्त्री-गमन निषेध

नासक्त्या सेवनीया हि, स्वदारा अप्युपासकै ।
आकर सर्वपापाना, कि पुन परयोषित ॥ ६३ ॥

यद्यपि श्रावको के लिए स्वस्त्री सेवन निषिद्ध नही है, तथापि आसक्तिपूर्वक स्वस्त्री का भी सेवन करना योग्य नही है। ऐसी स्थिति मे समस्त पापो की खान परस्त्रियों का सेवन कैसे योग्य हो सकता है ?

टिप्पण—श्रावक स्वस्त्री सन्तोषी होता है। वह स्वस्त्री मे भी अति आसक्ति नही रखता। अत परस्त्री-सेवन का तो प्रश्न ही नही उठता। परदार-गमन से हिंसा, असत्य, चोरी आदि समस्त पापो का उद्भव होता है।

जो परस्त्री अपने पति का परित्याग करके परपुरुष का सेवन करती है, उस चचल चित्त वाली परनारी का क्या भरोसा ? जो अपने पति के साथ विश्वासघात कर सकती है, वह परपुरुष के साथ भी क्यो न करेगी ?

स्वपति या परित्यज्य, निस्त्रपोपपतिं भजेत।
तस्या क्षणिकचित्ताया, विश्रम्भ· कोऽन्ययोषिति॥ ९४॥

भीरोराकुलचित्तस्य, दु स्थितस्य परस्त्रियाम्।
रतिर्न युज्यते कर्तु मुपशूनं पशोरिव ॥ ९५॥

प्राणसन्देहजननं, परमं वैरकारणम्।
लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमन त्यजेत्॥ ९६॥

सर्वस्वहरण बन्धं शरीरावयवच्छिदाम्।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिक ॥ ९७॥

जो निर्लज्ज स्त्री अपने पति का परित्याग करके अन्य पुरुष का सेवन करती है, उस परस्त्री का क्या भरोसा है ? जिसने अपने पति के साथ छल किया है, वह परपुरुष के साथ छल नही करेगी, यह कैसे माना जा सकता है ?

पति एव राजा आदि से भयभीत व्याकुल चित्त वाले तथा खडहर आदि स्थानो मे स्थित पुरुष को परस्त्री मे रति करना योग्य नही। जैसे कत्लखाने के समीप पशु को आनन्द प्राप्त नही होता, उसी प्रकार

भयभीत, व्याकुल और दु स्थित पुरुष को परस्त्री-सगम से रति-आनन्द नही हो सकता।

परस्त्री सेवन से प्राणो के नाश की आशका उत्पन्न होती है और तीव्र वैर बँधता है। परस्त्री-गमन इहलोक और परलोक—दोनो से विरुद्ध है। अत इस पाप का त्याग कर देना ही योग्य है।

परस्त्री-गामी पुरुष इहलोक में सर्वस्वहरण, बन्धन, शरीर के अवयवों का छेदन आदि अनर्थों को प्राप्त करता है और मर कर नरक योनि मे जाता है।

स्वदार-रक्षणे यत्न विदधानो निरन्तरम्।
जानन्नपि जनो दु ख, परदारात् कथं व्रजेत् ॥ ९८ ॥

स्वस्त्री के शील की रक्षा करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने वाला पुरुष उस दु ख को जानता हुआ किस प्रकार परस्त्रीगमन कर सकता है ? अपनी स्त्री की रक्षा करने मे अनेक प्रकार का कष्ट उठाने वाला पुरुष यह भी जानता है कि दूसरे पुरुष भी इसी प्रकार अपनी-अपनी स्त्रियो की रक्षा करने का कष्ट उठा रहे हैं। अत वह परस्त्री-गमन नही करेगा।

परस्त्री-गमन के कुफल

विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया।
कृत्वा कुलक्षय प्राप, नरक दशकन्धर ॥ ९ ॥

अपने प्रचण्ड पराक्रम से अखिल विश्व को आक्रान्त कर देने वाला रावण भी, परस्त्री-रमण की इच्छा के कारण अपने कुल का विनाश करके नरक मे गया।

टिप्पण—रावण ने सीता का अपहरण किया था, जिसके फलस्वरूप रावण जैसे पराक्रमी पुरुष को भी, केवल परस्त्रीगमन की कामना करने

मात्र से, नरक का अतिथि बनना पडा, तो परस्त्री-गमन करने वाले साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या है ?

कहते हैं, रावण की प्रतिज्ञा थी कि जब तक कोई स्त्री उसे स्वेच्छा से स्वीकार नही करेगी, तब तक बलात्कार से वह उसके साथ गमन नही करेगा। फिर भी उसने सीताजी के शील को खडित करने की कामना की थी और इस कामना के कारण उसे नरक मे जाना पडा।

परस्त्री-त्याग

लावण्य-पुण्यावयवा, पदं सौन्दर्य-सम्पद.।
कलाकलाप-कुशलामपि जह्यात् परस्त्रियम् ॥ १०० ॥

परस्त्री लावण्य से युक्त पवित्र अवयवो वाली हो—उसका अग-अग मनोहर रूप वाला हो, सौन्दर्य रूपी सम्पत्ति का आधारभूत हो और समस्त कलाओ मे कुशल हो, तो भी उसका परित्याग करना चाहिए।

सुदर्शन की महिमा

अकलङ्कमनोवृत्ते. परस्त्री-सन्निधावपि ।
सुदर्शनस्य किं ब्रूम, सुदर्शन-समुन्नते ॥ १०१ ॥

परस्त्री के समीप मे भी अपनी चित्तवृत्ति को विकार रहित बनाये रखने वाले, सम्यग्दर्शन की प्रभावना करने वाले सेठ सुदर्शन की कहाँ तक प्रशसा की जाय! इससे उसके यश मे अभिवृद्धि ही हुई।

पर-पुरुष त्याग

ऐश्वर्यराजराजोऽपि, रूपमीनध्वजोऽपि च ।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः पर. ॥ १०२ ॥

ऐश्वर्य से कुबेर के समान रूप से कामदेव के समान सुन्दर होने पर भी—स्त्री को परपुरुष का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए, जैसे सीता ने रावण का त्याग किया था।

व्यभिचार का फल

नपु सकत्व तिर्यक्त्व, दौर्भाग्यञ्च भवे-भवे ।
भवेन्नराणा स्त्रीणा, चान्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥ १०३ ॥

जो पुरुष परस्त्री मे आसक्त होता है और जो स्त्री परपुरुष मे आसक्त होती है, उसे भव-भव मे नपु सक होना पडता है, तिर्यञ्च गति मे जाना पडता है ।

ब्रह्मचर्य का फल

प्राणभूत चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्य , पूजितैरपि पूज्यते ॥ १०४ ॥

ब्रह्मचर्य—देशविरति और सर्वविरति सयम का मूल है तथा परब्रह्म—मोक्ष का एक मात्र कारण है । ब्रह्मचर्य का परिपालक पूज्यो का भी पूज्य बन जाता है । ब्रह्मचारी—सुरो, असुरो एव नरेन्द्रो का भी पूजनीय हो जाता है ।

चिरायुष सुसस्थाना-दृढसहनना नरा ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यत ॥ १०५ ॥

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से प्राणी—दीर्घ आयु वाला, सुन्दर आकार वाला, दृढ शरीर वाला, तेजस्वी और अतिशय बलवान् होता है ।

टिप्पण—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले शुभ गति प्राप्त करते हैं । शुभ गतियाँ दो है—देवगति और मनुष्यगति । अनुत्तर विमान आदि स्वर्ग विमानो मे जो जन्म लेते हैं, वे लम्बी आयु और समचतुरस्र सस्थान पाते हैं, और मनुष्य गति में जन्म लेने वाले वज्र-ऋषभ-नाराच जैसा सुदृढ सहनन पाते हैं । तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि के रूप मे उत्पन्न होने वाले—तेजस्वी और महान् बलशाली होते हैं ।

परिग्रह की मर्यादा

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम् ।
मत्वा मूर्च्छाफल कुर्यात्, परिग्रहनियन्त्रणम् ॥ १०६ ॥

मूर्छा या आसक्ति का फल—असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ-समारम्भ है और यह दु ख का कारण है। अत. परिग्रह का नियत्रण—परिमाण करना चाहिए।

टिप्पण—ममता, मूर्च्छा या आसक्ति से घिरा हुआ मनुष्य कभी भी सन्तोष लाभ नही कर सकता। चाहे उसे कितना ही धन-वैभव क्यो न मिल जाए, फिर भी उसे अधिक धन पाने की लालसा बनी ही रहती है। इस लालसा के कारण प्राप्त सामग्री से वह सन्तुष्ट नही रहता, बल्कि अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है और दु ख का अनुभव करता रहता है।

धन आदि का लोलुप व्यक्ति सदैव अविश्वसनीय होता है। जिनका विश्वास करना चाहिए, उनका भी विश्वास नही करता। प्रत्येक के प्रति शकाशील रहने के कारण वह कभी चैन से नही रहता।

मूर्छा-ग्रस्त मनुष्य हिंसा आदि पापो का आचरण करने मे शका नही करता। वह कोई भी बडे से बडा पाप कर गुजरता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह की ममता का न तो कभी अन्त आता है, न उसके कारण प्राप्त परिग्रह से आनन्द ही उठाया जा सकता है, न सुख-चैन से जीवन यापन किया जा सकता है, बल्कि पापो मे ही प्रवृत्ति होती है। अत श्रावक को परिग्रह की मर्यादा कर लेनी चाहिए, जिससे ममता की भी सीमा निर्धारित हो जाए। ऐसा करने से जीवन सुखमय और सन्तोषमय बन जाता है।

परिग्रहमहत्त्वाद्धि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ ।
महापोत इव प्राणी, त्यजेत्तस्मात् परिग्रहम् ॥ १०७ ॥

जैसे मर्यादा से अधिक धन-धान्य आदि से भरा हुआ जहाज समुद्र मे डूब जाता है, उसी प्रकार परिग्रह की मर्यादा न होने के कारण प्राणी ससार रूपी सागर मे डूब जाता है। महापरिग्रह नरक-गति का कारण है। अत श्रावक को परिग्रह की मर्यादा अवश्य कर लेनी चाहिए।

परिग्रह के दोष

त्रसरेणु-समोऽप्यत्र, न गुण कोऽपि विद्यते।
दोषास्तु पर्वतस्थूला, प्रादुष्षन्ति परिग्रहे ॥ १०८ ॥

मकान की खिडकी मे होकर सूर्य की धूप मकान मे आती है। उस धूप मे जो छोटे-छोटे उडते हुए कण दृष्टिगोचर होते हैं, वह त्रसरेणु कहलाते हैं। परिग्रह मे एक त्रसरेणु के बराबर भी कोई गुण नही है, किन्तु जब दोषो का विचार करते हैं तो वे पर्वत के समान प्रतीत होते हैं। परिग्रह से राई के बराबर भी लाभ नही होता, किन्तु पहाडो के बराबर हानियाँ होती हैं।

सङ्गाद्भवन्त्यसन्तोऽपि, राग-द्वेषादयो द्विष ।
मुनेरपि चलेच्चेतो, यत्तेनान्दोलितात्मन ॥ १०९ ॥

जो राग-द्वेष आदि दोष उदय मे नही होते, वे भी परिग्रह की बदौलत प्रकट हो जाते है। जन-साधारण की तो बात ही क्या है, परिग्रह के प्रलोभन से मुनियो का चित्त भी चलायमान हो जाता है।

टिप्पण — पूर्व विवेचन मे बतलाया गया था कि परिग्रह मे पहाड के समान दोष हैं। उसी को यहाँ स्पष्ट करके बतलाया गया है कि परिग्रह दोषजनक है। समभाव मे रमण करने वाले मुनि का मन भी परिग्रह के प्रभाव से चचल हो जाता है और कभी-कभी इतना चचल हो जाता है कि वह मुनि-पद से भी भ्रष्ट हो जाता है। इससे यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रह सब दोषो का जनक है। कहा भी है —

छेओ-भेओ-वसणं, आयास-किलेस-भयविवागो य ।
मरणं धम्मब्भसो, अरई अत्थाओ सव्वाइं ॥

दोससयमूलजाल, पुव्वरिसिविवज्जिय जई वत्तं ।
अत्थ वहसि अणत्थं, कीस निरत्थ तव चरसि ॥

वह-बंधण-मारणसेहणाओ काओ परिग्गहे नत्थि ।
तं जइ परिग्गहोच्चिय, जइधम्मो तो णणु पवचो ॥

छेदन, भेदन, व्यसन, श्रम, क्लेश, भय, मृत्यु, धर्म-भ्रष्टता, अरति आदि सभी दोष परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। परिग्रह सैकडो दोषो का मूल है और पूर्वकालीन महर्षियो द्वारा त्यागा हुआ है। ऐसे वमन किए हुए अनर्थकारी अर्थ को यदि तुम धारण करते हो, तो फिर क्यो व्यर्थ तपश्चरण करते हो ? जहाँ परिग्रह के प्रति लालसा है, वहाँ तपश्चरण से भी कोई लाभ नही होता। परिग्रह से क्या-क्या अनर्थ नही होते ? वध, बन्धन, मृत्यु आदि सभी अनर्थों का वह जनक है। जिसके मन मे मूर्च्छा है, उसका यतिधर्म कोरा ढोग है, दिखावा है।

परिग्रह : आरंभ का मूल

ससारमूलमारम्भास्तेषा हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥ ११० ॥

जीव हिंसा आदि आरम्भ—जन्म-मरण के मूल हैं और उन आरम्भो का कारण 'परिग्रह' है—परिग्रह के लिए ही 'आरम्भ' किए जाते हैं। अत श्रावक को चाहिए कि वह परिग्रह को क्रमश घटाता जाए।

टिप्पण—ज्यो-ज्यो परिग्रह कम होता जाएगा, त्यो-ज्यो आरम्भ-समारम्भ भी कम होता जाएगा और ज्यो-ज्यो आरम्भ-समारम्भ कम होगा, त्यो-त्यो आत्मा की निर्मलता बढती जाएगी। आत्मा की निर्मलता बढने से ससार परिभ्रमण घटेगा।

परिग्रहवान् की दुर्दशा

मुष्णन्ति विषयस्तेना, दहति स्मरपावक ।
रुन्धन्ति वनिताव्याधा, सङ्गैरङ्गीकृत नरम् ॥ १११ ॥

जैसे धन-धान्य, रजत-सुवर्ण आदि से युक्त व्यक्ति यदि अटवी मे चला जाए तो चोर उसे लूट लेते है, इसी प्रकार ससार रूपी अटवी मे इन्द्रियो के विषय मनुष्य के सयम रूपी धन को चुरा लेते हैं। अटवी मे दावानल के लगने पर बहुत परिग्रह वाला मनुष्य भागकर बच नही सकता—दावानल उसे जला देता है, उसी प्रकार ससार-अटवी मे परिग्रही व्यक्ति को कामाग्नि जला देती है। जैसे परिग्रहवान् को व्याध वन मे घेर लेते हैं, भागने नही देते, उसी प्रकार ससार-वन मे परिग्रहवान् को विषयासक्त स्त्रिएँ घेर लेती हैं—उसकी स्वाधीनता को नष्ट कर देती हैं।

परिग्रह से असन्तोष

तृप्तो न पुत्रै सगर, कुचिकर्णो न गोधनै ।
न धान्यैस्तिलक श्रेष्ठी, न नन्द कनकोत्करै ॥११२॥

द्वितीय चक्रवर्ती सगर साठ हजार पुत्र पाकर भी सन्तोष न पा सका, कुचिकर्ण बहुत-से गोधन से तृप्ति का अनुभव न कर सका, तिलक श्रेष्ठी धान्य से तृप्त नही हुआ और नन्द नामक नृपति स्वर्ण के ढेरो से भी सन्तोष नही पा सका।

टिप्पण—ईंधन बढाते जाने से अग्नि शात नही होती, उसी प्रकार परिग्रह से मनुष्यो की तृप्ति नही होती। सगर चक्रवर्ती राजा था। उसकी राजधानी अयोध्या थी। उसके साठ हजार पुत्र थे, लेकिन दैवी कोप के कारण उसके सभी पुत्र मारे गए और अन्त मे वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण सगर ने भगवान अजितनाथ के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की और तब उसे वास्तविक सतोष और उसकी आत्मा को शाति प्राप्त हुई।

मगध देश के सुघोष गाँव मे कुचिकर्ण नामक एक पटेल रहता था। गायो पर उसकी असीम ममता थी, इसी वजह से उसने एक लाख गायें खरीद ली। किन्तु, फिर भी वह सदा असतोष का ही अनुभव करता रहता था। अन्त मे वह उन्ही गायो के दूध, दही, घी आदि को विशेष परिमाण मे खाने के कारण अजीर्ण-वात का शिकार हो गया और मरते समय आर्तध्यान के कारण तिर्यंच-योनि मे उत्पन्न हुआ। ममत्व का परिणाम कितना भयानक होता है!

तिलक सेठ अचलपुर का एक रईस वणिक था। उसकी इच्छा सदा अनाज सग्रह करने और उसके द्वारा मुनाफा कमाने की रहती थी। वह घर की वस्तुएँ बेचकर अनाज खरीदता और उसके पश्चात् राह देखता रहता कि कब अकाल पडे और वह अपने धन को दुगुना-चौगुना करे। भाग्यवशात् एक बार अकाल पड गया। यह मालूम पडते ही सेठजी ने इतना सारा अनाज खरीद लिया कि उसे घर वेचना पडा और यहाँ तक कि ब्याज पर भी और रुपया लेने की जरूरत पडी। किन्तु, दैवयोग से पृथ्वी पर किसी भाग्यवान प्राणी का जन्म हुआ और उसके प्रताप से अकाल दूर हो गया। परिणाम यह हुआ कि सेठ को वहुत ही ज्यादा नुकसान हुआ और वह आर्तध्यान मे छाती-सिर पीट-पीट कर रोता हुआ मर गया और मर कर नरक मे उत्पन्न हुआ।

पाटलीपुत्र नगर मे नन्द राजा राज्य करता था। वह बहुत ही लोभी था। लोभवश उसने प्रजा पर बडे-बडे कर लगाए और असत्य आरोप लगाकर धनवानो से धन वसूल किया। नन्द ने सोने के सिक्को को हटाकर चमडे के सिक्के चालू कर दिए। प्रजा को निर्धन बनाकर उसने अपने लिये सोने के पहाड खडे कर लिए। लेकिन अन्त समय मे वह अनेक व्याधियो से पीडित होकर घुल-घुल कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और नरक मे गया। इस प्रकार लोभ के दुर्गुणो को समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अमर्यादित इच्छाओ को नियन्त्रित करना चाहिए।

पतन का कारण

> तप श्रुतपरीवारां शम-साम्राज्य-संपदम् ।
> परिग्रह-ग्रह-ग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥११३॥

परिग्रह रूप ग्रह से ग्रसित योगी भी अपने तप और श्रुत के परिवार वाले समभाव रूपी साम्राज्य का त्याग कर देते हैं। जो योगी परिग्रह के चक्कर मे पड जाते है, वे तपस्या और श्रुत भावना से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

> असंतोषवतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः ।
> जन्तोः संतोषभाजो यदभयस्येव जायते ॥११४॥

जो सुख और संतोष इन्द्र अथवा चक्रवर्तियो को भी नही मिल पाता, वही सुख, संतोष वृत्ति वाले अभयकुमार जैसो को प्राप्त होता है।

संतोष की महिमा

> संनिधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।
> अमराः किंकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् ॥११५॥

संतोष जिस मनुष्य का भूषण बन जाता है, समृद्धि उसी के पास रहती है, उसी के पीछे कामधेनु चलती है और देव भी दास की तरह उसकी आज्ञा मानते हैं।

तृतीय प्रकाश

दिग्-व्रत

श्रावक के पाँच अणुव्रतो का विवेचन करने के पश्चात् अब गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लंघ्यते।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथम तद्गुणव्रत ॥ १ ॥

जिस व्रत मे दसो दिशाओ मे आने-जाने के किये हुए नियम का उलघन नही किया जाता है, वह 'दिग्व्रत' नामक पहला गुणव्रत कहलाता है।

टिप्पण—गुणव्रत—अहिंसादि पाँच अणुव्रतो को सहायता पहुँचाने वाला या गुण उत्पन्न करने वाला व्रत। दिग्-व्रत पहिले अहिंसा-व्रत को विशेष रूप से पुष्ट करता है। इसी प्रकार पहिले पाँच व्रत, जो कि मूल व्रत हैं उनकी पुष्टि करने वाले ये उत्तर-व्रत कहलाते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय, ऊर्ध्व और अध.—इन दसो दिशाओ मे दुनियादारी के व्यापारादि कार्य-वशात् जाने की मर्यादा करना 'दिग्-व्रत' है।

दिग्-व्रत की उपयोगिता

चराचराणां जीवाना विमर्दन निवर्त्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्वृत्तं गृहिणोप्यद ॥ २ ॥

तपाये हुए लोहे के गोले को कही पर भी रखने से जीवो की हिंसा होती है। उसी प्रकार मनुष्य के चलने-फिरने से त्रस—चलते हुए और स्थावर— स्थिर जीवो की हिंसा होती रहती है। किन्तु, इस व्रत के कारण आना-जाना मर्यादित हो जाता है, अत जीवो का विनाश कम हो जाता है। इसीलिये यह व्रत प्रत्येक गृहस्थ के लिए धारण करने योग्य है।

दिग्-व्रत से लोभ की निवृत्ति

जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधे ।
स्खलन विदधे तेन येन दिग्विरति कृता ॥ ३ ॥

जिस मनुष्य ने दिग्-व्रत अगीकार कर लिया है, उसने जगत् पर आक्रमण करने के लिये अभिवृद्ध लोभ रूपी समुद्र को आगे बढने से रोक दिया है। इस व्रत को धारण करने के पश्चात् मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशो मे अधिकाधिक व्यापार करने के लिये जाने से रुक जाता है और परिणाम स्वरूप लोभ पर अकुश लग जाता है।

भोगोपभोग-व्रत

भोगोपभोगयो सख्याशक्त्यायत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमान तद् द्वैतीयीक गुणव्रतम् ॥ ४ ॥

शक्ति के अनुसार जिस व्रत मे भोगोपभोग के योग्य पदार्थों की सख्या का नियम किया जाता है, वह भोगोपभोग-परिमाण नामक दूसरा गुणव्रत कहलाता है।

भोगोपभोग की व्याख्या

सकृदेव भुज्यते य. स भोगोऽन्नस्रगादिक ।
पुन पुन पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिक. ॥ ५ ॥

जो वस्तु एक बार भोग के काम मे आती है, उसे भोग कहते हैं और जो वस्तु बार-बार उपभोग मे ली जाती है, वह उपभोग कहलाती

हैं। यथा—अनाज, पुष्पमाला, पान, विलेपन आदि वस्तुएँ भोग हैं और वस्त्र, अलकार, घर, शय्या, आसन, वाहन आदि उपभोग हैं।

इनमे से भोग—खाने-पीने के काम मे आने वाली अनेक वस्तुएँ सर्वथा त्याग करने योग्य हैं और अनेको नियम करने योग्य हैं। पहिले सर्वथा त्याग करने योग्य वस्तुओ को बताते हैं।

मद्यं मासं नवनीत मधूदुंबरपञ्चकम्।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्॥ ६॥

आम-गोरस-सपृक्तं द्विदल पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितीयातीतं क्वथितान्नं विवर्जयेत्॥ ७॥

प्रत्येक प्रकार की शराब, मास, शहद, गूलर आदि पाँच प्रकार के फल, अनन्तकाय-कदमूलादि, अनजाने फल, रात्रि-भोजन, कच्चे दूध, दही तथा छाछ के साथ द्विदल खाना, वासी अनाज, दो दिन के वाद का दही तथा चलित रस वाले—सडे अन्न का त्याग करना चाहिये।

मदिरा-पान के दोष

मदिरापानमात्रेण बुद्धिर्नश्यति दूरत।
वैदग्धी वधुरस्यापि दौर्भाग्येणेव कामिनी॥ ८॥

पापा कादवरीपान - विवशीकृत - चेतस।
जननी हा प्रियीयति जननीयन्ति च प्रियाम्॥ ९॥

न जानाति परं स्व वा मद्याच्चलित चेतनः।
स्वामीयति वराक स्व स्वामिन किंकरीयति॥ १०॥

मद्यपस्य शवस्येव लुठितस्य चतुष्पथे।
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो व्यात्ते विवरशकया॥ ११॥

मद्यपानरसे मग्नो नग्न स्वपिति चत्वरे।
गूढं च स्वाभिप्रायं प्रकाशयति लीलया॥ १२॥

वारुणीपानतो याति काति कीर्तिमतिश्रिय ।
विचित्राश्चित्र-रचना विलुठत्कज्जलादिव ॥ १३ ॥
भूतार्त्तवन्नरीनर्ति रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद्भूमौ सुरापो लोलुठीति च ॥ १४ ॥
विदधत्यगशैथिल्यं ग्लापयतीद्रियाणि च ।
मूर्च्छामतुच्छा यच्छन्ति हाला हालाहलोपमा ॥ १५ ॥
विवेक सयमो ज्ञान सत्य शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्व तृण्या वह्निकणादिव ॥ १६ ॥
दोषाणा कारण मद्य मद्य कारणमापदाम् ।
रोगातुर इवापथ्य तस्मान मद्य विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार विद्वान और सुन्दर मनुष्य की पत्नी भी दुर्भाग्य के कारण चली जाती है, उसी प्रकार मदिरा पान करने से बुद्धि भी दूर चली जाती है। मदिरा के अधीन हो जाने वाला पापी मनुष्य अपनी माँ के साथ पत्नी जैसा वर्ताव करता है और पत्नी के साथ माता के समान। मद्य के कारण अस्थिर चित्त हो जाने वाला व्यक्ति अपने आपको और दूसरे को नही पहिचान पाता। स्वय नौकर होने पर भी अपने को मालिक समझता है और अपने स्वामी को नौकर की तरह समझता है। कभी-कभी मदिरा पान करने पर खुले मुँह मैदान मे पडे रहने वाले शरावी के मुँह को गड्ढा समझकर कुत्ते भी पेशाव कर जाते हैं। शराव के नशे मे चूर व्यक्ति चौराहे पर भी नग्न होकर सो जाते हैं और हिताहित का ज्ञान न रहने के कारण अपनी गुप्त वातो को भी अनायास ही चाहे जिसके सन्मुख प्रगट कर देते हैं। रग-विरगे चित्रो के ऊपर काजल गिर जाने से जिस प्रकार चित्रो का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मद्य-पान करने से काति, बुद्धि, कीर्ति और लक्ष्मी—सभी का लोप हो जाता हैं। मदिरा पान करने वाला भूत से पीडित होने वाले की तरह

नाचता है, शोक-मग्न व्यक्ति की तरह रोता है और दाह-ज्वर से पीडित व्यक्ति की भाँति जमीन पर लोटता रहता है। मदिरा शरीर को शिथिल कर देती है, इन्द्रियो को निर्बल बना देती है और मनुष्य को मूर्छित कर देती है। जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी से घास के ढेर का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मदिरा पान से विवेक, सयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया और क्षमा आदि सभी गुणो का नाश हो जाता है। मद्य सर्व दोषो का और सब विपत्तियो का कारण है। इसलिये जिस प्रकार एक वीमार व्यक्ति अपथ्य का त्याग कर देता है, उसी प्रकार आत्म-हित का चिन्तन करने वाले साधक को मदिरा का त्याग करना चाहिए।

मांस-त्याग

चिखादिषति यो मासं प्राणिप्राणापहारत ।
उन्मूलयत्यसौ मूल दयाऽऽख्यं धर्मशाखिन· ।। १८ ।।
अशनीमन् सदा मास दया यो हि चिकीर्षति ।
ज्वलति ज्वलने वल्ली स रोपयितुमिच्छति ।। १६ ।।

प्राणियो के प्राणो का नाश करके जो मास खाने की इच्छा करता है, वह दया रूपी धर्म-वृक्ष को जड से उखाड डालता है। जो निरन्तर मास खाते हुए भी दया करने की इच्छा रखता है, वह जलती अग्नि मे बेल लगाने के समान कार्य करता है। तात्पर्य यह है कि मास खाने वाले मे दया नही टिक सकती।

कुछ व्यक्ति शका करते हैं कि मास खाने वाले अथवा जीव मारने वाले, दोनो मे से जीव-हिंसा का दोष किसको लगेगा ? आचार्य श्री इसका उत्तर देते है —

हता पलस्य विक्रेता सस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमंता दाता च घातका एव यन्मनु. ।। २० ।।

प्राणियो का हनन करने वाला, मास वेचने वाला, खाने वाला,

मांस-भक्षण का प्रतीक

मासाशने न दोषोऽस्तीत्युच्यते यैर्दुरात्मभिः ।
व्याध-गृध्र-वृक-व्याघ्र शृगालास्तैर्गुरू कृता ॥ २५ ॥

जो दुर्जन, 'मास खाने मे दोप नही' ऐसा कहते हैं, उन्होने शिकारी, गिद्ध, भेडिया, बाघ, सियार आदि को अपना गुरु बनाया है, क्योकि पापी लोग इनको मास-भक्षण करते हुए देखकर ही मास खाना सीखते हैं।

'मांस' शब्द की व्याख्या

मास भक्षयिताऽमुत्र यस्य मासमिहादम्यहम् ।
एतन्मासस्य मासत्वे निरुक्त मनुरब्रवीत् ॥ २६ ॥

मनु ने मास शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि 'जिसका मास मैं यहाँ खाता हूँ, वह मुझे परभव मे खाएगा।'

मांस-भक्षण से दोष-वृद्धि

मासास्वादन-लुब्धस्य देहिन देहिनं प्रति ।
हंतु प्रवर्त्तते बुद्धि शाकिन्या इव दुर्धिय ॥ २७ ॥

मास खाने वाले मनुष्य की, शाकिनी की तरह प्रत्येक प्राणी का हनन करने की दुर्बुद्धि बनी रहती है।

ये भक्षयति पिशितं दिव्य-भोज्येषु सत्स्वपि ।
सुधारस परित्यज्य भुञ्जते ते हलाहलं ॥ २८ ॥

जो मनुष्य दिव्य और सुन्दर भोजन विद्यमान रहते हुए भी मास-भक्षण करते है, वे अमृत रस का त्याग करके जहर का पान करते है।

न धर्मो निर्दयस्यास्ति पलादस्य कुतो दया ।
पललुब्धो न तद्वेत्ति विद्याद्वोपदिशेन्न हि ॥ २९ ॥

निर्दयी मनुष्य मे धर्म नही होता तथा मास भक्षण करने वाले के हृदय मे दया नही होती। मास मे लोलुप हो जाने वाला व्यक्ति दया-धर्म

को नही जानता और स्वय मास-भक्षी होने के कारण दूसरे को उसका त्याग करने के लिये उपदेश भी नही दे सकता ।

मांस-भक्षक की अज्ञानता

केचिन्मास महामोहादश्नति न पर स्वय ।
देव-पित्रतिथिभ्योपि कल्पयति यदूचरे ॥ ३० ॥

बहुत से मनुष्य स्वय तो मास खाते ही हैं किन्तु अज्ञानता वश देव, पितृ और अतिथियो के लिये भी मास परोसते हैं । उनका कथन है—

मनु का कथन

क्रीत्वा स्वय वाऽप्युत्पाद्य परोपहृतमेव वा ।
देवान् पितृन् समभ्यर्च्य खादन् मास न दुष्यति ॥ ३१ ॥

कसाई की दुकान के अतिरिक्त कही से भी खरीदकर लाया हुआ, स्वय उत्पन्न किया हुआ अथवा दूसरो के द्वारा दिया हुआ या मांग कर लाया हुआ मास देव व पितरो की पूजा करके खाने पर दोष नही लगता ।

टिप्पण—जब मनुष्य के लिए मास खाना अनुचित है, तब देवो के लिये वह किस तरह उचित हो सकता है ? और मल-मूत्र से भरा हुआ दुर्गन्ध युक्त मास खाने वाले देवता, मनुष्य की अपेक्षा भी कितने अधम कहलायेंगे तथा ऐसे देव मनुष्यो की किस प्रकार सहायता कर सकते हैं ? यह विचारने योग्य बात है ।

मत्र से सस्कृत किया हुआ मास खाने मे कोई दोष नही है, ऐसा कहने वालो को आचार्य श्री उत्तर देते हैं —

मन्त्र-सस्कृतमप्यद्याद्यवाल्पमपि नो पलम् ।
भवेज्जीवितनाशाय हालाहललवोऽपि हि ॥ ३२ ॥

मत्र से सस्कृत किया हुआ मास भी एक जौ के दाने जितना भी नही खाना चाहिए । क्योकि, लेशमात्र भी जहर जैसे जीवन का नाश कर देता है, उसी प्रकार थोडा-सा मास भी दुर्गति प्रदान करने वाला है ।

उपसंहार

सद्य   सम्मूर्छितानन्त-जन्तु   सन्तान-दूषितं ।
नरकाध्वनि पाथेय कोऽश्नीयात् पिशित सुधी ॥ ३३ ॥

प्राणियो को मारने के बाद तत्काल ही उत्पन्न हो जाने वाले अनेक जतुओं के समूह से दूषित हो जाने वाला और नरक के मार्ग मे पाथेय तुल्य मास का कौन बुद्धिमान् भक्षण करेगा ?

मक्खन भक्षण मे दोष

अंतर्मुहूर्त्तात्परत. सुसूक्ष्मा जंतुराशय. ।
यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्य नवनीतं विवेकिभि· ॥ ३४ ॥

मक्खन को छाछ मे से निकालने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे ही अनेको सूक्ष्म जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं । अत विवेकी पुरुषो को मक्खन नही खाना चाहिए ।

एकस्यापि हि जीवस्य हिसने किमघं भवेत् ।
जतु-जातमयं तत्को नवनीतं निषेवते ॥ ३५ ॥

एक जीव को मारने मे ही महान् पाप है, तो जन्तुओ के समूह से भरपूर मक्खन का कौन भला आदमी भक्षण करेगा ? दयावान् पुरुष मक्खन का भक्षण नही करता है ।

मधु-भक्षण

अनेक - जंतु - संघात - निघातनसमुद्भवम् ।
जुगुप्सनीयं लालावत् क स्वादयति माक्षिकं ॥ ३६ ॥

अनेक जन्तुओ के समुदायो के नाश से उत्पन्न हुए और जुगुप्सनीय लार वाले मधु का आस्वादन नही करना चाहिए । यथाशक्य श्रावक को मधु का त्याग करना चाहिए ।

भक्षयन् - माक्षिक क्षुद्र - जतु-लक्षक्षयोद्भव ।
स्तोकजतुनिहतृभ्य सौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ।। ३७ ।।

लाखो जन्तुओ के विनाश से पैदा होने वाले शहद को खाने वाला थोडे जीवो को मारने वाले कसाइयो से भी आगे बढ जाता है ।

एकैक - कुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिका ।
यद्वमति मधूच्छिष्ट तदश्नति न धार्मिका ।। ३८ ।।

अप्यौषधकृते जग्ध मधु श्वभ्रनिबधनम् ।
भक्षित प्राणनाशाय कालकूट-कणोऽपि हि ।। ३९ ।।

मधुनोऽपि हि माधुर्यमबोधैरहहोच्यते ।
आसाद्यते यदास्वादाच्चिर नरकवेदना ।। ४० ।।

मक्खी एक पुष्प से रस पीकर दूसरी जगह उसका वमन करती है—उससे मधु उत्पन्न होता है । ऐसा उच्छिष्ट मधु धार्मिक पुरुष नही खाते । कितने ही मनुष्य मधु का त्याग करते हैं, पर औषधि मे मधु खाते हैं । किन्तु, औषधि के लिए खाया हुआ मधु भी नरक का कारण है । क्योकि, कालकूट जहर का एक कण भी प्राण नाश के लिए पर्याप्त होता है ।

टिप्पण—कितने ही अज्ञानी जीव कहते है कि मधु मे मिठास होती है, पर जिसका आस्वादन करने पर बहुत काल तक नरक की वेदना भोगनी पडे, उस मिठास को तात्त्विक मिठास कैसे कह सकते हैं ? जिसका परिणाम दुखदायी हो, ऐसी मिठास को मिठास नही कह सकते । इसलिए विवेकवान् पुरुष को मधु का त्याग करना चाहिए ।

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूत जंतुघातोद्भव मधु ।
अहो पवित्र मन्वाना देवस्थाने प्रयुंजते ।। ४१ ।।

बडे आश्चर्य की बात है कि कई लोग अनेक जन्तुओ के नाश से उत्पन्न मधु को पवित्र मानकर देव-स्थान—मदिर मे चढाते हैं ।

परन्तु, मधु अपवित्र माना गया है, अत. उसको अपवित्र समझकर उसका देव-स्थान मे प्रयोग नही करना चाहिए।

अभक्ष्य फल

> उदुम्बर - वट-प्लक्ष-काकोदुंबर-शाखिनाम् ।
> पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फल कृमिकुलाकुलं ॥ ४२ ॥
>
> अप्राप्नुवन्नन्य भक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया ।
> न भक्षयति पुण्यात्मा पंचोदुम्बरज फलम् ॥ ४३ ॥

कृमियो के समूह से भरपूर गूलर के, बड़ के, पाकर के, कठबर तथा पीपल के फलो को नही खाना चाहिए। भूख से पेट खाली हो और दूसरा कुछ खाने को न मिलता हो, तब भी उत्तम पुरुष गूलर आदि पाँचो प्रकार के अभक्ष्य फलो को नही खाते।

अनन्तकाय-परित्याग

> आर्द्रः कद समग्रोऽपि सर्व किशलयोऽपि च ।
> स्नुही लवण-वृक्षत्वक् कुमारी गिरिकर्णिका ॥ ४४ ॥
> शतावरी विरूढानि गुडूची कोमलाम्लिका ।
> पल्ल्यकोऽमृतवल्ली च वल्ल. शूकरसज्ञित ॥ ४५ ॥
> अनतकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः ।
> मिथ्यादृशामविज्ञाता वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥

सब प्रकार के हरे—बिना सूखे कदमूल, सब प्रकार की ऊगती हुई कोपले, स्नुही—थोर, लवण वृक्ष की छाल, कुमारपाठा, गिरिकर्णिका, शतावरी, द्विदल वाला अकुर, फूटा हुआ धान्य, गिलोय, कोमल इमली, पल्ल्यक—पालक, अमृत बेल, शूकर नामक वनस्पति की बालें, ये सभी आर्य देश मे प्रसिद्ध हैं। जीव-दया मे तत्पर मनुष्यो को दूसरे म्लेच्छ देशों में भी प्रसिद्ध सूत्रोक्त अनन्तकायो का त्याग करना चाहिए। इन

अनन्तकायो को मिथ्यादृष्टि नही जानते हैं, क्योकि वे लोग वनस्पति मे जीव ही नही मानते।

अज्ञात फल वर्जन

स्वय परेण वा ज्ञात फलमद्याद्विशारद.।
निषिद्धे विषफले वा मा भूदस्य प्रवर्त्तनम् ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष उसी फल का भक्षण करे जिसे वह स्वय जानता हो या दूसरा कोई जानता हो, जिससे निषिद्ध या विषैला फल खाने मे न आए। क्योकि, निषिद्ध फल खाने से व्रतभग होता है और विषाक्त फल खाने से प्राण हानि हो सकती है।

रात्रि-भोजन निषेध

अन्न प्रेतपिशाचाद्यै, सञ्चरद्भिर्निरकुशै ।
उच्छिष्ट क्रियते यत्र, तत्र नाद्यादिनात्यये ॥ ४८ ॥

रात्रि के समय स्वच्छन्द विचरण करने वाले प्रेत और पिशाच आदि अन्न को जूठा कर देते हैं, अत सूर्यास्त के बाद भोजन नही करना चाहिए।

घोराधकाररुद्धाक्षै, पतन्तो यत्र जन्तव ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ॥ ४९ ॥

रात्रि मे घोर अधकार के कारण भोजन मे गिरते हुए जीव आँखो से दिखाई देते, अत ऐसी रात्रि मे कौन समझदार व्यक्ति भोजन करेगा ?

रात्रि-भोजन से हानियाँ

मेधा पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोग च कोलिक ॥ ५० ॥

भोजन के साथ चिउँटी खाने मे आ जाए तो वह बुद्धि का नाश करती है, जू जलोदर रोग उत्पन्न करती है, मक्खी से वमन हो जाता है और कोलिक—छिपकली से कोढ उत्पन्न होता है।

कण्टको दारुखण्ड च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिक ॥ ५१ ॥

विलग्नश्च गले बाल , स्वर-भगाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषा, सर्वेषा निशि भोजने ॥ ५२ ॥

काँटे और लकडी के टुकडे से गले मे पीडा उत्पन्न होती है । शाक आदि व्यजनो मे बिच्छू गिर जाए तो वह तालु को वेध देता है । गले मे बाल फँस जाए तो स्वर भग हो जाता है । रात्रि मे भोजन करने से यह और ऐसे अन्य दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं ।

नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि, निश्यद्यात्प्रासुकान्यपि ।
अप्युद्यत्-केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशाशनम् ॥ ५३ ॥

रात्रि मे प्रासुक—अचित्त पदार्थों का भी भोजन नही करना चाहिए, क्योकि कुथुवा आदि सूक्ष्म जन्तु दिखाई नही देते । केवलज्ञानियो ने भी, जो सूक्ष्म जन्तुओ को और उनके भोजन मे गिरने को जानते हैं, रात्रि भोजन स्वीकार नही किया है ।

धर्मविन्नैव भुञ्जीत, कदाचन दिनात्यये ।
बाह्या अपि निशाभोज्य, यदभोज्यं प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

धर्मज्ञ पुरुष को दिन अस्त होने पर कदापि भोजन नही करना चाहिए, क्योकि जैनेतर जन भी रात्रि-भोजन को अभक्ष्य कहते हैं, अर्थात् वे भी रात्रि-भोजन को त्याज्य मानते हैं ।

अन्य मतों का अभिमत

त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदु ।
तत्करैः पूतमखिलं, शुभ कर्म समाचरेत् ॥ ५५ ॥

वेद के वेत्ता कहते हैं कि सूर्य तेजोमय है । उसमे ऋक्, यजु और सामवेद तीनो का तेज निहित है । अत सूर्य की किरणो से पवित्र

होकर ही सब कार्य करना चाहिए। सूर्य की किरणो के अभाव में कोई भी शुभ कार्य नही करना चाहिए।

नैवाहुतिर्न च स्नान, न श्राद्ध देवतार्चनम्।
दान वा विहित रात्रौ, भोजन तु विशेषत ॥ ५६ ॥

रात्रि मे होम, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन या दान करना भी उचित नही है, किन्तु भोजन तो विशेष रूप से निषिद्ध है।

रात्रि-भोजन का अर्थ

दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्त तु तद्विजानीयान्न नक्त निशि भोजनम् ॥ ५७ ॥

केवल रात्रि मे भोजन करना ही रात्रि भोजन नही है, बल्कि दिन के आठवें भाग मे—जब सूर्य मद पड जाता है, तब भोजन करना भी रात्रि-भोजन कहलाता है।

अन्य मत मे रात्रि-भोजन निषेध

देवैस्तु भुक्त पूर्वाह्ने, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्ने च पितृभि, सायाह्ने दैत्यदानवै ॥ ५८ ॥
सन्ध्याया यक्षरक्षोभि, सदा भुक्त कुलोद्वह।
सर्ववेला व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥ ५९ ॥

हे युधिष्ठिर! दिन के पूर्व भाग मे देवो ने, मध्याह्न मे ऋषियो ने, अपराह्ण मे पितरो ने, सायकाल मे दैत्य और दानवो ने, सध्या—दिन-रात की सधि के समय यक्षो और राक्षसो ने भोजन किया है। इन सब भोजन वेलाओ का उल्लघन करके रात्रि मे भोजन करना अभक्ष्य भोजन है।

आयुर्वेद का अभिमत

हृन्नाभिपद्म - सकोश्चण्डरोचिरपायत।
अतो नक्त न भोक्तव्य, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥ ६० ॥

शरीर मे दो कमल होते हैं—हृदय-कमल और नाभि-कमल। सूर्यास्त हो जाने पर यह दोनो कमल सकुचित हो जाते हैं। इस कारण रात्रि मे भोजन करना निषिद्ध है। इस निषेध का दूसरा कारण यह भी है कि रात्रि मे पर्याप्त प्रकाश न होने से छोटे-छोटे जीव खाने मे आ जाते हैं। अत रात्रि मे भोजन नही करना चाहिए।

स्वमत समर्थन

संसज्जीवसघातं, भुञ्जाना निशि-भोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मान. कथं नु ते॥ ६१॥

रात्रि मे अनेक जीवों का ससर्ग वाला भोजन करने वाले मूढ पुरुष राक्षसो से पृथक् कैसे कहे जा सकते हैं? वस्तुत वे राक्षस ही है।

वासरे च रजन्या च, य' खादन्नेव तिष्ठति।
शृङ्ग-पुच्छपरिभ्रष्ट, स्पष्टं स पशुरेव हि॥ ६२॥

जो मनुष्य दिन मे और रात मे खाता ही रहता है, वह स्पष्ट रूप से पशु ही है। विशेषता है तो यही कि उसके सीग और पूँछ नही है।

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे-द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥ ६३॥

रात्रि भोजन के दोषो को जानने वाला जो मनुष्य दिन के आरभ की और अन्त की दो-दो घटिकाएँ—४८ मिनिट छोडकर भोजन करता है, वह पुण्य का पात्र होता है।

अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि।
फल भजेन्न निर्व्याजि, न वृद्धिर्भाषित विना॥ ६४॥

दिन मे भोजन करने वाला भी अगर रात्रि-भोजन त्याग का नियम नही करता है, तो वह रात्रि-भोजन-विरति का निष्कपट भाव से प्राप्त होने वाला फल नही पाता। लोक मे भी देखा जाता है कि बोली किए विना रकम का ब्याज नही मिलता।

टिप्पण—कई लोग रात्रि-भोजन न करते हुए भी प्रतिज्ञापूर्वक रात्रि-भोजन के त्यागी नही होते। ऐसे लोग अवसर आने पर फिसल भी सकते हैं और समय आने पर रात्रि मे भी भोजन कर लेते है। उनके लिए यहाँ प्रतिज्ञा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिज्ञा स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत बन्धन है, जिससे मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और सकल्प मे दृढता आती है। अत रात्रि-भोजन न करने वालो को भी उसका विधिवत् प्रत्याख्यान करना चाहिए। ऐसा किए बिना उन्हे रात्रि-भोजन त्याग का पूरा फल प्राप्त नही होता।

ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुञ्जते।
ते परित्यज्य माणिक्य, काचमाददते जडा ॥ ६५ ॥

जो दिन को छोडकर रात्रि मे ही भोजन करते हैं, वे जड मनुष्य मानो माणिक—रत्न का त्याग करके काच को ग्रहण करते हैं।

वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुञ्जते।
ते वपन्त्यूषर-क्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥ ६६ ॥

खाने के लिए दिन मौजूद है, फिर भी लोग कल्याण की कामना से रात्रि मे भोजन करते हैं, वे मानो पल्वल—पानी से भरे हुए खेत को छोडकर ऊसर भूमि मे धान बोते हैं।

रात्रि भोजन का फल

उलूक-काक-मार्जार-गृध्र-शम्बर-शूकरा।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥ ६७ ॥

रात्रि भोजन करने से मनुष्य मर कर उल्लू, काक, बिल्ली, गिद्ध, सम्बर, शूकर, सर्प, बिच्छू और गोह आदि अधम गिने जाने वाले तिर्यञ्चो के रूप मे उत्पन्न होते है।

श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मण।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया[1] ॥ ६८ ॥

अन्य शपथो—प्रतिज्ञाओ की उपेक्षा करके लक्ष्मण की पत्नी वनमाला ने लक्ष्मण को रात्रि-भोजन का परित्याग करवाया था। अत. रात्रि भोजन का पाप महापाप है।

रात्रि-भोजन-त्याग का फल

करोति विरतिं धन्यो, य सदा निशि भोजनात्।
सोऽर्द्ध पुरुषायुष्कस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥ ६९ ॥

जो पुरुष रात्रि-भोजन का परित्याग कर देता है, वह धन्य है। निस्सन्देह उसका आधा जीवन उपवास मे ही व्यतीत होता है।

रजनी भोजनत्यागे, ये गुणा परितोऽपि तान्।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वर ॥ ७० ॥

रात्रि-भोजन का त्याग करने पर जो लाभ होते हैं, उन्हे सर्वज्ञ के सिवाय दूसरा कोई भी कहने मे समर्थ नही है।

द्विदल-भोजन का त्याग

आम - गोरस - संपृक्त - द्विदलादिषु जन्तव ।
दृष्टा केवलिभि· सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥ ७१ ॥

कच्चे गोरस—दूध, दही, छाछ के साथ मिले हुए द्विदल—मूग, उडद, मोठ, चना, अरहर, चँवला आदि की पकोडी मे केवल-ज्ञानियो ने सूक्ष्म जन्तुओ की उत्पत्ति देखी है। अत उनके खाने का त्याग करना चाहिए।

टिप्पण— जिस धान्य को दलने पर बराबरी के दो भाग हो जाते है, वह 'द्विदल' कहलाता है। द्विदल के साथ कच्चे गोरस का सयोग होने पर अनन्त सूक्ष्म जन्तुओ की उत्पत्ति हो जाती है। यह विषय तर्क-गम्य न होने पर भी मान्य है, क्योकि केवल-ज्ञानियो ने अतीन्द्रिय ज्ञान से जानकर इसका कथन किया है।

यहाँ 'द्विदल' के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से निम्नलिखित बात समझनी चाहिए—

१ जिस भोजन पर लीलन-फूलन आ गई हो, वह त्याज्य है।
२ दो दिन का बासी दही त्याज्य है।
३ जिसके स्वाभाविक रस, रूप आदि मे परिवर्तन हो गया हो ऐसा चलित रस—सड़ा-गला भोजन आदि भी त्याज्य है।

उपसहार

जन्तुमिश्र फल पुष्प, पत्र चान्यदपि त्यजेत्।
सन्धानमपि ससक्त, जिनधर्मपरायणः ॥ ७२ ॥

जिन-धर्म परायण श्रावको को त्रस-जीवो के ससर्ग वाले फल, पुष्प, पत्र, आचार तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

अनर्थ-दण्ड त्याग

आर्त्तरौद्रमपध्यानं, पाप - कर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारिदान च, प्रमादाचरण तथा ॥ ७३ ॥

जो निरर्थक हिंसा का कारण हो, वह अनर्थ-दण्ड कहलाता है। श्रावक सार्थक हिंसा का पूरी तरह त्याग नही कर पाता, तथापि उसे निरर्थक हिंसा का त्याग करना चाहिए। इसी उद्देश्य से इस व्रत का विधान किया गया है।

शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थित।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीय तु गुणव्रतम् ॥ ७४ ॥

अनर्थ दण्ड के चार भेद हैं—१ आर्त्त-रौद्र आदि अपध्यान, २. पाप कर्मोपदेश, ३ हिंसा के उपकरणो का दान, और ४ प्रमादाचरण।

शरीर आदि के निमित्त होने वाली हिंसा अर्थ-दण्ड और निरर्थक—निष्प्रयोजन की जाने वाली हिंसा अनर्थ-दण्ड है। इस अनर्थ-दण्ड का त्याग करना गृहस्थ का तीसरा गुणव्रत है।

१. अपध्यान

वैरिघातो नरेन्द्रत्व, पुरघाताग्निदीपने ।
खेचरत्वाद्यपध्यानं, मुहूर्त्तात्परतस्त्यजेत् ।। ७५ ।।

वैरी की घात करूँ, राजा हो जाऊँ, नगर को नष्ट कर दूँ, आग लगा दूँ, आकाश मे उडने की विद्या प्राप्त हो जाय तो आकाश मे उडूँ—विद्याधर हो जाऊँ इत्यादि दुर्ध्यान कदाचित् आ जाए तो उसे एक मुहूर्त से ज्यादा न टिकने दे। प्रथम तो इस प्रकार का दूषित विचार मन मे आने ही नही देना चाहिए और कदाचित् आ जाए तो उसे ठहरने नही देना चाहिए।

२ पापोपदेश

वृषभान् दमय क्षेत्र कृष षण्ढय वाजिनः ।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न युज्यते ।। ७६ ।।

बछडो का दमन करो खेत जोतो, घोडो को नपुसक करो, इस प्रकार का पापमय उपदेश देना उचित नही है। अपने पुत्र, भाई, हलवाह आदि को ऐसा उपदेश देने से गृहस्थ बच नही सकता, अत यहाँ 'दाक्षिण्याविषये' पद विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि बिना प्रयोजन अपनी चतुराई प्रकट करने के लिए इस प्रकार का उपदेश देना 'पापोपदेश' नामक अनर्थ-दण्ड कहलाता है। स्मरण रखना चाहिए कि अनर्थ-दण्ड वही होता है, जहाँ बिना किसी प्रयोजन के पाप किया जाता है। आगे भी ऐसा ही समझना चाहिए।

३. हिंसोपकरण दान

यन्त्र-लाङ्गल-शस्त्राग्निमुशलोदूखलादिकम् ।
दाक्षिण्याविषये हिंस्रं, नार्पयेत् करुणापर. ।। ७७ ।।

करुणा मे तत्पर श्रावक को बिना प्रयोजन, यत्र, हल, शस्त्र, अग्नि, मूसल, ऊखल, चक्की आदि हिंसाकारी साधन नही देना चाहिए।

४　प्रमाद-आचरण

कुतूहलाद् गीत-नृत्य-नाटकादिनिरीक्षणम् ।
काम-शास्त्रप्रसक्तिश्च, द्यूत-मद्यादिसेवनम् ॥ ७८ ॥
जलक्रीडाऽऽन्दोलनादिविनोदो, जन्तुयोधनम् ।
रिपो सुतादिना वैर, भक्तस्त्रीदेशराट्कथा ॥ ७९ ॥
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा,स्वापश्चसकला निशाम्।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरण सुधी ॥ ८० ॥

कुतूहल से गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, काम-शास्त्र मे आसक्ति रखना, जूआ और मद्य आदि का सेवन करना, जल-क्रीडा करना, हिंडोला-झूला झूलना आदि विनोद करना, साड आदि जानवरो को लडाना, अपने शत्रु के पुत्र आदि के प्रति वैर-भाव रखना या उससे वदला लेना, भोजन सम्वन्धी, स्त्री सम्वन्धी, देश सम्वन्धी, और राजा सम्वन्धी निरर्थक वार्तालाप करना, रोग या थकावट न होने पर भी रात भर सोते पडे रहना आदि-आदि प्रमादाचरणो का बुद्धिमान् पुरुष को त्याग कर देना चाहिए ।

विलास-हासनिष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथा ।
जिनेन्द्रभवनस्यान्तराहार च चतुर्विधम् ॥ ८१ ॥

धर्म-स्थान के अन्दर विलास-कामचेष्टा करना, कहकहा लगाकर हँसना, थूकना, नीद लेना, कलह करना, अभद्र बाते करने और अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य यह चार प्रकार का आहार करने का भी त्याग करे ।

सामायिक स्वरूप

त्यक्तार्त्त-रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्य कर्मण ।
मुहूर्त्त समता या ता, विदु सामायिक-व्रतम् ॥ ८२ ॥

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त समभाव मे रहना 'सामायिक व्रत' कहलाता है।

टिप्पण—ससार के अधिकाश दु खो का कारण विषय भाव—राग-द्वेषमय परिणाम है। जब यह विषय-भाव दूर हो जाता है और अन्त करण समभाव से पूरित हो जाता है, तब आत्मा को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। अत चित्त मे समभाव को जागृत करना ही धर्म-साधना का मुख्य उद्देश्य है। समभाव की जागृति के लिए निरन्तर नियमित अभ्यास अपेक्षित है और वही अभ्यास सामायिक व्रत है।

गृहस्थ—श्रावक सब प्रकार के अशुभ ध्यान और पापमय कार्यो का परित्याग करके दो घडी तक समभाव मे – आत्मचिन्तन, स्वाध्याय आदि मे व्यतीत करता है। यही गृहस्थ का 'सामायिक व्रत' है।

सामायिक का फल

सामायिकव्रतस्थस्य, गृहिणोऽपि स्थिरात्मन ।
चन्द्रावतसकस्येव, क्षीयते कर्म सञ्चितम् ॥ ८३ ॥

सामायिक व्रत मे स्थित, चचलता-रहित परिणाम वाले गृहस्थ के भी पूर्व सचित कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते है, जिस प्रकार राजर्षि चन्द्रावतसक के नष्ट हुए थे।

देशावकाशिक-व्रत

दिग्व्रते परिमाण यत्तस्य सक्षेपण पुन.।
दिने रात्रौ च देशावकाशिक-व्रतमुच्यते ॥ ८४ ॥

दिग्व्रत नामक छठे व्रत मे गमना-गमन के लिए जो परिमाण नियत किया गया है, उसे दिन तथा रात्रि मे सक्षिप्त कर लेना 'देशावकाशिक व्रत' है।

टिप्पण—दुनिया बहुत विस्तृत है। कोई भी एक मनुष्य सब जगह फैलकर वहाँ की परिस्थितियो से लाभ नही उठा सकता। फिर भी मानव मन मे व्यक्त या अव्यक्त रूप से ऐसी तृष्णा बनी रहती है और उसके कारण मन व्याकुल, क्षुब्ध और सतप्त बना रहता है। इस स्थिति

से बचने के लिए दिग्व्रत का विधान किया जा चुका है, जिसमे विभिन्न दिशाओ मे आने-जाने, व्यापार करने आदि की जीवन भर के लिए सीमा निर्धारित कर ली जाती है। परन्तु, उस निर्धारित सीमा मे हमेशा आना-जाना नही होता, अत एक दिन, प्रहर, घटा आदि तक उस सीमा का सकोच कर लेना 'देशावकाशिक व्रत' कहलाता है। इस व्रत की उपयोगिता इच्छाओ को सीमित करने मे है।

पोषध-व्रत

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधतम् ।
ब्रह्मचर्य-क्रिया-स्नानादित्याग पोषधव्रतम् ॥ ८५ ॥

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, यह चार पर्व दिवस हैं। इनमे उपवास आदि तप करना, पापमय क्रियाओ का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शोभा का त्याग करना 'पोषधव्रत' कहलाता है।

गृहिणोऽपि हि धन्यास्ते, पुण्य ये पोषधव्रतम् ।
दुष्पाल पालयन्त्येव, यथा स चुलनीपिता ॥ ८६ ॥

वे गृहस्थ भी धन्य हैं जो चुलनीपिता की भाँति, कठिनाई से पालन किये जाने वाले पवित्र पोषधव्रत का पालन करते हैं।

अतिथि-सविभाग व्रत

दान चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसद्मनाम् ।
अतिथिभ्योऽतिथिसविभागव्रतमुदीरितम् ॥ ८७ ॥

अतिथियो—त्यागमय जीवन यापन करने वाले सयमी पुरुषो को चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम भोजन, पात्र, वस्त्र और मकान देना 'अतिथि-सविभाग व्रत' कहलाता है।

अतिथि-दान का फल

पश्य संगमको नाम सम्पदं वत्सपालक. ।
चमत्कारकरी प्राप, मुनिदानप्रभावत. ॥ ८८ ॥

बछडो को चराने वाला सगम नामक ग्वाला मुनिदान के प्रभाव से आश्चर्यजनक सम्पत्ति का अधिकारी बन गया।

अतिचार त्याग

व्रतानि सातिचाराणि, सुकृताय भवन्ति न।
अतिचारास्ततो हेयाः पञ्च पञ्च व्रते व्रते ॥ ८९ ॥

जिस आचार से स्वीकृत व्रत आशिक रूप से खडित होता है, वह 'अतिचार' कहलाता है। अतिचार युक्त व्रत कल्याण करने वाले नही होते। अत· प्रत्येक व्रत के जो पाँच-पाँच अतिचार हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

१ अहिंसा-व्रत के अतिचार

क्रोधाद् बन्ध छविच्छेदोऽधिकभाराधिरोपणम्।
प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाहिंसाया परिकीर्त्तिताः ॥ ९० ॥

१. बन्ध—तीव्र क्रोधसे प्रेरित होकर, किसीके मरने की भी परवाह न करके मनुष्य या पशु आदि को बाँधना, २. चमडी का छेदन करना, ३ जिसकी जितनी भार उठाने की शक्ति है, उससे अधिक भार लादना या काम लेना, ४. मर्म-स्थल पर प्रहार करना, और ५. जिसका भोजन-पानी अपने अधिकार मे है, उसे समय पर भोजन-पानी न देना, ये अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार हैं।

२. सत्य-व्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश. सहसाऽभ्याख्यानं गुह्यभाषणम्।
विश्वस्तमन्त्रभेदश्च, कूटलेखश्च सूनृते ॥ ९१ ॥

सत्य-व्रत के पाँच अतिचार यह हैं—१. दूसरो को दुख उपजाने वाला पापजनक उपदेश देना, २ विचार किए बिना ही किसी पर दोषा-रोपण करना, ३. किसी की गुह्य वात जानकर प्रकट कर देना,

४ अपने पर विश्वास रखने वाले मित्र आदि की गुप्त बात प्रकट कर देना, और ५ झूठे लेख-पत्र—वहीखाता आदि लिखना।

३ अस्तेय-व्रत के अतिचार

स्तेनानुज्ञा तदानीतादान द्विड्राज्यलङ्घनम् ।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्व चास्तेयसश्रिता ॥ ९२ ॥

अचौर्यव्रत के पाँच अतिचार यह हैं—१ चोर को चोरी करने की प्रेरणा करना, २ चोरी का माल खरीदना, ३ व्यापार के निमित्त विरोधी—शत्रु राजा के निषिद्ध प्रदेश मे जाना, ४ मिलावट करके वस्तु का विक्रय करना, ५ झूठे माप-तोल रखना—देने के लिए छोटे और लेने के लिए बडे नापने-तोलने के उपकरण रखना।

४ ब्रह्मचर्य-व्रत के अतिचार

इत्वरात्तागमोऽनात्तागतिरन्य - विवाहनम् ।
मदनात्याग्रहोऽनङ्गक्रीडा च ब्रह्मणि स्मृता ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचार कहे गए हैं—१ भाडा देकर, थोडे समय के लिए अपनी स्त्री मान कर वेश्या के साथ गमन करना, २ अपरिगृहीता—वेश्या, कुलटा आदि के साथ गमन करना, ३. अपने पुत्र-पुत्री आदि के सिवाय, कन्यादान आदि के फल की कामना से दूसरो का विवाह कराना, ४. काम-भोग मे अत्यन्त आसक्ति रखना, और ५. काम-भोग के अगो के अतिरिक्त अन्य अगो से विषय सेवन करना—जैसे हस्तकर्म आदि करना।

टिप्पण—उपर्युक्त पाँच अतिचारो मे से पहले और दूसरे अतिचार की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। ग्रन्थ कर्त्ता ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जब कोई पुरुष भाडा देकर वेश्या को अपनी ही स्त्री समझ लेता है तब उसका सेवन अतिचार समझना चाहिए। क्योकि वह उस समय अपनी समझ से परस्त्री का नही, किन्तु स्वस्त्री का ही

सेवन करता है, अत व्रत का भग नही करता। परन्तु वास्तविक दृष्टि से, अल्पकाल के लिए गृहित होने पर भी वह परस्त्री ही है, अत. व्रत का भग होता है। इस प्रकार भगाभग रूप होने से 'इत्वरिकागमन अतिचार' माना गया है।

दूसरा अतिचार तभी अतिचार होता है, जब उपयोगहीनता की स्थिति मे उसका सेवन किया जाए अथवा अतिक्रम आदि रूप मे सेवन किया जाए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत दो प्रकार से अगीकार किया जाता है—स्वदार सतोषव्रत के रूप मे और परस्त्री त्याग के रूप मे। स्वदार सतोषी के लिए ही उक्त दो अतिचार हैं, परस्त्री त्यागी के लिए नही।

शेष तीन अतिचार दोनो के लिए समान रूप से हैं।

५. परिग्रह-परिमाण-व्रत के अतिचार

धन-धान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्रवास्तुन।
हिरण्यहेम्नश्च संख्याऽतिक्रमोऽत्र परिग्रहे॥ ९४॥

१ धन और धान्य सम्बन्धी, २ घर के साज-सामान सम्बन्धी, ३. गाय आदि पशुओ सम्बन्धी, ४ खेत तथा मकान सम्बन्धी, और ५. सोने-चाँदी सम्बन्धी निर्धारित सख्या-परिमाण का उल्लघन करना परिग्रह-परिमाण-व्रत के अतिचार हैं।

बन्धनाद् भावतो गर्भाद्योजनाद् दानतस्तथा।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष, पञ्चधाऽपि न युज्यते॥ ९५॥

धन-धान्य आदि के परिमाण का उल्लघन करने से व्रत का सर्वथा भग होना चाहिए, अतिचार नही, यह एक प्रश्न है? इसका समाधान यह है कि किए हुए परिमाण का पूरी तरह उल्लघन करने से व्रतभग होता है, किन्तु यहाँ जो उल्लघन बतलाया गया है, वह

व्रत सापेक्ष होने से अतिचार रूप है। अर्थात् जब तक व्रती ऐसा-समझता है कि मैंने व्रत भग नही किया है, तब तक वह अतिचार है।

टिप्पण—बन्धन, भाव, गर्भ, योजन और दान की अपेक्षा होने से उक्त पाँचो अतिचार हैं। पांच अतिचारो मे क्रमश बन्धनादि पाँच सापेक्षताएँ हैं। यथा—किसी ने धन-धान्य का जो परिमाण रखा है, ऋण की वसूली करने पर उससे अधिक हो जाता है तो देनदार से कहना—'यह धन-धान्य अभी अपने पास ही रहने दो, चौमासे के बाद मैं ले लूँगा।' इस प्रकार बन्धन करने से अतिचार लगता है, क्योकि उस धन-धान्य पर वह अपना स्वत्व स्थापित कर चुका है, फिर भी साक्षात् न लेकर समझता है कि मेरा व्रत भग नही हुआ है।

बरतन-भाडे कदाचित् मर्यादा से अधिक हो जाएँ तो छोटे-छोटे तुडवाकर बडे बनवा लेना और सख्या को बराबर रखना, पशुओ की सख्या मर्यादा से अधिक होने पर उनके गर्भ की या छोटे बछडे आदि की अमुक समय तक गिनती न करना, खेतो की सख्या अधिक हो जाने पर बीच की मेड तोड कर दो खेतो को एक बना लेना तथा सोना-चाँदी का परिमाण अधिक हो जाने पर कुछ भाग दूसरो के पास रख देना, यह सब अतिचार हैं।

६ दिग्व्रत के अतिचार

स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रम ।
क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्चेति स्मृता दिग्विरतिव्रते ॥ ९६ ॥

दिग्व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—१. विभिन्न दिशाओ मे जाने की, की हुई मर्यादा को भूल जाना, २—४ ऊर्ध्व दिशा, अधो-दिशा और तिर्यग—तिर्छी दिशा मे भूल से, परिमाण से आगे चला जाना, और ५ क्षेत्र की वृद्धि करना अर्थात् एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा का बढा लेना, जिससे परिमाण से आगे जाने का काम पड़ने पर आगे भी जा सके।

७ भोगोपभोग-परिमाण के अतिचार

सचित्तस्तेन सम्बद्धः, सम्मिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दु.पक्वाहार इत्येते भोगोपभोगमानगाः ॥ ९७ ॥

१. सचित्त आहार करना, २. सचित्त के साथ सम्बद्ध आहार करना, ३. सचित्त मिश्रित आहार करना, ४. अनेक द्रव्यो के सयोग से बने हुए सुरा-मदिरा आदि का सेवन करना, और ५ अधकच्चा-अधपक्का आहार करना—यह पाँच अतिचार सचित्त भोजन त्यागी के लिए हैं। अनजान मे या उपयोग शून्यता की स्थिति मे इनका सेवन करना अतिचार है और जान-बूझकर सेवन करने से व्रत भग हो जाता है।

कर्मादान

अमी भोजनतस्त्याज्या, कर्मत. खरकर्म तु ।
तस्मिन् पञ्चदशमलान्, कर्मादानानि सत्यजेत् ॥ ९८ ॥

अङ्गार - वन - शकट - भाटक - स्फोट-जीविका ।
दन्त-लाक्ष-रस-केश-विष-वाणिज्यकानि च ॥ ९९ ॥

यन्त्र-पीडा निर्लाञ्छनमसती-पोषणं तथा ।
दव-दानं सरशोष इति पञ्चदश त्यजेत् ॥ १०० ॥

भोगोपभोग-परिमाण-व्रत दो प्रकार से अगीकार किया जाता है—भोजन से और कर्म से। ऊपर जो अतिचार बतलाये गये हैं वे भोजन सम्बन्धी हैं। कर्म सम्बन्धी अतिचार खरकर्म अर्थात् कर्मादान हैं। वे पन्द्रह हैं। श्रावक के लिए वह भी त्याज्य हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अगार-जीविका, २. वन-जीविका, ३. शकट-जीविका, ४ भाटक-जीविका, ५ स्फोट-जीविका, ६ दन्त-वाणिज्य, ७. लाक्षा-वाणिज्य, ८. रस-वाणिज्य, ९ केश-वाणिज्य, १० विष-वाणिज्य, ११. यंत्रपीलन-कर्म, १२ निर्लाछन-कर्म, १३. असतीपोषण-कर्म, १४. दव-दान, और १५. सर-शोषण-कर्म।

१ इंगाल-कर्म

अगार-भ्राष्ट्रकरण, कुम्भाय स्वर्णकारिता ।
ठठारत्वेष्टकापाकाविति ह्यगारजीविका ॥ १०१ ॥

लकडियो के कोयले बनाने का, भडभूजे का, कुभार का, लोहार का, सुनार का, ठठेरे—कसेरे का और ईंट पकाने का धधा करना 'अगार-कर्म' कहलाता है ।

२ वन-कर्म

छिन्नाच्छिन्न-वन-पत्र-प्रसून - फल - विक्रयः ।
कणाना दलनात्पेषाद् वृत्तिश्च वन-जीविका ॥ १०२ ॥

वनस्पतियो के छिन्न या अच्छिन्न पत्तो, फूलो या फलो को वेचना तथा अनाज को दलने या पीसने का धधा करना 'वन-जीविका' है ।

३ शकट-कर्म

शकटाना तदङ्गानां, घटन खेटन तथा ।
विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्त्तिता ॥ १०३ ॥

छकडा—गाडी आदि या उनके पहिया आदि अगो को बनाने-बनवाने, चलाने तथा वेचने का धधा करना 'शकट-जीविका' है ।

४ भाटक-कर्म

शकटोक्षलुलायोष्ट्र - खराश्वतर - वाजिनाम् ।
भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद्-भाटक-जीविका ॥ १०४ ॥

गाडी, वैल, भैंसा, ऊँट, गधा, खच्चर और घोडे आदि पर भार लादने की अर्थात् इनसे भाडा-किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटक-जीविका' है ।

५ स्फोट-कर्म

सर कूपादि-खनन-शिला-कुट्टन-कर्मभि ।
पृथिव्यारम्भ-सम्भूतैर्जीवन स्फोट-जीविका ॥ १०५ ॥

तालाब, कूप, बावडी आदि खुदवाने, और पत्थर फोडने-गढ़ने आदि पृथ्वीकाय की प्रचुर हिंसा रूप कर्मों से आजीविका चलाना 'स्फोट-जीविका' है।

६. दन्त-वाणिज्य

दन्त-केश-नखास्थि-त्वग्-रोम्णो ग्रहणमाकरे।
त्रसागस्य वणिज्यार्थ, दन्त-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०६ ॥

हाथी के दात, चमरी गाय आदि के बाल, उलूक आदि के नाखून, शख आदि की अस्थि, शेर-चीता आदि के चर्म और हस आदि के रोम और अन्य त्रसजीवो के अगो को, उनके उत्पत्ति स्थान मे जाकर लेना या पेशगी द्रव्य देकर खरीदना 'दन्त-वाणिज्य' कहलाता है।

७ लाक्षा-वाणिज्य

लाक्षा-मन शिला-नीली-धातकी-टंकणादिन।
विक्रय पापसदनं लाक्षा-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०७ ॥

लाख, मैनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि, टकण-खार आदि पाप के कारण है, अत उनका व्यापार भी पाप का कारण है। यह 'लाक्षावाणिज्य' कर्मादान कहलाता है।

८-९. रस-केश-वाणिज्य

नवनीत-वसा - क्षौद्र - मद्य - प्रभृति - विक्रय।
द्विपाच्चतुष्पाद्-विक्रयो वाणिज्यं रस-केशयोः ॥ १०८ ॥

मक्खन, चर्बी, मधु और मद्य आदि बेचना 'रस-वाणिज्य' कहलाता है और द्विपद एव चतुष्पद अर्थात् पशु-पक्षी आदि का विक्रय करने का धधा करना 'केश-वाणिज्य' कहलाता है।

१० विष वाणिज्य

विषास्त्र-हल-यंत्रायो-हरितालादि-वस्तुनः।
विक्रयो जीवितघ्नस्य, विष-वाणिज्यमुच्यते ॥ १०९ ॥

विष, शस्त्र, हल, यत्र, लोहा और हडताल आदि प्राण घातक वस्तुओ का व्यापार करना 'विष-वाणिज्य' कहलाता है।

११ यंत्रपीडन-कर्म

तिलेक्षु-सर्षपैरण्ड-जलयन्त्रादि - पीडनम् ।
दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्त्तिता ॥ ११० ॥

तिल, ईख, सरसो और एरड आदि को पीलने का तथा अरहट आदि चलाने का धधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धधा करना और इस प्रकार के यत्रो को बनाकर आजीविका चलाना 'यत्रपीडन-कर्म' कहलाता है।

१२ निर्लांछन-कर्म

नासोवेधोऽङ्कन मुष्कच्छेदन पृष्ठ-गालनम् ।
कर्ण-कम्बल-विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥ १११ ॥

जानवरो की नाक बीधना—नत्थी करना, आकना—डाम लगाना, बधिया—खस्सी करना, ऊँट आदि की पीठ गालना और कान तथा गल-कबल का छेदन करना 'निर्लांछन-कर्म' कहा गया है।

१३ असती-पोषण-कर्म

सारिका-शुक-मार्जार-श्व-कुर्कुट-कलापिनाम् ।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसती-पोषण विदु ॥ ११२ ॥

मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा एव मयूर को पालना, दासी का पोषण करना—किसी को दास-दासी बनाकर रखना और पैसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियो को रखना 'असती-पोषण-कर्म' कहलाता है।

१४-१५ दवदान तथा सर-शोषण-कर्म

व्यसनात् पुण्यबुद्धया वा, दवदान भवेद् द्विधा ।
सर·शोषः सर सिन्धु-ह्रदादेरम्बुसप्लव· ॥ ११३ ॥

आदत के वश होकर या पुण्य समझ कर दव—जंगल मे आग लगाना 'दव-दान' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सर शोष कर्म' है।

टिप्पण—उक्त पन्द्रह कर्मादान दिग्दर्शन के लिए हैं। इनके समान विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार-धधे भी हैं, जो श्रावक के लिए त्याज्य हैं। यही बात अन्यान्य व्रतो के अतिचारो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। एक-एक व्रत के पाँच अतिचारो के समान अन्य अतिचार भी व्रत-रक्षा के लिए त्याज्य हैं।

८ अनर्थदण्ड-व्रत के अतिचार

संयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्यमथ कौत्कुच्यं कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः ॥ ११४ ॥

अनर्थदण्ड-त्याग व्रत के पाँच अतिचार होते हैं—१ सयुक्ताधिकरणता—हल, मूसल, गाडी आदि हिंसाजनक उपकरणो को जोडकर तैयार रखना, जैसे—ऊखल के साथ मूसल, हल के साथ फाल, गाड़ी के साथ जुआ, धनुष के साथ वाण आदि अधिकरण सयुक्त होने से दूसरा कोई सहज ही उसे ले सकता है। २. आवश्यकता से अधिक भोग-उपभोग की वस्तुएँ रखना। ३. मौखर्य—वाचालता अर्थात् बिना विचारे बकवाद करना। ४. कौत्कुच्य—भाँड के समान शारीरिक कुचेष्टाएँ करना। ५. कदर्प—कामोत्पादक वचनो का प्रयोग करना।

९. सामायिक-व्रत के अतिचार

काय-वाङ्मनसा दुष्ट-प्रणिधानमनादर ।
स्मृत्यनुपस्थापनञ्च स्मृताः सामायिक-व्रते ॥ ११५ ॥

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं—१-३. सामायिक के समय मन, वचन और काय—शरीर की सदोष प्रवृत्ति होना, ४ सामायिक

के प्रति आदर-भाव न होना, ५ सामायिक ग्रहण करने या उसके समय का स्मरण न रहना, जैसे कि मैंने सामायिक की है अथवा नही ?

१० देशावकाशिक-व्रत के अतिचार

प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा ।
शब्दरूपानुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥ ११६ ॥

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार हैं—१ प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से वाहर, प्रयोजन होने पर सेवक आदि को भेज देना, २. आनयन—मर्यादित क्षेत्र से वाहर की वस्तु दूसरे से मँगवा लेना, ३ प्रद्गलक्षेप—मर्यादित क्षेत्र के वाहर के मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ककर आदि फेंकना, ४ शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र से वाहर के मनुष्य को आवाज देकर वुला लेना, और ५ रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से वाहर के आदमी को अपना चेहरा दिखलाना, जिससे वह उसके पास आ जाए ।

टिप्पण—इस व्रत का प्रयोजन तृष्णा को सीमित करना है। व्रती जव व्रत को भग न करते हुए भी व्रत के प्रयोजन को भग करने वाला कोई कार्य करता है, तो वह 'अतिचार' कहलाता है।

११. पोषध-व्रत के अतिचार

उत्सर्गादानसंस्तारानानवेक्ष्याप्रमृज्य च ।
अनादर स्मृत्यनुपस्थापन चेति पोषधे ॥ ११७ ॥

पोषध व्रत के पांच अतिचार हैं—१ भूमि को विना देखे और विना प्रमार्जन किए मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग—त्याग करना। २ पाट-चौकी आदि वस्तुएँ विना देखे और विना प्रमार्जन किए रखना-उठाना। ३. विना देखे, विना पूंजे विस्तर-आसन विछाना। ४. पोषध-व्रत के प्रति आदर न होना, और ५ पोषध करके भूल जाना।

१२ अतिथि संविभाग-व्रत के अतिचार

सच्चित्ते क्षेपणं तेन, पिधानं काललङ्घनम्।
मत्सरोऽन्योपदेशश्च, तुर्ये शिक्षाव्रते स्मृता ॥ ११८ ॥

१. आहारार्थ मुनि के आने पर देय वस्तु को सचित्त पदार्थ के ऊपर रख देना। २. सचित्त पदार्थ से ढँक देना। ३ मुनियो की भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना। ४ दूसरे दाता के प्रति या मुनि के प्रति ईर्षा-भाव से प्रेरित होकर दान देना, तथा ५. 'यह पराई वस्तु है'—ऐसा बहाना करके न देना, यह चौथे शिक्षा व्रत के पाँच अतिचार है।

महाश्रावक

एव व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्।
दयाया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥ ११९ ॥

इस प्रकार बारह व्रतो मे स्थित तथा भक्तिपूर्वक सात क्षेत्रो मे—पोषधशाला, धर्मस्थान, आगम, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी के निमित्त, तथा करुणापूर्वक अति दीन जनो को दान देने वाला 'महाश्रावक' कहलाता है।

त्याग की प्रशंसा

य· सद् बाह्यमनित्यं च, क्षेत्रेषु न धनं वपेत्।
कथ वराकश्चारित्रं, दुश्चरं सः समाचरेत् ॥ १२० ॥

जो धन विद्यमान है, वह बाह्य शरीर से भिन्न है और अनित्य है। अत· जो व्यक्ति उत्तम पात्र के मिलने पर भी ऐसे धन का त्याग नही कर सकता, वह दुश्चर चारित्र का क्या पालन करेगा? चारित्र के लिए तो सर्वस्व का और साथ ही आन्तरिक विकारो का भी परित्याग करना पडता है।

श्रावक की दिनचर्या

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठि स्तुतिं पठन् ।
किं धर्मा किं कुलश्चास्मि किं व्रतोऽस्मीति च स्मरन्॥१२१॥

व्रह्म मुहूर्त्त मे निद्रा का परित्याग करके श्रावक पञ्च परमेष्ठी की स्तुति करे। तत्पश्चात् वह यह विचार करे—"मेरा धर्म क्या है ? मैं किस कुल मे जन्मा हूं ? मैंने कौन से व्रत स्वीकार किए हैं ?"

शुचि पुष्पामिष-स्तोत्रैर्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि ।
प्रत्याख्यान यथाशक्ति कृत्वा देवगृहं व्रजेत् ॥ १२२ ॥
प्रविश्य विधिना तत्र त्रि प्रदक्षिणयेज्जिनम् ।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य स्तवनैरुत्तमै स्तुयात् ॥ १२३ ॥

तत्पश्चात् पवित्र होकर पुष्प-नैवेद्य एव स्तोत्र आदि से अपने गृहचैत्य मे जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे। फिर शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान करके जिन-मन्दिर मे जाए।

जिन-मन्दिर मे प्रवेश करके विधिपूर्वक जिन-देव की तीन वार प्रदक्षिणा करे, फिर पुष्प आदि द्रव्यो से पूजा करके श्रेष्ठ स्तोत्रों से स्तुति करे।

टिप्पण—श्रावक को प्रभात मे क्या करना चाहिए, यह वतलाना ही यहाँ आचार्य का अभिप्रेत है। उन्होने अपनी परम्परागत मान्यता के अनुसार यह विधान किया है। किन्तु जो गृहस्थ मदिरमार्गी नही हैं, उन्हे भी प्रभातकालीन धर्मकृत्य तो करना ही चाहिए। वे अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार सामायिक आदि कृत्य करे। किन्तु प्रभात के सुन्दर समय मे धर्मकृत्य किये विना नही रहना चाहिए।

गुरु-भक्ति

ततो गुरुणाभ्यर्णे प्रतिपत्तिपुर सरम् ।
विदधीत विशुद्धात्मा प्रत्याख्यान-प्रकाशनम् ॥ १२४ ॥

समस्त कार्यों से निवृत्त होकर वह विशुद्ध आत्मा—श्रावक गुरु की सेवा मे उपस्थित होकर, गुरुदेव को भक्ति पूर्वक वन्दन-नमस्कार करे और अपने ग्रहण किए हुए प्रत्याख्यान को उनके समक्ष प्रकट करे।

अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेष., स्वयमासनढौकनम् ॥ १२५ ॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या वन्दना पर्युपासना।
तद्यानेऽनुगमश्चेति प्रतिपत्तिरियं गुरो. ॥ १२६ ॥

गुरु को देखते ही खडे हो जाना, आने पर सामने जाना, दूर से ही मस्तक पर अजलि जोड़ना, बैठने के लिए स्वय आसन प्रदान करना, गुरु के बैठ जाने के बाद बैठना, भक्ति पूर्वक वदना और उपासना करना, उनके गमन करने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, यह सब गुरु की भक्ति है।

दिन-चर्या

तत. प्रतिनिवृत्त सन् स्थानं गत्वा यथोचितम्।
सुधीर्धर्माऽविरोधेन, विदधीतार्थ-चिन्तनम् ॥ १२७ ॥

धर्म स्थान से लौटकर, आजीविका के स्थान मे जाकर बुद्धिमान् श्रावक इस प्रकार धनोपार्जन करने का प्रयत्न करे कि उसके धर्म एव व्रत-नियमो मे बाधा न पहुंचे।

ततो माध्याह्निकी पूजा कुर्यात् कृत्वा च भोजनम्।
तद्विद्भिः सह शास्त्रार्थरहस्यानि विचारयेत् ॥ १२८ ॥

तत्पश्चात् मध्याह्न कालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्र वेत्ताओ के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे।

ततश्च सन्ध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात्स्वाध्यायमुत्तमम् ॥ १२९ ॥

सध्या समय पुन. देव-गुरु की उपासना करके प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे और फिर उत्तम स्वाध्याय करे।

न्याय्ये काले ततो देव-गुरुस्मृति-पवित्रित ।
निद्रामल्पामुपासीत, प्रायेणाब्रह्म-वर्जक ॥ १३० ॥

स्वाध्याय आदि धर्म-ध्यान करने के बाद उचित समय होने पर देव और गुरु के स्मरण से पवित्र बना हुआ और प्राय अब्रह्मचर्य का त्यागी या नियमित जीवन विताने वाला श्रावक अल्प निद्रा ले।

निद्राच्छेदे योषिदङ्गसतत्त्व परिचिन्तयेत् ।
स्थूलभद्रादिसाधूना तन्निवृत्ति परामृशन् ॥ १३१ ॥

रात्रि के लगभग व्यतीत हो जाने पर निद्रा त्याग करने के बाद स्थूलभद्र आदि साधुओ ने किस प्रकार काम-वासना का त्याग किया था, इसका विचार करते हुए काम-वासना के निस्सार, अपवित्र, दु खद एव भयावने स्वरूप का चिन्तन करे।

स्त्री-शरीर की अशुचिता

यकृच्छकृन्मल-श्लेष्म-मज्जास्थि-परिपूरिता ।
स्नायुस्यूता बही रम्या स्त्रियश्चर्मप्रसेविका ॥ १३२ ॥
वहिरन्तर्विपर्यासि स्त्री-शरीरस्य चेद् भवेत् ।
तस्यैव कामुक कुर्याद् गृध्रगोमायुगोपनम् ॥ १३३ ॥
स्त्री-शस्त्रेणापि चेत्कामो जगदेतज्जिगीषति ।
तुच्छपिच्छमय शस्त्र किं नादत्ते स मूढधी ॥ १३४ ॥

स्त्रियो के शरीर निरन्तर विष्ठा, मल, श्लेष्म, मज्जा और हाडो से परिपूर्ण हैं, अत वे केवल बाहर से ही स्नायु से सिली हुई धौंकनी के समान रमणीय प्रतीत होते हैं।

स्त्री-शरीर मे अगर उलट-फेर कर दिया जाए, अर्थात् भीतर का रूप बाहर और बाहर का रूप अन्दर कर दिया जाए, तो कामी पुरुष

को दिन-रात गीधो और सियालो आदि से रक्षा करनी पड़े। उसके भोग करने का अवसर ही न मिले।

अगर काम स्त्री-शरीर रूपी शस्त्र से भी सारे जगत् को जीतना चाहता है, तो वह मूढ पिच्छ रूप शस्त्र क्यो नही ग्रहण करता? अभिप्राय यह है कि काम अगर समग्र विश्व को जीतना चाहता है, तो मल-मूत्र आदि से भरे हुए और कठिनाई से प्राप्त होने वाले स्त्री-शरीर को अपना शस्त्र बनाने के बजाय काकादि के पिच्छो को, जो ऐसे अपवित्र और दुर्लभ नही है, अपना शस्त्र बना लेता तो कही बेहतर होता। स्त्री-शरीर मे तो काकादि के पिच्छो के बराबर भी सार नही है।

टिप्पण—जैनागम मे 'लिंग' और 'वेद' दो शब्दो का प्रयोग हुआ है। लिंग का अर्थ 'आकार' है और वेद का अभिप्राय 'वासना' है। अत पतन का कारण लिंग नही, वेद है। आकार—भले ही स्त्री का हो या पुरुष का, पतन का कारण नही है, पतन का कारण है—वासना। अत स्त्री बुरी नही है। वह केवल वासना की साकार मूर्ति नही है, त्याग-तप एव सेवा की प्रतिमा भी है। वह भी पुरुष की तरह साधना करके मुक्ति को प्राप्त कर सकती है। अत उसे निन्दा एव प्रताडन के योग्य समझना भारी भूल है।

प्रश्न हो सकता है कि फिर पूर्वाचार्यो एव प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने नारी की निन्दा क्यो की? इसका समाधान यह है कि मध्य युग मे नारी को भोग-विलास का साधन मान लिया गया था और सन्त भी इस सामन्तवादी विचारधारा से अछूते नही रह पाए। उन्होने जब भी वासना की निन्दा की तो उसके साथ स्त्री के शरीर का सम्बन्ध जोड दिया।

वस्तुतः देखा जाए तो जैसे—पुरुष के लिए स्त्री का शरीर विकार भाव जागृत करने का निमित्त बन सकता है, उसी प्रकार पुरुष का

शरीर नारी के मन मे विकार भाव जगाने का साधन बन सकता है और वह (पुरुष का शरीर) भी स्त्री के शरीर की तरह मल-मूत्र एव विष्ठा से भरा हुआ है, निस्सार है, मास और हड्डियो का पिञ्जर है। स्त्री-शरीर के वर्णन मे दी गई समस्त बातें पुरुष-शरीर मे भी घटित होती हैं। अत प्रस्तुत मे स्त्री-शरीर की निस्सारता का वर्णन करने का उद्देश्य स्त्री की निन्दा करना नही, बल्कि विकारो की निन्दा करना है, उनकी निस्सारता को बताना है। क्योकि, स्त्री भी पुरुष की तरह मुक्ति को प्राप्त कर सकती है। अत उसकी निन्दा करना उचित नही कहा जा सकता है।

सकल्पयोनिनानेन, हहा विश्व विडम्बितम्।
तदुत्खनामि सकल्प, मूलमस्येति चिन्तयेत्॥ १३५॥

निद्रा भग होने के पश्चात् श्रावक को यह भी विचार करना चाहिए कि सकल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाले इस काम ने सारे विश्व की विडम्वना कर रखी है। अत मैं विषय-विकार की जड—सकल्प-विकल्प को ही उखाड फेंकूगा।

यो य स्याद्बाधको दोषस्तस्य तस्य प्रतिक्रियाम्।
चिन्तयेद्दोषमुक्तेषु, प्रमोद यतिषु व्रजन्॥१३६॥

जिस व्यक्ति को अपने जीवन मे जो दोष दिखाई दे, उसे उस दोष से मुक्त मुनियो पर प्रमोद भाव धारण करते हुए उस दोष से मुक्त होने का विचार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो रोग हो, उसी के इलाज का विचार करना उचित है। जिसमे राग की अधिकता हो उसे वैराग्य का, क्रोध अधिक हो तो क्षमा का एव मान अधिक होने पर नम्रता का विचार करना लाभप्रद होता है।

दु स्था भवस्थिर्ति स्थेम्ना सर्वजीवेपु चिन्तयन्।
निसर्गसुखसर्गं तेष्वपवर्ग विमार्गयेत्॥१३७॥

ससार परिभ्रमण सभी जीवो के लिए दुःखमय है। भवचक्र मे पडा हुआ कोई भी प्राणी सुखी नही रहता। अत स्थिर चित्त से इस प्रकार विचार करता हुआ श्रावक सब जीवो के लिए मोक्ष की कामना करे, जहाँ स्वाभाविक रूप से सुख का ही सद्भाव है।

संसर्गेऽप्युपसर्गाणा दृढ-व्रत - परायण ।
धन्यास्ते कामदेवाद्या श्लाघ्यास्तीर्थकृतामपि ॥ १३८ ॥

निद्रा त्याग के पश्चात् ऐसा भी विचार करना चाहिए कि "उपसर्गों की प्राप्ति होने पर भी अपने व्रत के रक्षण और पालन मे दृढ रहने वाले कामदेव आदि श्रावक तीर्थंकरो की प्रशसा के पात्र बने थे। अत वे धन्य है।"

जिनो देवः कृपा धर्मो गुरवो यत्र साधवः ।
श्रावकत्वाय कस्तस्मै न श्लाघयेताविमूढधीः ॥ १३९ ॥

श्रावकत्व की प्राप्ति होने पर वह वीतराग जिनेन्द्र को देव, दया को धर्म और पच महाव्रतधारी साधु को गुरु के रूप मे स्वीकार करता है। ऐसे शुद्ध देव, गुरु और धर्म को मानने वाले श्रावक की कौन बुद्धिमान प्रशसा नही करेगा ?

श्रावक के मनोरथ

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भूवं चक्रवर्त्यपि ।
स्या चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासित्त ॥ १४० ॥

जैन-धर्म से वचित होकर मैं चक्रवर्ती भी न होऊँ, किन्तु जैन-धर्म को प्राप्त करके मुझे दास होना और दरिद्र होना भी स्वीकार है।

त्यक्तसंगो जीर्णवासा, मलक्लिन्नकलेवरः ।
भजन् माधुकरी वृत्ति, मुनिचर्या कदा श्रये ॥ १४१ ॥
त्यजन् दुःशील-ससर्ग, गुरुपाद-रज स्पृशन् ।
कदाऽहं योगमभ्यस्यन्, प्रभवेयं भवच्छिदे ॥ १४२ ॥

महानिशाया प्रकृते, कायोत्सर्गे पुराद्वहिः ।
स्तभवत्स्कधकर्षण, वृषा कुर्यु कदा मयि ॥ १४३ ॥

वने पद्मासनासीन, क्रोडस्थित-मृगार्भकम् ।
कदाऽऽघ्रास्यति वक्त्रे मा जरन्तो मृगयूथपा ॥ १४४ ॥

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेपमति कदा ॥ १४५ ॥

अधिरोढु गुणश्रेणि, निश्रेणी मुक्तिवेश्मन ।
परानन्दलताकन्दान्, कुर्यादिति मनोरथान् ॥ १४६ ॥

श्रावक को प्रतिदिन यह मनोरथ करना चाहिए कि "मेरे जीवन मे वह मगलमय दिन कव आएगा, जब मैं समस्त पर-पदार्थों के सयोगो का त्यागी, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र का धारक, शरीर के स्नान आदि सस्कार से निरपेक्ष होकर मधुकरी वृत्ति युक्त मुनिचर्या का अवलम्बन लूंगा ।"

"अनाचारियो की सगति का त्याग करके, गुरुदेव की चरण-रज का स्पर्श करता हुआ, योग का अभ्यास करके जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने मे मैं कब समर्थ होऊंगा ?"

ऐसा अवसर कब आएगा कि "मैं घोर रात्रि के समय, नगर से बाहर निश्चल भाव से कार्योत्सर्ग मे लीन रहूं और मुझे स्तभ—खभा समझ कर बैल मेरे शरीर से अपना कधा घिसें ? मुझे ध्यान की ऐसी तल्लीनता और निश्चलता कब प्राप्त होगी ?"

अहा, कब वह अवसर प्राप्त होगा कि "मैं वन मे पद्मासन जमाकर स्थित होऊं, हिरन के बच्चे मेरी गोद मे आकर बैठ जाएँ और मृगों की टोली का मुखिया वृद्ध मृग मुझे जड समझ कर मेरे मुख को सूंघे ?"

ऐसा शुभ अवसर कब आएगा कि "मैं शत्रु और मित्र पर, तृण और स्त्रियो के समूह पर, स्वर्ण और पाषाण पर, मणि और मिट्टी पर

तथा मोक्ष और ससार पर समबुद्धि रख सकूँ ? अर्थात् समस्त दु खो का निवारक और समस्त सुख का कारण समभाव मुझे कब प्राप्त होगा ?"

यह मनोरथ मोक्ष रूपी महल मे प्रविष्ट होने के लिए निश्रेणि— नसैनी के समान गुणस्थानो की श्रेणी पर उत्तरोत्तर आरूढ होने के लिए आवश्यक हैं। परमानन्द रूपी लता के कद है। श्रावक को इन मनोरथो का सदा चिन्तन करना चाहिए।

> इत्याहोरात्रिकी चर्यामप्रमत्त समाचरन् ।
> यथावदुक्तवृत्तस्थो गृहस्थोऽपि विशुध्यति ॥ १४७ ॥

इस प्रकार दिन-रात सम्बन्धी चर्या का अप्रमत्त रूप से सेवन करने वाला और पूर्वोक्त व्रतो मे स्थिर रहने वाला गृहस्थ, साधु न होने पर भी पापो का क्षय करने मे समर्थ होता है।

साधना विधि

> सोऽथावश्यक-योगाना, भगे मृत्योरथागमे ।
> कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च सयमम् ॥ १४८ ॥
> जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष-स्थानेषु श्रीमदर्हताम् ।
> तदभावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते ॥ १४९ ॥
> त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं, नमस्कार-परायण ।
> आराधना विधायोच्चैश्चतु शरणमाश्रित ॥ १५० ॥
> इहलोके परलोके जीविते मरणे तथा ।
> त्यक्त्वाशसा निदान च, समाधिसुधयोक्षित. ॥ १५१ ॥
> परीषहोपसर्गेभ्यो निर्भीको जिनभक्ति भाक् ।
> प्रतिपद्येत मरणमानन्द श्रावको यथा ॥ १५२ ॥

श्रावक जब अवश्य करने योग्य सयम-व्यापारो का सेवन करने मे असमर्थ हो जाय अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ पहुँचे, तब वह सर्व-प्रथम सलेखना करे अर्थात् आहार का त्याग करके शरीर और

क्रोधादि का त्याग करके कषायो को कृश पतला करे और सयम को स्वीकार करे।

सलेखना करने के लिए अरिहन्तो के जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक या निर्वाण-कल्याणक के स्थलो पर पहुँच जाए। कल्याणक भूमि समीप मे न हो तो घर पर या वन मे, जीव-जन्तु से रहित शान्त-एकान्त भूमि मे सलेखना करे।

सर्वप्रथम अशन, पान, खादिम, स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार त्याग कर नमस्कार मत्र का जाप करने मे तत्पर हो। फिर ज्ञानादि की निरतिचार आराधना करे और अरिहन्त आदि चार शरणो का अवलम्बन रखे।

उस समय श्रावक के चित्त मे न इहलोक सम्बन्धी कामना रहे और न परलोक सम्बन्धी। उसे न जीवित रहने की इच्छा हो और न मरने की। उसे निदान युक्त की जाने वाली साधना के लौकिक फल की लिप्सा भी न रहे। वह पूरी तरह निष्काम भाव होकर समाधि रूपी सुधा से सिंचित बना रहे अर्थात् समाधि भाव मे सलग्न रहे।

वह परीषहो और उपसर्गों से भयभीत न हो तथा जिन-भगवान् की भक्ति मे तन्मय रहे। इस प्रकार आनन्द श्रावक की भाँति समाधि-मरण को प्राप्त करे।

आराधना का फल

> प्राप्त स कल्पेष्विन्द्रत्वमन्यद्वा स्थानमुत्तमम्।
> मोदतेऽनुत्तर-प्राज्य - पुण्य - सभारभाक् तत ॥१५३॥
> च्युत्वोत्पद्य मनुष्येषु, भुक्त्वा भोगान् सुदुर्लभान्।
> विरक्तो मुक्तिमाप्नोति शुद्धात्मान्तर्भवाष्टकम् ॥१५४॥

इस प्रकार श्रावक-धर्म की आराधना करने वाला गृहस्थ देवलोक मे इन्द्र पद या अन्य किसी श्रेष्ठ पद को प्राप्त करता है। वहाँ जगत् के

सर्वोत्कृष्ट और महान् पुण्य का उपभोग करता हुआ आनन्द में रहता है।

देव आयु पूर्ण होने पर वह वहाँ से च्युत होकर, मनुष्य गति मे जन्म लेता है और दुर्लभ भोगो को भोग कर तथा ससार से विरक्त होकर वह शुद्धात्मा उसी भव मे या सात-आठ भवो मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उपसहार

इति संक्षेपत सम्यक्-रत्न-त्रयमुदीरितम्।
सर्वोऽपि यदनासाद्य, नासादयति निर्वृतिम्॥ १५५॥

जिस रत्नत्रय को प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा मुक्ति नही पा सकता, उस रत्न-त्रय—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की साधना का सक्षेप मे वर्णन किया गया है।

जिस धर्म-साधना के द्वारा अपवर्ग—मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे 'योग' कहते हैं।

—आचार्य हरिभद्र

समस्त आत्म शक्तियो का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, साधना एव आचार-परपरा 'योग' है।

—लार्ड एवेवरीने

ज्ञान तभी परिपक्व समझा जाता है, जबकि ज्ञान के अनुरूप आचरण किया जाए। असल मे यह आचरण ही 'योग' है।

—प० सुखलाल संघवी

सधना के लिए आचार के पहले ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती।

—भगवान महावीर

जिसमे योग—एकाग्रता नहीं है वह योगी नहीं, ज्ञान-बन्धु है।

—योगवासिष्ठ

योग का कलेवर—शरीर एकाग्रता है और उसकी आत्मा अहत्व—ममत्व का त्याग है। जिसमे केवल एकाग्रता है, वह 'व्यवहारिक-योग' है और जिसमे एकाग्रता के साथ अहभाव का त्याग भी है, वह 'परमार्थ-योग' है।

—प० सुखलाल सघवी

चतुर्थ प्रकाश

आत्मा और रत्न-त्रय का अभेद

तीसरे प्रकाश मे धर्म और धर्मी के भेद की विवक्षा करके रत्न-त्रय को आत्मा के मोक्ष का कारण बतलाया है, किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से धर्म और धर्मी का अभेद भी सिद्ध होता है। इस अपेक्षा से अब रत्नत्रय के साथ आत्मा के एकत्व भाव का निरूपण किया जाता है।

आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यते ।
यत्तदात्मक एवैष शरीरमधितिष्ठति ॥ १ ॥

मुनि की आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है, क्योकि आत्मा इसी रूप मे शरीर मे स्थित है।

अभेद का समर्थन

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद्य आत्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्चदर्शनम् ॥ २ ॥

मोह का त्याग करके जो योगी अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा के द्वारा अपनी ही आत्मा मे जानता है, वही उसका चारित्र है, वही उसका ज्ञान है और वही उसका दर्शन है।

आत्म-ज्ञान का महत्व

आत्माज्ञानभवं दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते ।
तपसाप्यात्म-विज्ञानहीनैश्छेत्तुं न शक्यते ॥ ३ ॥

समस्त दु ख का कारण आत्मा सम्बन्धी अज्ञान है, अत उसके विरोधी आत्म-ज्ञान से ही उसका क्षय होता है। जो आत्म-ज्ञान से रहित है, वे तपस्या करके भी दु ख का छेदन नही कर सकते।

अयमात्मैव चिद्रूप शरीरी कर्मयोगत ।
ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जन. ॥ ४ ॥
अयमात्मैव ससार कपायेन्द्रियनिर्जितः ।
तमेव तद्विजेतार मोक्षमाहुर्मनीपिण ॥ ५ ॥

वास्तव मे आत्मा चेतन स्वरूप है। कर्मों के सयोग से यह शरीर-धारी वनती है। जव यह आत्मा शुक्ल-ध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्मों को भस्म कर देती है, तो निर्मल होकर मुक्तात्मा वन जाती है।

किन्तु कपायो और इन्द्रियो से पराजित होकर यह आत्मा ससार में रहकर शरीर धारण करती है और जव आत्मा कपायो तथा इन्द्रियों को जीत लेती है, तो उसी को प्रवुद्ध पुरुप मोक्ष कहते हैं।

कषाय-स्वरूप

स्यु कषाया क्रोधमानमायालोभा शरीरिणाम् ।
चतुर्विधास्ते प्रत्येक भेदै सज्वलनादिभि ॥ ६ ॥
पक्ष सज्वलन· प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।
अप्रत्याख्यानको वर्प जन्मानन्तानुवन्धक ॥ ७ ॥
वीतराग-यति-श्राद्ध - सम्यग्दृष्टित्व - घातका ।
ते देवत्व मनुष्यत्व तिर्यक्त्व - नरकप्रदा ॥ ८ ॥

शरीरधारी आत्माओ मे चार कपाय होते है—१ क्रोध, २ मान, ३ माया, और ४ लोभ। सज्वलन आदि के भेद से यह क्रोधादि कपाय चार चार प्रकार के हैं—

१. सज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।
२ अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।

३. प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

४. अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया लोभ ।

संज्वलन कषाय की काल-मर्यादा पन्द्रह दिन की है, प्रत्याख्यानावरण की चार मास की, अप्रत्याख्यानावरण की एक वर्ष की और अनन्तानुबन्धी कषाय की जन्म-पर्यन्त की है । इतने काल तक इन कषायो के सस्कार रहते हैं ।

सज्वलन की विद्यमानता मे वीतरागता की प्राप्ति नही होती । प्रत्याख्यानावरण कषाय साधुता—सर्वविरति सयम को उत्पन्न नही होने देता । अप्रत्याख्यानावरण कषाय की मौजूदगी मे श्रावकपन नही आता और अनन्तानुबन्धी कषाय जब तक विद्यमान रहता है तब तक सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति नही होती । सज्वलन आदि कषाय क्रमशः देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यञ्च-गति और नरक-गति के कारण हैं ।

१. क्रोध-कषाय

तत्रोपतापकः क्रोध· क्रोधो वैरस्य कारणम् ।
दुर्गतेर्वर्तनी क्रोध· क्रोध· शम-सुखार्गला ॥ ९ ॥

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥ १० ॥

क्रोधवह्नेस्तदह्नाय शमनाय शुभात्मभिः ।
श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणीः ॥ ११ ॥

क्रोध शरीर और मन मे सताप उत्पन्न करता है । क्रोध से वैर की वृद्धि होती है । वह अधोगत्ति का मार्ग है और प्रशम-सुख को रोकने के लिए अर्गला के समान है ।

क्रोध जब उत्पन्न होता है, तो सर्वप्रथम आग की तरह उसी को जलाता है जिसमे वह उत्पन्न होता है, बाद मे दूसरे को जलाए अथवा न भी जलाए । तात्पर्य यह है कि जैसे प्रज्वलित हुई दियासलाई

दूसरे को जलाए अथवा न भी जलाए, पर अपने आपको तो जलाती ही है। उसी प्रकार क्रोध करने वाला पहले स्वय जलता है, फिर दूसरे को जला सकता है या नही भी जला सकता ।

क्रोध रूपी अग्नि को तत्काल शान्त करने के लिए उत्तम पुरुषो को एक मात्र क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए—क्षमा ही क्रोधाग्नि को शान्त कर सकती है। क्षमा सयम रूपी उद्यान को हरा-भरा बनाने के लिए क्यारी के समान है।

२ मान-कषाय

विनय-श्रुत-शीलाना त्रि-वर्गस्य च घातक ।
विवेकलोचन लुम्पन् मानोऽन्धकरणो नृणाम् ॥ १२ ॥

मान विनय का, श्रुत का और शील-सदाचार का घातक है, त्रि-वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एव काम का विनाशक है। वह मनुष्य के विवेक रूपी नेत्र को नष्ट करके उसे अन्धा कर ता है।

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप - तप श्रुतै ।
कुर्वन् मद पुनस्तानि हीनानि लभते जन ॥ १३ ॥
उत्सर्पयन् दोष-शाखा, गुणमूलान्यधो नयन् ।
उन्मूलनीयो मान-द्रुस्तन्मार्दव-सरित्प्लवै ॥ १४ ॥

मान के प्रधान स्थान आठ हैं—जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत। इन आठ मे से मनुष्य जिसका अभिमान करता है, भवान्तर मे उसी की हीनता प्राप्त करता है। अर्थात् जाति का अभिमान करने वाले को नीच जाति की, लाभ का मद करने वाले को अलाभ की, कुल आदि का मद करने वाले को नीच कुल आदि की प्राप्ति होती है। अत दोष रूपी शाखाओ का विस्तार करने वाले और गुण रूपी मूल को नीचे ले जाने वाले मान रूपी वृक्ष को मार्दव—मृदुता-नम्रता रूपी नदी के वेग के द्वारा जड से उखाड फेंकना ही उचित है।

३. माया-कषाय

असूनृतस्य जननी परशु शील-शाखिन ।
जन्म-भूमिरविद्यानां माया दुर्गतिकारणम् ॥ १५ ॥

कौटिल्यपटव पापा मायया बकवृत्तय ।
भुवनं वञ्चयमाना वञ्चयन्ते स्वमेव हि ॥ १६ ॥

तदार्जव-महौषध्या जगदानन्द हेतुना ।
जयेज्जगद्द्रोहकरी मायां विषधरीमिव ॥ १७ ॥

माया असत्य की जननी है, शील रूपी वृक्ष को नष्ट करने के लिए परशु—कुल्हाडे के समान है, अविद्या की जन्मभूमि है और अधोगति का कारण है।

कुटिलता करने मे कुशल और कपट करके बगुले के समान आचरण करने वाले पापी जगत् को ठगते हुए वस्तुत अपने आपको ही ठगते हैं।

इसलिए जगत् के जीवो को आनन्द देने वाले आर्जव रूपी महान् औषध से, जगत् का द्रोह करने वाली सर्पिणी के समान माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

४. लोभ-कषाय

आकर सर्वदोषाणां गुण-ग्रसन-राक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीना लोभ सर्वार्थ-बाधकः ॥ १८ ॥

धनहीनः शतमेकं सहस्रं शतवानपि ।
सहस्राधिपतिर्लक्षं कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥ १९ ॥

कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं, नरेन्द्रश्चक्रवर्त्तिताम् ।
चक्रवर्त्ती च देवत्वं, देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥ २० ॥

इन्द्रत्वेऽपि हि सम्प्राप्ते, यदीच्छा न निवर्त्तते ।
मूले लघीयास्तल्लोभ, सराव इव वर्धते ॥ २१ ॥

लोभ - सागरमुद्वेलमतिवेल महामति ।
सन्तोष-सेतु-बन्धेन, प्रसरन्त निवारयेत् ॥ २२ ॥

लोभ समस्त दोषो की उत्पत्ति की खान है और समस्त गुणो को निगल जाने वाला राक्षस है। वह सारी मुसीबतो का मूल कारण है और धर्म, काम आदि सब पुरुषार्थों का बाधक है।

मनुष्य जब निर्धन होता है, तब वह सौ रुपए की इच्छा करता है। सौ रुपए वाला हजार रुपए की कामना करता है। हजार का स्वामी लखपति बनना चाहता है और लखपति करोडपति बनने की अभिलाषा रखता है। करोडपति चाहता है कि मैं राजा बन जाऊँ और राजा चक्रवर्त्ती होने के स्वप्न देखता है। चक्रवर्त्ती देवत्व—दैवी वैभव की अभिलाषा करता है, तो देव इन्द्र की विभूति की लालसा करता है। किन्तु, इन्द्र का पद प्राप्त कर लेने पर भी क्या लोभ का अन्त आ जाता है ? नही। इस प्रकार लोभ प्रारम्भ मे छोटा होकर शैतान की भाँति बढता ही चला जाता है। अत महासागर के ज्वार की तरह बार-बार फैलने वाले लोभ के विस्तार को रोकने के लिए बुद्धिमान् पुरुष सन्तोष का बाँध (Dam) बान्ध ले।

कषाय-विजय

क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च ।
लोभश्चानोहया जेया कषाया इति सग्रह ॥ २३ ॥

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव—सरलता से और लोभ को निस्पृहता से जीतना चाहिए।

इन्द्रिय-विजय

विनेन्द्रियजय नैव कषायान् जेतुमीश्वर ।
हन्यते हैमन जाड्य, न विना ज्वलितानलम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियो पर काबू पाए बिना कषायो को जीतने के लिए कोई समर्थ नही हो सकता। हेमन्त ऋतु का भयकर शीत जाज्वल्यमान अग्नि के बिना नष्ट नही होता।

अदान्तैरिन्द्रिय-हयैश्चलैरपथगामिभिः।
आकृष्य नरकारण्ये जन्तुः सपदि नीयते ॥ २५ ॥

इन्द्रिय रूपी चपल घोडे जब नियत्रण मे नही रहते हैं तो कुमार्ग मे चले जाते हैं। कुमार्ग मे जाकर वे जीव को भी शीघ्र ही नरक रूपी अरण्य मे खीच ले जाते हैं। अत इन्द्रियो पर विजय प्राप्त न करने वाला जीव नरकगामी होता है।

इन्द्रियैर्विजितो जन्तु कषायैरभिभूयते।
वीरैः कृष्टेष्टक पूर्व वप्रः कै: कैर्न खण्ड्यते ॥ २६ ॥

जो जीव इन्द्रियो के द्वारा पराजित हो जाता है, कषाय भी उसका पराभव करते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योकि वीर पुरुष जब किसी भव्य-भवन की ईंटे खीच लेते हैं, तो बाद मे उसे कौन खडित नही करते ? फिर तो साधारण आदमी भी उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

कुलघाताय पाताय बन्धाय वधाय च।
अनिर्जितानि जायन्ते करणानि शरीरिणाम् ॥ २७ ॥

अविजित इन्द्रियाँ रावण की तरह मनुष्यो के कुल के विनाश का, सौदास की तरह पतन का, चण्डप्रद्योत की तरह बन्धन का, और पवनकेतु की तरह वध का कारण बनती हैं।

इन्द्रियासक्ति का फल

वशा-स्पर्श-सुख-स्वाद - प्रसारित - कर करी।
आलान - बन्धन - क्लेशमासादयति तत्क्षणात् ॥ २८ ॥
पयस्यगाधे विचरन् गिलन् गलगतामिषम्।
मैनिकस्य करे दीनो मीन: पतति निश्चितम् ॥ २९ ॥

निपतन् मत्त - मातङ्ग - कपोले गन्ध-लोलुप ।
कर्णतालतलाघातान्मृत्युमाप्नोति षट्पद. ॥ ३० ॥

कनकच्छेद - संकाश - शिखालोक - विमोहित ।
रभसेन पतन् दीपे शलभो लभते मृतिम् ॥ ३१ ॥

हरिणो हारिणी गीतिमाकर्णयिसुमुद्धुरः ।
आकर्णाकृष्टचापस्य याति व्याधस्य वेध्यताम् ॥ ३२ ॥

एवं विषय एकैक पञ्चत्वाय निषेवित' ।
कथ हि युगपत् पञ्च - पञ्चत्वाय भवन्ति न ॥ ३३ ॥

हथिनी के स्पर्श के सुख की लालसा को प्राप्त करने के लिए सू ड फैलाने वाला हाथी शीघ्र ही स्तभ के वन्धन का क्लेश प्राप्त करता है ।

अगाध जल मे विचरण करने वाली मछली जाल मे लगे हुए लोहे के कांटे पर रहे हुए मास को खाने के लिए उद्यत होते ही मच्छीमार के हाथ लग जाती है ।

गध मे आसक्त होकर भ्रमर मदोन्मत्त हाथी के कपोल पर बैठता है और उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है ।

स्वर्ण के तेज के समान चमकती हुई दीपक की शिखा के प्रकाश पर मुग्ध होकर पतग सपाटे के साथ दीपक पर गिरता है और काल का ग्रास बन जाता है ।

मनोहर गीत को सुनने के लिए उत्कठित हिरण कान पर्यन्त खीचे हुए व्याध के वाण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण, इन पांच इन्द्रियो मे से एक-एक इन्द्रिय का विषय भी जब मृत्यु का कारण बनता है, तो एक साथ पांचो इन्द्रियो के विषयो का सेवन मृत्यु का कारण क्यो नही होगा ?

मानसिक विजय

तदिन्द्रियजयं कुर्यात्मिन शुद्धया महामतिः।
या विना यम-नियमै काय-क्लेशो वृथा नृणाम् ।।३४।।

बुद्धिमान् पुरुषो का कर्त्तव्य है कि वे मन की शुद्धि करके इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करें। मन की शुद्धि किए बिना यमो और नियमो का पालन करने से मनुष्य व्यर्थ ही काय-क्लेश के पात्र बनते हैं।

टिप्पण—इन्द्रिय विजय के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। मन इन्द्रियो का सचालक है, वही उन्हे विषयो की ओर प्रेरित करता है। मन पर काबू पा लेने से इन्द्रियो पर भी काबू पाया जा सकता है। मन शुद्ध नही है तो व्रतो के पालन से भी कोई लाभ नही होता, केवल काय-क्लेश ही होता है।

मन क्षपाचरो भ्राम्यन्नपशङ्क निरकुशः।
प्रपातयति संसाराऽऽवर्त्तगर्ते जगत्त्रयीम् ।। ३५ ।।

तप्यमानास्तपो मुक्तौ गन्तुकामान् शरीरिण.।
वात्येव तरलं चेत क्षिपत्यन्यत्र कुत्रचित् ।। ३६ ।।

अनिरुद्ध-मनस्कः सन् योग-श्रद्धां दधाति यः।
पद्भ्या जिगमिषुर्ग्रामं, स पंगुरिव हस्यते ।। ३७ ।।

मनोरोधे निरुध्यन्ते कर्माण्यपि समन्तत ।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि ।। ३८ ।।

मन कपिरयं विश्व - परिभ्रमण - लम्पट ।
नियन्त्रणीयो यत्नेन मुक्तिमिच्छुभिरात्मन ।। ३९ ।।

निरकुश मन राक्षस है, जो नि शक होकर दौड-धूप करता रहता है और तीनो जगत् के जीवो को ससार रूपी गड्ढे मे गिराता है।

आँधी की तरह चचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक और तीव्र तपश्चर्या करने वाले मनुष्यो को भी कही का कही ले जाकर पटक देता है।

अत मन का निरोध किए विना जो मनुष्य योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है जैसे कोई पगु पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बनता है।

मन का निरोध होने पर कर्म भी पूरी तरह से रुक जाते हैं, क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है। किन्तु, जो पुरुष मन का निरोध नही कर पाता है, उसके कर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है।

अतएव जो मनुष्य कर्मों से अपनी मुक्ति चाहते हैं, उन्हें समग्र विश्व मे भटकने वाले लपट मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

दीपिका खल्वनिर्वाणा निर्वाण-पथ-दर्शिनी।
एकैव मनस शुद्धि समाम्नाता मनीषिभि ॥ ४० ॥

सत्या हि मनस· शुद्धो सन्त्यसन्तोऽपि यद्गुणा· ।
सन्तोऽप्यसत्या नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्तत ॥ ४१ ॥

मन शुद्धिमविभ्राणा ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नाव भुजाभ्या ते तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥ ४२ ॥

तपस्विनो मन शुद्धि-विनाभूतस्य सर्वथा।
ध्यान खलु मुधा चक्षुर्विकलस्येव दर्पण ॥ ४३ ॥

तदवश्य मन·शुद्धि कर्त्तव्या सिद्धिमिच्छता।
तप श्रुत-यमप्रायै किमन्यै काय-दण्डनै ॥ ४४ ॥

मन शुद्ध्यैव कर्त्तव्यो राग-द्वेष-विनिर्जय ।
कालुष्य येन हित्वाऽऽत्मा स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते ॥ ४५ ॥

यम-नियम आदि से रहित अकेली मन-शुद्धि भी वह दीपक है, जो कभी बुझता नही है और जो सदा निर्वाण का पथ प्रदर्शित करता है, मनीषी जनो की ऐसी मान्यता है।

यदि मन की शुद्धि हो गई है, तो समझ लीजिए कि अविद्यमान

क्षमा आदि गुण भी विद्यमान ही हैं, क्योकि मन-शुद्धि वाले को उन गुणो का फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत, यदि मन की शुद्धि नही हुई है, तो क्षमा आदि गुणो का होना भी न होने के समान है। अतः विवेकी जनों को मन की शुद्धि करनी चाहिए।

जो मन को शुद्ध किए बिना मुक्ति के लिए तपस्या करते है, वे नौका को त्याग कर भुजाओ से महासागर को पार करना चाहते हैं।

जैसे अधे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन की थोडी भी शुद्धि किए बिना तपस्वी का ध्यान करना निरर्थक है।

अत. सिद्धि प्राप्त करने के अभिलाषी को मन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। मन की शुद्धि के अभाव मे तपश्चरण, श्रुताभ्यास एव महाव्रतो का पालन करके काया को क्लेश पहुँचाने से लाभ ही क्या है ?

मन की शुद्धि करके ही राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की जाती है, जिसके प्रभाव से आत्मा मलीनता को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाता है

राग-द्वेष की दुर्जयता

आत्मायत्तमपि स्वान्तं, कुर्वतामत्र योगिनाम्।
रागादिभि समाक्रम्य, परायत्तं, विधीयते ॥ ४६ ॥

रक्ष्यमाणमपि स्वान्त, समादाय मनाग् मिषम्।
पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहु ॥ ४७ ॥

रागादि-तिमिर - ध्वस्त - ज्ञानेन मनसा जन।
अन्धेनान्ध इवाकृष्ट पात्यते नरकावटे ॥ ४८ ॥

अस्ततन्द्रैरतः पुंभिर्निर्वाण - पद - कांक्षिभि।
विधातव्य समत्वेन, राग-द्वेष द्विषज्जय ॥ ४९ ॥

योगी पुरुष किसी तरह अपने मन को अधीन करते भी हैं, तो राग-द्वेष और मोह आदि विकार आक्रमण करके उसे पराधीन बना देते हैं।

यम-नियम आदि के द्वारा मन की रक्षा करने पर भी रागादि पिशाच कोई न कोई प्रमाद रूप वहाना ढूंढ कर वार-वार योगियो के मन को छलते रहते हैं।

अधे का हाथ पकड कर चलने वाले अधे को वह कुएँ मे गिरा देता है, उसी प्रकार राग-द्वेष आदि से जिसका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसा मन भी अधा होकर मनुष्य को नरक-कूप मे गिरा देता है।

अत निर्वाण पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधक को समभाव के द्वारा, सावधान होकर राग-द्वेष रूपी शत्रुओ को जीतना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियो को जीतने के लिए मन को जीतना चाहिए और मन को जीतने के लिए राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

राग-विजय का मार्ग

अमन्दानन्द-जनने साम्यवारिणि मज्जताम्।
जायते सहसा पु सा राग-द्वे ष-मल-क्षयः ॥ ५० ॥

तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समभाव रूपी जल मे अवगाहन करने वाले पुरुषो का राग-द्वेष रूपी मल सहसा ही नष्ट हो जाता है।

प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत्।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्र-तपसा जन्म-कोटिभि ॥ ५१ ॥

समता-भाव का अवलम्बन करने से अन्तर्मुहूर्त्त मे मनुष्य जिन कर्मों का विनाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोडो जन्मो मे भी नष्ट नही हो सकते।

कर्म जीव च संश्लिष्ट परिज्ञातात्म-निश्चय'।
विभिन्नीकुरुते साधु सामायिक-शलाकया ॥ ५२ ॥

जैसे आपस मे चिपकी हुई वस्तुएँ बास आदि की सलाई से पृथक् की जाती है, उसी प्रकार परस्पर बद्ध-कर्म और जीव को साधु समभाव

साधना—सामायिक की शलाका से पृथक् कर देता है अर्थात् निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

समभाव का प्रभाव

रागादिध्वान्तविध्वसे, कृते सामायिकाशुना।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिन परमात्मन॥ ५३॥

समभाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अधकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा मे परमात्मा का स्वरूप देखने लगते हैं।

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं वैरिणोऽपि परस्परम्।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाज साधो प्रभावत॥ ५४॥

यद्यपि साधु अपने स्वार्थ के लिए—अपने आनन्द के लिए, समभाव का विकास करता है, फिर भी समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे प्राणी भी परस्पर प्रीति-भाव धारण करते हैं।

समभाव की साधना

साम्य स्यान्निर्ममत्वेन, तत्कृते भावना श्रयेत्।
अनित्यतामशरणं भवमेकत्वमन्यताम्॥ ५५॥
अशौचमास्रवविधिं सवरं कर्म-निर्जराम्।
धर्मस्वाख्यातता लोक, द्वादशी बोधिभावनाम्॥ ५६॥

समभाव की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से होती है और निर्ममत्व भाव जागृत करने के लिए द्वादश भावनाओ का आश्रय लेना चाहिए—
१ अनित्य, २. अशरण, ३ ससार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आश्रव, ८ सवर, ९. निर्जरा, १० धर्म-स्वाख्यात, ११ लोक, और १२. बोधि-दुर्लभ।

टिप्पण—राग और द्वेष, दोनो की विरोधी भावना 'समभाव' है

और सिर्फ राग की विरोधी भावना 'निर्ममत्व' है। इन दोनो मे कार्य-कारण भाव है। साधक जब राग-द्वेष को नष्ट करने के लिए समभाव जगाना चाहता है, तो उसे पहले अधिक शक्तिशाली राग का विनाश करने के लिए निर्ममत्व का अवलम्बन लेना चाहिए। निर्ममत्व भाव को जागृत करने लिए बारह भावनाएँ उपयोगी है, जिनका स्वरूप आगे बतलाया जा रहा है।

१ अनित्य-भावना

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् ही पदार्थानामनित्यता ॥ ५७ ॥

शरीर देहिना सर्व-पुरुषार्थ निबन्धनम्।
प्रचण्ड-पवनोद्धूत घनाघन-विनश्वरम् ॥ ५८ ॥

कल्लोल-चपला लक्ष्मी· सगमा स्वप्नसन्निभाः।
वात्या-व्यतिकरोत्क्षिप्त-तूल-तुल्य च यौवनम् ॥ ५९ ॥

इत्यनित्य - जगद्वृत्त स्थिर-चित्त प्रतिक्षणम्।
तृष्णा-कृष्णाहि-मन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ६० ॥

इस ससार मे समस्त पदार्थ अनित्य हैं। प्रात काल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न में दिखाई नही देता और मध्याह्न मे जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि मे नजर नही आता।

शरीर ही जीवधारियो के समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि का आधार है। किन्तु, वह भी प्रचण्ड पवन से छिन्न-भिन्न किए गए बादलो के समान विनश्वर है।

लक्ष्मी समुद्र की तरगो के समान चपल है, प्रिय जनो का सयोग स्वप्न के समान क्षणिक है और यौवन वायु के समूह द्वारा उडाई हुई आक की रुई के समान अस्थिर है।

इस प्रकार स्थिर चित्त से, क्षण-क्षण मे, तृष्णा रूपी काले भुजगम का नाश करने वाले निर्ममत्व भाव को जगाने के लिए जगत् के अनित्य स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

२ अशरण-भावना

इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम्।
अहो तदन्तकातङ्के क शरण्य शरीरिणाम्॥ ६१॥

अहा, जब देवराज इन्द्र तथा उपेन्द्र—वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी मृत्यु के अधीन होते हैं, तो मौत का भय उपस्थित होने पर अन्य जीवो को कौन शरण प्रदान कर सकेगा ? मृत्यु से कोई किसी की रक्षा नही कर सकता।

पितुर्मातु स्वसुर्भ्रातुस्तनयानाञ्च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तु कर्मभिर्यम-सद्मनि॥ ६२॥

माता, पिता, भगिनी, भाई और पुत्र आदि स्वजन देखते रहते हैं और कर्म जीव को यमराज के घर—विभिन्न गतियो मे ले जाते है। उस समय रक्षा करने मे कोई समर्थ नही होता।

शोचन्ति स्वजनानन्त नीयमानान् स्वकर्मभिः।
नेष्यमाण तु शोचन्ति नात्मानं मूढ-बुद्धय॥ ६३॥

'मूढ-बुद्धि पुरुष अपने कर्मों के कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले स्वजनो के लिए तो शोक करते हैं, परन्तु 'मैं स्वय एक दिन मृत्यु की शरण मे चला जाऊँगा'—यह सोचकर अपने लिए शोक नही करते।

ससारे दु खदावाग्नि-ज्वलज्ज्वाला-करालिते।
वने मृगार्भकस्येव शरण नास्ति देहिनः॥ ६४॥

वन मे सिंह का हमला होने पर जैसे हिरन के बच्चे को कोई बचा नही सकता, उसी प्रकार दु खो के दावानल की ज्वाजल्यमान भीषण ज्वालाओ से प्रज्वलित इस ससार मे प्राणी को कोई बचाने वाला नही है।

३ ससार-भावना

श्रोत्रिय श्वपच स्वामी पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च स ।
ससार-नाट्ये नटवत् ससारी हन्त चेष्टते ॥ ६५ ॥

ससारी जीव ससार रूपी नाटक मे नट की तरह विभिन्न चेष्टाएँ कर रहा है। वेद का पारगामी ब्राह्मण भी मरकर कर्मानुसार चाण्डाल बन जाता है, स्वामी मर कर सेवक के रूप मे उत्पन्न हो जाता है और प्रजापति भी कीट के रूप मे जन्म ले लेता है।

न याति कतमा योनि कतमा वा न मुञ्चति ।
ससारी कर्म - सम्बन्धादवक्रय - कुटीमिव ॥ ६६ ॥

भव-भवान्तर मे भ्रमण करने वाला यह जीव कर्म के सम्बन्ध से किराये की कुटिया के समान किस योनि मे प्रवेश नही करता है ? और किस योनि का परित्याग नही करता है ? वह ससार की समस्त योनियो मे जन्म लेता है और मरता है।

समस्त लोकाकाशेऽपि नानारूपै स्वकर्मभि. ।
बालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्ट शरीरिभि ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण लोकाकाश मे एक बाल की नोक के बराबर भी ऐसा कोई स्थान नही है, जिसे जीवो ने अपने नाना प्रकार के कर्मों के उदय से स्पर्श न किया हो। अनादि काल से भव-भ्रमण करते हुए जीव ने लोक के प्रत्येक प्रदेश पर जन्म-मरण किया है और वह भी एक बार नही, अनन्त-अनन्त बार।

४ एकत्व-भावना

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येक' प्रचितानि भवान्तरे ॥ ६८ ॥

अन्यैस्तेनार्जित वित्त भूय सम्भूय भुज्यते ।
स त्वेको नरकक्रोडे क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥ ६९ ॥

जीव अकेला ही उत्पन्न होता और अकेला ही मरता है। भव-भवान्तर मे सचित कर्मों को अकेला ही भोगता है।

एक जीव के द्वारा पापाचरण करके जो धन-उपार्जन किया जाता है, उसे सब कुटुम्बी मिलकर भोगते है। परन्तु, वह पापाचारी अपने पाप-कर्मों के फल-स्वरूप नरक मे जाकर अकेला ही क्लेश का सवेदन करता है।

५. अन्यत्व-भावना

यत्रान्यत्व शरीरस्य वैसादृश्याच्छरीरिण ।
धन-बन्धु-सहायाना तत्रान्यत्व न दुर्वचम् ॥ ७० ॥

यो देह-धन-बन्धुभ्यो भिन्नमात्मानमीक्षते ।
क्व शोकशंकुना तस्य हन्तातङ्क: प्रतन्यते ॥ ७१ ॥

शरीर रूपी है और आत्मा अरूपी। शरीर जड है और आत्मा चेतन। शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य। शरीर भवान्तर मे साथ नही जाता है और आत्मा भवान्तर मे भी रहता है। इस प्रकार जहाँ शरीर और शरीरवान्—आत्मा मे विसदृशता होने से भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है, वहाँ धन और बन्धु-बान्धवो की भिन्नता कहने या समझने मे क्या कठिनाई हो सकती है ?

जो साधक अपनी आत्मा को देह से, धन से और परिवार से भिन्न अनुभव करता है, उसे वियोग-जन्य शोक का शल्य कैसे पीडित कर सकता है ? कहने का अभिप्राय यह है कि वह कैसी भी परिस्थिति में शोक-ग्रस्त नही होता।

६. अशुचित्व-भावना

रसासृग्मासमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम्।
अशुचीना पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥ ७२ ॥

नवस्रोत स्रवद्विस्र - रसनि स्यन्द - पिच्छिले।
देहेऽपि शौचसकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ।। ७३ ।।

शरीर रस, रक्त, मास, मेद—चर्बी, हाड, मज्जा, वीर्य, आत और विष्ठा आदि अशुचि पदार्थों का भाजन है। अत यह शरीर किस प्रकार से पवित्र हो सकता है ?

इस देह के नौ द्वारो से सदैव दुर्गन्धित रस झरता रहता है और उस रस से देह लिप्त बना रहता है। ऐसे अपावन देह में पवित्रता की कल्पना करना महान् मोह की विडम्बना मात्र है।

७ आस्रव-भावना

मनोवाक्काय कर्माणि योगा कर्म शुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीत्तिता । ७४ ।।

मन, वचन और काय का व्यापार 'योग' कहलाता है। योग के द्वारा जीवो मे शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन होता है, अत योग को ही आस्रव कहा गया है।

टिप्पण—आत्मा के द्वारा गृहीत मनोवर्गणा के पुद्गलो के निमित्त से आत्मा अच्छा-बुरा मनन करता है। मनन करते समय आत्मा में जो वीर्य-परिणति होती है, उसे 'मनोयोग' कहा है। ग्रहण किए हुए भाषा पुद्गलो के निमित्त से आत्मा की भाषण-शक्ति 'वचन-योग' है और शरीर के निमित्त से होने वाला जीव का वीर्य-परिणमन 'काय-योग' है। यह तीनो योग शुभ और अशुभ कर्मों के जनक हैं, इस कारण इन्हे 'आस्रव' कहते हैं।

मैत्र्यादिवासित चेत कर्म सूते शुभात्मकम्।
कषाय - विषयाक्रान्त, वितनोत्यशुभं पुन ।। ७५ ।।
शुभार्जनाय निर्मिथ्य श्रुतज्ञानाश्रित वच ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभार्जन - हेतवे ।। ७६ ।।

शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जन्तु-घातकेनाशुभ पुन ॥ ७७ ॥

एक ही प्रकार का मनोयोग कभी शुभ और कभी अशुभ—इस प्रकार विरोधी कर्मों का जनक किस प्रकार हो सकता है? और जो प्रश्न मनोयोग के सम्बन्ध मे है, वही वचन-योग और काय-योग के विषय मे भी हो सकते है। इनके उत्तर यहाँ दिये गये हैं।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और समता आदि शुभ भावो से भावित मनोयोग शुभ-कर्मों का जनक होता है और जब वह कषाय एव इन्द्रिय-विषयो से आक्रान्त होता है, तब वह अशुभ-कर्मों का जनक होता है।

शास्त्र के अनुकूल सत्य वचन शुभ-कर्म का जनक होता है और इससे विपरीत वचन अशुभ-कर्म को उत्पन्न करता है।

सम्यक् प्रकार से गोपन किया हुआ अर्थात् कुचेष्टाओ से रहित या सब प्रकार की चेष्टाओ से रहित शरीर शुभ कर्मों का उपार्जन करता है और सदैव आरम्भ मे प्रवृत्त तथा जीव-हिंसा करने शरीर से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

कषाया विषया योगा. प्रमादा विरती तथा।
मिथ्यात्वमार्त्त-रौद्रे चेत्यशुभ प्रति हेतव. ॥ ७८ ॥

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति आदि, इन्द्रियो के विषयो की कामना, योग, प्रमाद अर्थात् अज्ञान, सशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म के प्रति अनादर और योगो की दूषित प्रवृत्ति, अविरति—हिंसा आदि पापो, मिथ्यात्व, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का सेवन करना, यह सब अशुभ कर्मों के आश्रव-कर्म आने के कारण है।

८. संवर-भावना

सर्वेषामाश्रवाणां तु निरोध· सवर· स्मृत।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्य-भाव-विभेदत· ॥ ७९ ॥

पूर्वोक्त आस्रवो का निरोध—प्रतिपक्षी भाव 'सवर' कहा गया है। सवर दो प्रकार का है—द्रव्य-सवर और भाव-सवर।

टिप्पण—जिन कषाय आदि निमित्तो से कर्मों का आश्रव होता है, उनका रुक जाना सवर है। पूर्ण सवर की प्राप्ति अयोगी दशा मे होती है, क्योकि उस दशा मे आश्रव का कोई भी कारण विद्यमान नही रहता। किन्तु, उससे पहले ज्यो-ज्यों आश्रव के कारणो को जीव कम करता जाता है, त्यो-त्यो सवर की मात्रा बढती जाती है। ऐसा सवर देश-सवर कहलाता है। द्रव्यसवर और भावसवर—दोनों के ही यह दो-दो भेद हैं।

य कर्म-पुद्गलादानच्छेद स द्रव्य-सवर ।
भव-हेतु-क्रिया-त्याग स पुनर्भाव-सवर ॥ ८० ॥

कर्म-पुद्गलो के ग्रहण का छेदन हो जाना, अर्थात् आगमन रुक जाना 'द्रव्य-सवर' है और भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओ का त्याग कर देना 'भाव-सवर' है।

येन येन ह्युपायेन, सध्यते यो य आश्रव ।
तस्य तस्य निरोधाय स स योज्यो मनीषिभि ॥ ८१ ॥
क्षमया मृदुभावेन ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया ।
क्रोध मान तथा माया लोभ रु ध्याद्यथाक्रमम् ॥ ८२ ॥
असयमकृतोत्सेकान् विषयान् विषसन्निभान् ।
निरा - कुर्यादखण्डेन सयमेन महामति ॥ ८३ ॥
तिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमाद चाप्रमादत ।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत् ॥ ८४ ॥
सद्दर्शनेन मिथ्यात्व शुभस्थैर्येण चेतस ।
विजयेतार्त्त-रौद्रे च सवरार्थं कृतोद्यम ॥ ८५ ॥

जो-जो आश्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सके, उसे रोकने के लिए विवेकवान् पुरुष उस-उस उपाय को काम मे लाए।

सवर की प्राप्ति के लिए उद्योग करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध को, कोमलता—नम्रता से मान को, सरलता से माया को और निस्पृहता से लोभ को रोके।

बुद्धिमान् पुरुष अखण्ड सयम साधना के द्वारा इन्द्रियो की स्वच्छद प्रवृत्ति से बलवान् बनने वाले, विष के समान विषयो को तथा विषयो की कामना को रोक दे।

इसी प्रकार तीनो गुप्तियो द्वारा तीनो योगो को, अप्रमाद से प्रमाद को और सावद्य-योग पाप-पूर्ण व्यापारो के त्याग से अविरति को दूर करे।

सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को तथा शुभ भावना मे चित्त की स्थिरता करके आर्त्त-रौद्र ध्यान को जीतना चाहिए। किस आश्रव का किस उपाय से निरोध किया जा सकता है, इस प्रकार का बार-बार चिन्तन करना 'सवर-भावना' है।

९ निर्जरा-भावना

ससार-बीज-भूताना कर्मणा जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता॥ ८६॥

भव-भ्रमण के बीजभूत कर्मों का आत्म-प्रदेशो से खिर जाना, झड जाना या पृथक् हो जाना 'निर्जरा' है। वह दो प्रकार की है—सकाम-निर्जरा और अकाम-निर्जरा।

ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम्।
कर्मणा फलवत्पाको यदुपायात्स्वतोऽपि च॥ ८७॥

केवल कर्मों की निर्जरा के अभिप्राय से तपश्चरण आदि क्रिया की जाती है, तो उस क्रिया से होने वाली निर्जरा 'सकाम-निर्जरा' कहलाती है। यह निर्जरा सम्यग्-दृष्टि जीवो को ही होती है। सम्यक्त्वी से भिन्न एकेन्द्रिय आदि अन्य प्राणियो के कर्मों की निर्जरा करने की अभिलाषा

के विना ही भूख-प्यास आदि का कष्ट सहने से जो निर्जरा होती है, वह 'अकाम-निर्जरा' है। जैसे फल दो प्रकार से पकता है—फल को घास आदि मे दवा देने से और स्वभाव से अर्थात् डाली पर लगे-लगे प्राकृतिक प्रक्रिया से, उसी प्रकार कर्मों का परिपाक भी दो प्रकार से होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म-क्षय करने की इच्छा से प्रेरित होकर व्रती पुरुष तपस्या आदि का कप्ट सहन करता है,, उससे कर्म नीरस होकर आत्म-प्रदेशो से पृथक् हो जाते हैं। यह 'सकाम-निर्जरा' है। दूसरे प्राणी ससार मे जो नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, उनसे कर्म का विपाक भोग लिया जाता है और विपाक भोग लेने के पश्चात् वह कर्म आत्म प्रदेशो से अलग हो जाता है। वह 'अकाम-निर्जरा' कहलाती है। प्रत्येक ससारी जीव प्रतिक्षण अकाम-निर्जरा करता रहता है, परन्तु सकाम-निर्जरा तो ज्ञान युक्त तपस्या करने पर ही होती है।

सदोषमपि दीप्तेन सुवर्ण वह्निना यथा।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥ ८८ ॥

जैसे सदोष—रज एव मैल युक्त स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि मे पडकर पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तप रूपी आग से तपा हुआ जीव भी विशुद्ध वन जाता है।

अनशनमौनोदर्य वृत्ते सक्षेपण तथा।
रस-त्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तप ॥ ८९ ॥
प्रायश्चित्त वैयावृत्य स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभ ध्यान षोढेत्याभ्यन्तर तप ॥ ९० ॥

तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप छह प्रकार का होता है —

१ अनशन—परिमित समय तक अथवा विशिष्ट कारण उपस्थित होने पर जीवन-पर्यन्त आहार का त्याग करना।

२. औनोदर्य—पुरुष का बत्तीस कवल और स्त्री का अट्ठाईस कवल पूरा आहार होता है। उससे कम भोजन करना।

३ वृत्ति-सक्षेप—आहार सम्बन्धी अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ करके वृत्ति का सक्षेप करना।

४ रस-परित्याग—मद्य, मास, मधु, मक्खन, दूध, दही, घृत, तेल, गुड आदि विशिष्ट रस वाले मादक पदार्थों का त्याग करना।

५ काय-क्लेश—देह का दमन करना।

६. परिसलीनता—सयम मे बाधक स्थान मे न रहना और मन, वचन और काम का गोपन करना।

आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का होता है —

१ प्रायश्चित्त—ग्रहण किए हुए व्रत मे भूल या प्रमाद से दोप लग जाने पर शास्त्रोक्त विधि से उसकी शुद्धि करना।

२ वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा करना।

३ स्वाध्याय—सयम-जीवन का उत्थान करने के लिए शास्त्रो का पठन, चिन्तन आदि करना।

४ विनय—विशिप्ट ज्ञानी एव चारित्रनिष्ठ महापुरुषो के प्रति बहुमान का भाव रखना।

५ व्युत्सर्ग—त्याज्य वस्तु और कषाय आदि भाव का त्याग करना।

६ ध्यान—आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान मे मन को सलग्न कर देना।

दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च।
यमी जरति कर्माणि दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥ ९१ ॥

वाह्य और आभ्यन्तर तपस्या रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर सयमी पुरुष कठिनाई से क्षीण किए जाने योग्य कर्मों का भी तत्काल क्षय कर देता है।

१० धर्म-सुआख्यतत्व-भावना

स्वाख्यात खलु धर्मोऽय भमवद्भिर्जिनोत्तमै ।
य समालम्बमानो हि न मज्जेद् भव-सागरे ॥ ९२ ॥
सयम सूनृत शौचं ब्रह्माकिञ्चनता तप ।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु ॥ ९३ ॥

भगवान् जिनेन्द्र देव ने विधि-निषेध रूप यह धर्म सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया है, जिसका अवलम्बन करने वाला प्राणी ससार-सागर मे नही डूबता है।

वह धर्म या सयम—जीवदया, सत्य, शौच—अदत्तादान का त्याग, ब्रह्मचर्य, अकिंचनता—निर्ममत्व, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता, इस प्रकार दस तरह का है।

धर्मप्रभावत कल्पद्रुमाद्या ददतीप्सितम् ।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युरधर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥ ९४ ॥

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, आदि मनचाहा फल प्रदान करते हैं, किन्तु अधर्मी जनो के लिए फल देना तो दूर रहा, वे दृष्टिगोचर तक नही होते।

अपारे व्यसनाम्भोधौ पतन्त पाति देहिनम् ।
सदा सविधवर्त्येक-बन्धुर्धर्मोऽति-वत्सल ॥ ९५ ॥

इस लोक और परलोक मे सदैव साथ रहने वाला और बन्धु के समान अत्यन्त वत्सल धर्म अपार दु खसागर मे गिरते हुए मनुष्य को वचाता है।

आप्लावयति नाम्भोधिराश्वासयति चाम्बुद ।
यन्महीं स प्रभावोऽय ध्रुव धर्मस्य केवल ॥ ९६ ॥

न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिल. ।
अचिन्त्य-महिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम् ॥ ७ ॥

निरालम्बा निराधारा विश्वाधारो वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम् ॥ ९८ ॥

सूर्या-चन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृति-हेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन् नूनं धर्मस्य शासनात् ॥ ९९ ॥

समुद्र इस पृथ्वी को बहा नही ले जाता और जलधर पृथ्वी को परितृप्त करता है, निस्सन्देह यह केवल धर्म का ही प्रभाव है ।

अग्नि की ज्वालाएँ यदि तिर्छी जाती तो जगत् भस्म हो जाता और पवन तिर्छी गति के बदले ऊर्ध्वगति करता होता तो जीव-धारियो का जीना कठिन हो जाता। किन्तु, ऐसा नही होता। इसका कारण धर्म ही है। वास्तव मे धर्म की महिमा चिन्तन से परे है।

समग्र विश्व का आधार यह पृथ्वी बिना किसी अवलम्बन के और बिना किसी आधार के जो ठहरी हुई है, इसमे धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण है ।

वस्तुत. जगत् का उपकार करने के लिए यह जो चन्द्र और सूर्य प्रतिदिन उदित होते रहते हैं, वह किसके आदेश से ? धर्म के आदेश से ही उदित होते है ।

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥ १०० ॥

धर्म उनका बन्धु है, जिनका ससार मे कोई बन्धु नही है। धर्म उनका सखा है, जिनका कोई सखा नही है। धर्म उनका नाथ है, जिनका कोई नाथ नही है। अखिल जगत् के लिए एक-मात्र धर्म ही रक्षक है।

रक्षो-यक्षोरग-व्याघ्र-व्यालानलगरादय ।
नापकर्तुमल तेषा यैर्धर्म शरण श्रित ॥ १०१ ॥

जिन्होने धर्म का शरण ग्रहण कर लिया है, उनका राक्षस, यक्ष, अजगर, व्याघ्र, सर्प, आग और विष आदि हानिकर पदार्थ भी कुछ नही बिगाड सकते ।

धर्मो नरक-पाताल पातादवति देहिन ।
धर्मो निरुपम यच्छत्यपि सर्वज्ञ-वैभवम् ॥ १०२ ॥

धर्म प्राणी को नरक—पाताल मे पडने से बचाता भी है और सर्वज्ञ के उस वैभव को प्रदान भी करता है जिसकी कोई उपमा नही । अर्थात् धर्म अनर्थ से बचाता है और इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराता है ।

११　लोक-भावना

कटिस्थ-कर - वैशाखस्थानकस्थ - नराकृतिम् ।
द्रव्यै पूर्ण स्मरेल्लोक स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकै ॥ १०३ ॥

कमर के ऊपर दोनो हाथ रखकर और पैरो को फैलाकर खडे हुए पुरुष की आकृति के सदृश आकृति वाले और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म वाले द्रव्यो से व्याप्त लोक का चिन्तन करे ।

टिप्पण—अनन्त और असीम आकाश का कुछ भाग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो से व्याप्त है और शेष भाग ऐसा है जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नही है । इन उपाधि-भेद के कारण आकाश दो भागो मे विभक्त माना गया है । जिसमे धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य व्याप्त हैं, वह 'लोक' कहलाता है और इनसे रहित केवल आकाश को 'अलोक' सज्ञा दी गई है । लोक का आकार किस प्रकार का है, यह बात यहाँ बताई गई है ।

लोक षट्-द्रव्यमय है और प्रत्येक द्रव्य, पर्याय की दृष्टि से प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह ध्रुव-नित्य है । इस प्रकार षट्-द्रव्यमय लोक के स्वरूप का चिन्तन करने को 'लोक भावना' कहते हैं ।

लोको जगत्त्रयाकीर्णो भुव. सप्तात्र वेष्टिता ।
घनाम्भोधि - महावात - तनुवातैर्महाबलै. ॥ १०४ ॥

लोक तीन जगत् से व्याप्त है, जिन्हे—अधो-लोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहते हैं। अधो-लोक मे सात नरक-भूमियाँ है, जो घनोदधि—जमे हुए पानी, घनवात—जमी हुई वायु और तनुवात—पतली वायु से वेष्टित हैं। यह तीनो इतने प्रबल है कि पृथ्वी को धारण करने मे समर्थ होते हैं।

वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभ ।
अग्रे मुरजसंकाशो लोक स्यादेवमाकृतिः ॥ १०५ ॥

लोक अधोभाग मे वेत्रासन के आकार का है अर्थात् नीचे विस्तार वाला और ऊपर क्रमश सिकुडा हुआ है। मध्यभाग मे झालर के आकार का और ऊपर मृदग सदृश आकार का है। तीनो लोको की यह आकृति मिलने से लोक का आकार बन जाता है।

निष्पादितो न केनापि न धृत केनचिच्च सः ।
स्वयं-सिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थित· ॥ १०६ ॥

इस लोक को न तो किसी ने बनाया है और न धारण कर रखा है। वह अनादि काल से स्वय सिद्ध है। उसका कोई आधार नही है, किन्तु वह आकाश मे स्थित है।

१२. बोधिदुर्लभ-भावना

अकाम-निर्जरा-रूपात्पुण्याज्जन्तो· प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्रसत्व वा तिर्यक्त्व वा कथञ्चन ॥ १०७ ॥
मानुष्यमार्य-देशश्च जाति सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र कथञ्चित्कर्म-लाघवात् । १०८ ॥
प्राप्तेषु पुण्यत श्रद्धा-कथक-श्रवणेष्वपि ।
तत्त्व-निश्चय-रूपं तद्बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥ १०९ ॥

भावनाभिरविश्रान्तमिति भावित-मानसः ।
निर्ममः सर्वभावेषु समत्वमवलम्बते ॥ ११० ॥

पहाड़ी नदी के प्रवाह में बहता हुआ पाषाण टकराते खाते-खाते जैसे गोल-मटोल बन जाता है, उसी प्रकार जन्म-मरण के प्रवाह में बहने वाले इस जीव को कभी-कभी विशिष्ट अकाम-निर्जरा रूप पुण्य की प्राप्ति होती है, अर्थात् अनजान में ही उसके कर्मों की निर्जरा हो जाती है, जिससे उसमें एक प्रकार का लाघव आ जाता है। उस लाघव के प्रभाव से जीव स्थावर पर्याय से त्रस पर्याय पा लेता है अथवा पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो जाता है।

तत्पश्चात् किसी प्रकार से कर्मों की अधिक-अधिक लघुता होने पर मनुष्य-पर्याय, आर्य देश में जन्म, उत्तम जाति, पांचों इन्द्रियों की परिपूर्णता और दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त संयोगों के साथ विशेष पुण्य के उदय से धर्माभिलाषा रूप श्रद्धा, धर्मोपदेशक गुरु और धर्म-श्रवण, की प्राप्ति होती है, परन्तु यह सब प्राप्त हो जाने पर भी तत्त्व निश्चय रूप सम्यक्त्व बोधि-रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

इन द्वादश भावनाओं से जिसका चित्त निरन्तर भावित रहता है, वह प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक परिस्थिति में अनासक्त रहता हुआ समभाव का अवलम्बन करता है।

समभाव का प्रभाव

विषयेभ्यो विरक्तानां साम्यवासित-चेतसाम् ।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधिदीपः समुन्मिषेत् ॥ १११ ॥

विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले मनुष्यों की कषाय रूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।

ध्यान का समय

समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
विना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते॥ ११२॥

समत्व की प्राप्ति के पश्चात् योगी जनो को ध्यान करना चाहिए। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान करना—आत्म-विडम्बना मात्र है। क्योकि समत्व के बिना ध्यान मे प्रवेश होना सभव नही है।

टिप्पण—चतुर्थ प्रकाश के प्रारम्भ मे आत्म-ज्ञान की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए बताया गया था कि कषाय-विजय के बिना आत्म-ज्ञान प्राप्त नही होता। कषाय-विजय के लिए इन्द्रिय-विजय अपेक्षित है, इन्द्रिय-विजय के लिए मन शुद्धि आवश्यक है, मन शुद्धि के लिए राग-द्वेष को जीतना आवश्यक है, राग-द्वेष को जीतने के लिए समभाव का अभ्यास चाहिए और उसके लिए भावना-जनित निर्ममत्व भाव अनिवार्य है। इस प्रकार साधना की कार्य-कारण-भाव प्रक्रिया पूर्ण होने पर ध्यान की योग्यता प्रकट होती है। ध्यान की पूर्ववर्त्ती इस आवश्यक प्रक्रिया को पूर्ण किए बिना ही ध्यान करने का साहस करना विडम्बना मात्र है। यही आशय यहाँ प्रकट किया गया है।

ध्यान का महत्त्व

मोक्ष कर्मक्षयादेव स चात्म-ज्ञानतो भवेत्।
ध्यान-साध्य मतं तच्च तद्ध्यान हितमात्मनः॥ ११३॥

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्म-ज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। अत ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है।

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कम्प जायते तस्माद् द्वयमन्योन्य-कारणम्॥ ११४॥

समत्व की जागृति के विना ध्यान नही हो सकता और ध्यान के विना निश्चल समत्व की प्राप्ति नही हो सकती। इस प्रकार दोनो एक दूसरे के कारण हैं।

ध्यान का स्वरूप

मुहूर्त्तान्तर्मन स्थैर्य ध्यान छद्मस्थ-योगिनाम्।
धर्म्यं शुक्ल च तद् द्वेधा, योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥११५॥

ध्यान करने वाले दो प्रकार के होते है—सयोगी और अयोगी। सयोगी ध्याता भी दो प्रकार के हैं—छद्मस्थ और केवली। एक आलम्वन मे एक मुहूर्त्त—४८ मिनिट पर्यन्त मन का स्थिर रहना छद्मस्थ योगियो का ध्यान कहलाता है। वह धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के भेद से दो प्रकार का है। अयोगियो का ध्यान योग—मन, वचन, काय का निरोध होना है। और सयोगी केवली मे योग का निरोध करते समय ही ध्यान होता है, अत वह अयोगियो के ध्यान के समान ही है।

मुहूर्त्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तर भवेत्।
वह्वर्थसक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्तति ॥ ११६ ॥

एक मुहूर्त्त ध्यान मे व्यतीत हो जाने के पश्चात् ध्यान स्थिर नही रहता, फिर या तो वह चिन्तन कहलाएगा या आलम्वन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलाएगा। अभिप्राय यह है कि ध्याता एक ही आलम्वन मे एक मुहूर्त्त से अधिक स्थिर नही रह सकता। हां, एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे आलम्वन को ग्रहण करने से ध्यान की परम्परा लम्बी—मुहूर्त्त से अधिक भी चल सकती है। परन्तु, एक ही ध्यान मुहूर्त्त से अधिक काल तक स्थिर नही रह सकता।

ध्यान की पोषक भावनाएँ

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥ ११७ ॥

टूटे हुए ध्यान को पुन. ध्यानान्तर के साथ जोडने के लिए—१. मैत्री, २. प्रमोद, ३ करुणा, और ४ मध्यस्थ्य, इन चार भावनाओ की आत्मा के साथ योजना करनी चाहिए। यह भावनाएँ रसायन की तरह ध्यान को पुष्ट करती हैं।

१ मैत्री-भावना

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ ११८ ॥

जगत् का कोई भी प्राणी पाप न करे, कोई भी प्राणी दु.ख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दु ख से मुक्त हो जाएँ, इस प्रकार का चिन्तन करना—मैत्री-भावना है।

२. प्रमोद-भावना

अपास्ताशेष-दोपाणा, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातोऽयं, स· प्रमोद प्रकीर्त्तित· ॥ ११९ ॥

जिन्होंने हिंसा आदि समस्त दोषो का त्याग कर दिया है और जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले है, अर्थात् जिन्हे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र प्राप्त हो गया है, उन महापुरुषो के गुणो के प्रति आदर-भाव होना, उनकी प्रशसा करना, उनकी सेवा आदि करना—'प्रमोद-भावना' है।

३ करुणा भावना

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते ॥ १२० ॥

दीन, दुखी, भयभीत और प्राणो की भीख चाहने वाले प्राणियो के दुख को दूर करने की भावना होना—'करुणा भावना' है।

४ माध्यस्थ-भावना

क्रूरकर्मसु नि शक, देवता-गुरु-निन्दिषु ।
आत्मशसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥ १२१ ॥

निश्शक भाव से अभक्ष्य भक्षण, अपेय पान, अगम्य गमन, ऋषि-घात, शिशु-घात आदि क्रूर कर्म करने वाले, देव और गुरु की निन्दा करने वाले तथा आत्म-प्रशसा करने वाले मनुष्यो पर—जिन्हे सलाह या उपदेश देकर सन्मार्ग पर नही लाया जा सकता, उपेक्षा भाव होना—'माध्यस्थ्य भावना' है ।

आत्मान भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि सघत्ते विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥ १२२ ॥

इन चार भावनाओ से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महाप्राज्ञ पुरुष टूटी हुई विशुद्ध ध्यान की परम्परा को फिर से जोड लेता है ।

ध्यान योग्य स्थान

तीर्थं वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये ।
कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥ १२३ ॥

आसनो का अभ्यास कर लेने वाला योगी ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थंकरो की जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाण भूमि मे जाए। यदि वहाँ जाने की सुविधा न हो तो स्त्री, पशु एव नपुसक से रहित किसी भी गिरि-गुफा आदि एकान्त स्थान का आश्रय ले ।

आसनो का निर्देश

पर्यङ्क-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च ।
उत्कटिका गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम् ॥ १२४ ॥

पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दडासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन कहे गए हैं ।

आसनों का स्वरूप

१ पर्यंकासन

स्याज्जघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान - दक्षिणोत्तर-पाणिक ॥ १२५ ॥

दोनो जघाओ के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बायाँ हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण-उत्तर मे रखने से 'पर्यंकासन' होता है ।

२ वीरासन

वामोऽह्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं, वामोरूपरि दक्षिणः ।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥ १२६ ॥

बायाँ पैर दाहिनी जाघ पर और दाहिना पैर बायी जाघ पर जिस आसन मे रखा जाता है, वह 'वीरासन' कहलाता है । यह आसन वीर पुरुषो के लिए उपयुक्त है ।

३. वज्रासन

पृष्ठे वज्राकृतीभूते दोर्भ्यां वीरासने सति ।
गृह्णीयात्पादयोर्यत्रागुष्ठो वज्रासनं तु तत् ॥ १२७ ॥

पूर्वकथित वीरासन करने के पश्चात्, वज्र की आकृतिवत् दोनो हाथ पीछे रखकर, दोनो हाथो से पैर के अगूठे पकडने पर जो आकृति बनती है, वह 'वज्रासन' कहलाता है । कुछ आचार्य इसे 'वेतालासन' भी कहते है ।

मतान्तर से वीरासन

सिहासनाधिरूढस्यासनापनयने सति ।
तथैवावस्थितिर्या तामन्ये वीरासन विदुः ॥ १२८ ॥

कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो और पीछे से उसका आसन हटा दिया जाए और उससे उसकी जो आकृति बनती है, वह 'वीरासन' है, यह दूसरे आचार्यों का मत है।

४ पद्मासन

जङ्घाया मध्यभागे तु सश्लेषो यत्र जङ्घया।
पद्मासनमिति प्रोक्त तदासनविचक्षणै ॥ १२९ ॥

एक जाघ के साथ दूसरी जाघ को मध्यभाग मे मिलाकर रखना 'पद्मासन' है, ऐसा आसनो के विशेषज्ञो का कथन है।

५ भद्रासन

सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे तलपादौ तथोपरि।
पाणिकच्छपिका कुर्यात् यत्र भद्रासन तु तत् ॥ १३० ॥

दोनो पैरो के तलभाग वृषण-प्रदेश मे—अडकोषो की जगह एकत्र करके, उनके ऊपर दोनो हाथो की अँगुलियाँ एक-दूसरी अगुली मे डाल कर रखना, 'भद्रासन' कहलाता है।

६ दण्डासन

श्लिष्टागुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत्।
यत्रोपविश्य पादौ तद्दण्डासनमुदीरितम् ॥ १३१ ॥

जमीन पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अगुलियाँ, गुल्फ और जाघे जमीन के साथ लगी रहे, यह 'दडासन' कहा गया है।

७-८ उत्कटिक और गोदोहासन

पुतपार्ष्णि - समायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम्।
पार्ष्णिभ्या तु भुवस्त्यागे तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥ १३२ ॥

जमीन से लगी हुई एडियो के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब 'उत्कटिक-आसन' होता है और जब एडियाँ जमीन से लगी हुई नही होती, तब वह 'गोदुह-आसन' कहलाता है।

६. कायोत्सर्गासन

प्रलम्बित-भुज-द्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत्कायोत्सर्ग. स कीर्तितः ॥ १३३ ॥

कायिक—शारीरिक ममत्व का त्याग करके, दोनो भुजाओ को नीचे लटकाकर शरीर और मन से स्थिर होना 'कायोत्सर्गासन' है। यह आसन खडे होकर, बैठकर और शारीरिक कमजोरी की अवस्था मे लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की विशेषता यह है कि इसमे मन, वचन और काय-योग को स्थिर करना पडता है। केवल परिचय के लिए उक्त आसनो का स्वरूप बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक आसन हैं, जिन्हे अन्यत्र देखना चाहिए।

आसनों का विधान

जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान-साधनम् ॥ १३४ ॥

अमुक आसनो का ही प्रयोग किया जाए और अमुक का नही, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है। जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप मे प्रयोग करना चाहिए।

ध्यान विधि

सुखासन-समासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लव।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो दन्तैर्दन्तान-संस्पृशन् ॥ १३५ ॥
प्रसन्न-वदन. पूर्वाभिमुखो वाप्युदङ्मुख।
अप्रमत्त' सुसस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत् ॥ १३६ ॥

ध्याता पुरुष जब ध्यान करने के लिए उद्यत हो, तब उसे इन बातो का ध्यान रखना चाहिए—

१ ऐसे आरामदेह आसन से बैठे कि जिससे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो ।

२ दोनो ओष्ठ मिले हुए हो ।

३ दोनो नेत्र नासिका के अग्रभाग पर स्थापित हो ।

४ दात इस प्रकार रखे कि ऊपर के दातो के साथ नीचे के दातो का स्पर्श न हो ।

५ मुखमण्डल प्रसन्न हो ।

६ पूर्व या उत्तर दिशा मे मुख हो ।

७ प्रमाद से रहित हो ।

८ मेरुदण्ड को सीधा रखकर सुव्यवस्थित आकार से स्थित हो ।

पंचम प्रकाश

प्राणायाम का स्वरूप

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के यह आठ अग माने गए है। इनमे से चौथा अग 'प्राणायाम' है। आचार्य पतजलि आदि ने मुक्ति-साधना के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है। परन्तु, मोक्ष के साधन रूप ध्यान मे वह उपयोगी नही है। फिर भी शरीर की नीरोगता और कालज्ञान मे उसकी उपयोगिता है। इस कारण यहाँ उसका वर्णन किया गया है।

प्राणायामस्तत· कैश्चिदाश्रितो ध्यान·सिद्धये।
शक्यो नेतरथा कर्त्तु मन·पवन-निर्जय ॥ १ ॥

मुख और नासिका के अन्दर सचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है। उसके सचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है। आसनो का अभ्यास करने के पश्चात् किन्ही-किन्ही आचार्यों ने ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है, क्योकि प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नही जा सकता।

प्राणायाम से मनोजय

मनो यत्र मरुत्तत्र मरुद्यत्र मनस्तत·।
अतस्तुल्य-क्रियावेतौ संवीतौ क्षीर-नीरवत् ॥ २ ॥

जहाँ मन है, वहाँ पवन है और जहाँ पवन है, वहाँ मन है। अतः

समान क्रिया वाले मन और पवन—क्षीर-नीर की भाँति आपस मे मिले हुए हैं।

> एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम् ।
> ध्वस्तयोरिन्द्रियमति ध्वसान्मोक्षश्च जायते ॥ ३ ॥

मन और पवन मे से एक का नाश होने पर दूसरे का नाश होता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब इन दोनो का नाश हो जाता है, तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का भी नाश हो जाता है और इनके व्यापार का नाश हो जाने से मोक्ष लाभ होता है।

टिप्पण—जब जीव शरीर का त्याग करके चला जाता है, तब मन और पवन का नाश हो जाता है और इन्द्रिय तथा विचार की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है। परन्तु, यहाँ उस प्रवृत्ति के बन्द होने से प्रयोजन नही है, क्योकि उससे मोक्ष नही होता। आत्मिक उपयोग की पूर्ण जागृति होने पर मन और पवन की प्रवृत्ति बन्द हो जाए और उसके फलस्वरूप इन्द्रिय तथा बुद्धि की प्रवृत्ति बन्द हो जाए, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम का लक्षण और भेद

> प्राणायामो गतिच्छेद श्वासप्रश्वासयोर्मत ।
> रेचक पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥ ४ ॥

श्वास और उच्छ्वास की गति का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। वह रेचक, पूरक और कुभक के भेद से तीन प्रकार का है।

अन्य आचार्यों का मत

> प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।
> एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परै ॥ ५ ॥

दूसरे आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि पूर्वोक्त रेचक, पूरक और कुंभक के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर, यह चार भेद मिलाने से प्राणायाम सात प्रकार का होता है।

१. रेचक-प्राणायाम

य: कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ ६ ॥

अत्यन्त प्रयत्न करके नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख के द्वारा कोष्ठ अर्थात् उदर मे से वायु को बाहर निकालना 'रेचक-प्राणायाम' कहलाता है।

२-३ पूरक और कुंभक प्राणायाम

समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ ७ ॥

बाहर के पवन को खीचकर उसे अपान—गुदा द्वार पर्यन्त कोष्ठ मे भर लेना 'पूरक-प्राणायाम' है और नाभि-कमल मे स्थिर करके उसे रोक लेना 'कुंभक-प्राणायाम' कहलाता है।

४-५ प्रत्याहार और शान्त प्राणायाम

स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्षः प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
तालुनासाननद्वारैर्निरोधः शान्त उच्यते । ८ ॥

पवन को खीचकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। तालु, नासिका और मुख के द्वारो से वायु का निरोध कर देना 'शान्त' नामक प्राणायाम है।

टिप्पण—वायु को नाभि मे से खीचकर हृदय मे और हृदय से खीच कर नाभि मे, इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाना 'प्रत्याहार-प्राणायाम' है। कुंभक मे पवन नाभि-कमल मे रोका जाता है

और शान्त-प्राणायाम मे वायु को नासिका आदि पवन निकलने के द्वारो से रोका जाता है। यही दोनो मे अन्तर प्रतीत होता है।

६-७ उत्तर और अधर प्राणायाम

आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।
उत्तर स समाख्यातो विपरीतस्ततोऽधर. ॥ ९ ॥

वाहर के वायु का पान करके और उसे ऊपर खीच कर हृदय आदि मे स्थापित कर रखना 'उत्तर-प्राणायाम' कहलाता है। इससे विपरीत ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर उसे धारण करना 'अधर-प्राणायाम' कहलाता है।

प्राणायाम का फल

रेचनादुदरव्याधे कफस्य च परिक्षय ।
पुष्टि पूरक-योगेन व्याधि-घातश्च जायते ॥ १० ॥
विकसत्याशु हृत्पद्म ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते ।
बलस्थैर्य-विवृद्धिश्च कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥ ११ ॥
प्रत्याहाराद्बल कान्तिर्दोषशान्तिश्च शान्तत. ।
उत्तराधरसेवात स्थिरता कुम्भकस्य तु ॥ १२ ॥

रेचक-प्राणायाम से उदर की व्याधि का और कफ का विनाश होता है। पूरक-प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है और व्याधि नष्ट होती है।

कुभक-प्राणायाम करने से हृदय-कमल तत्काल विकसित हो जाता है, अन्दर की ग्रन्थि का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है।

प्रत्याहार करने से शरीर मे वल और तेज बढता है। शान्त नामक प्राणायाम से दोपो—वात, पित्त, कफ या सन्निपात की शान्ति होती है। उत्तर और अधर नामक प्राणायाम कुम्भक को स्थिर बनाते है।

प्राणमपानसमानावुदान व्यानमेव च ।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियार्थ-बीजवित्॥ १३ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पाँच प्रकार का पवन है। कौन पवन शरीर के किस प्रदेश मे रहता है ? किसका कैसा वर्ण—रंग है ? कैसी क्रिया है ? कैसा अर्थ है ? और कैसा वीज है ? इन वातो को जान कर योगी प्राणायाम के द्वारा इन पर विजय प्राप्त करे।

टिप्पण—उक्त पाँच प्रकार के पवन—वायु का सक्षेप मे निम्न स्वरूप है—

१. प्राण—उच्छ्वास-निश्वास का व्यापार 'प्राण-वायु' है।
२ अपान—मल, मूत्र और गर्भादि को वाहर लाने वाला वायु।
३ समान—भोजन-पानी से वने रस को शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे पहुँचाने वाला वायु।
४ उदान—रस आदि को ऊपर ले जाने वाला वायु।
५ व्यान—सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर रहा हुआ वायु।

१ प्राण-वायु

प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठान्तगो हरित् ।
गमागम-प्रयोगेण तज्जयो धारणेन च ॥ १४ ॥

प्राण-वायु नासिका के अग्रभाग मे, हृदय मे, नाभि मे और पैर के अगूष्ठ पर्यन्त फैलने वाला है। उसका वर्ण हरा है। गमागम के प्रयोग और धारण के द्वारा उसे जीतना चाहिए।

टिप्पण—प्रस्तुत मे 'गम' का अर्थ 'रेचक-क्रिया', 'आगम' का अर्थ 'पूरकक्रिया' और धारणा का अर्थ 'कुम्भक-क्रिया' है। इन तीनो क्रियाओ से एक प्राणायाम होता है। जिस वायु का जो स्थान है, उस स्थान पर रेचक, पूरक और कुम्भक करने से उस वायु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

तेरहवें श्लोक मे बतलाए हुए वायु के स्थान आदि पाँच-पाँच भेदो मे से यहाँ प्राण-वायु के स्थान, वर्ण और क्रिया—प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। अर्थ और बीज का वर्णन बाद मे किया जाएगा।

प्रयोग और धारण

नासादि-स्थान-योगेन पूरणाद्रेचनान्मुहु ।
गमागमप्रयोग स्याद्धारण कुम्भनात् पुन ॥ १५ ॥

नासिका आदि स्थानो मे बार-बार वायु का पूरण और रेचन करने से गमागम प्रयोग होता है और उसका अवरोध—कुम्भक करने से धारण प्रयोग होता है।

२ अपान-वायु

अपान कृष्णरुग्मन्यापृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिग ।
जेय स्वस्थान-योगेन रेचनात्पूरणान्मुहु ॥ १६ ॥

अपान-वायु का रग काला है। गर्दन के पीछे की नाडी, पीठ, गुदा और एडी मे उसका स्थान है। इन स्थानो मे बार-बार रेचक, पूरक करके इसे जीतना चाहिए।

३ समान-वायु

शुक्ल समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिष्ववस्थित ।
जेय स्वस्थान - योगेनासकृद्रेचनपूरणात् ॥ १७ ॥

समान-वायु का वर्ण श्वेत है। हृदय, नाभि और सब सधियो मे उसका निवास स्थान है। इन स्थानो मे बार-बार रेचक और पूरक करके उसे जीतना चाहिए।

४ उदान-वायु

रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूर्धनि च सस्थितः ।
उदानो वश्यता नेयो गत्यागति - नियोगत. ॥ १८ ॥

उदान वायु का वर्ण लाल है। हृदय, कठ, तालु, भ्रकुटि का मध्य-भाग और मस्तक उसका स्थान है। उसे भी गमागम के प्रयोग से वश मे करना—जीतना चाहिए।

प्रयोग की विधि

नासाकर्षण-योगेन स्थापयेत्तं हृदादिषु।
बलादुत्कृष्यमाण च रुध्वा रुध्वा वश नयेत्॥ १६॥

नासिका के द्वारा बाहर से वायु को खीच कर उसे हृदय मे स्थापित करना चाहिए। यदि वह वायु जबरदस्ती दूसरे स्थान मे जाता हो, तो उसे बार-बार निरोध करके वश मे करना चाहिए।

टिप्पण—वायु को जीतने का यह उपाय प्रत्येक वायु के लिए लागू होता है। वायु के जो-जो निवास स्थान बतलाए हैं, वहाँ-वहाँ पहले पूरक-प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् नासिका द्वारा बाहर के वायु को अन्दर खीचकर उसे उस-उस स्थान पर रोकना चाहिए। ऐसा करने से खीचने और छोडने की दोनो क्रियाएँ बन्द हो जाएँगी और वह वायु उस स्थान पर नियत समय तक स्थिर रहेगा। यदि कभी वह वायु जोर मार कर दूसरे स्थान पर चला जाए, तो उसे बार-बार रोक कर और कुछ समय तक कुम्भक-प्राणायाम करके नासिका के एक छिद्र द्वारा उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए। फिर उसी छिद्र द्वारा उसे भीतर खीच कर कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से वायु वशीभूत हो जाता है।

५. व्यान-वायु

सर्वत्वग्वृत्तिको व्यान. शक्रकार्मुकसन्निभ।
जेतव्यः कुम्भकाभ्यासात् सकोचप्रसृतिक्रमात्॥ २०॥

व्यान-वायु का इन्द्रधनुष-सा वर्ण है। त्वचा के सर्व भागो मे उसका निवास है। सकोच और प्रसार अर्थात् पूरक और रेचक-

प्राणायाम के क्रम से तथा कुम्भक-प्राणायाम के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए।

पाँचो वायु के वीज

प्राणापानसमानोदान-व्यानेष्वेषु च वायुषु ।
यै पै वै रौ लौ वीजानि ध्यातव्यानि यथाक्रमम् ।। २१ ।।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को वश मे करते समय या इन्हे जीतने के लिए प्राणायाम करते समय क्रमश 'यैं' आदि वीजाक्षरो का ध्यान करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि प्राण वायु को जीतते समय 'यैं' का, अपान को जीतते समय 'पैं' का, समान को जीतते समय 'वैं' का, उदान विजय के समय 'रौं' का और व्यान-विजय के समय 'लौं' वीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए।

वायु-विजय से लाभ

प्राबल्य जाठरस्याग्नेर्दीर्घश्वासमरुज्जयौ ।
लाघव च शरीरस्य प्राणस्य विजये भवेत् ।। २२ ।।

रोहण क्षतभगादेरुदराग्ने प्रदीपनम् ।
वर्चोऽल्पत्व व्याधिघात समानापानयोर्जये ।। २३ ।।

उत्क्रान्तिर्वारि-पङ्काद्यैश्चाबाधोदान-निर्जये ।
जये व्यानस्य शीतोष्णासग कान्तिररोगिता ।। २४ ।।

प्राण-वायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है, अविच्छिन्न रूप से श्वास की प्रवृत्ति होती है और शेष वायु भी वश मे हो जाती हैं, क्योकि प्राण-वायु पर सभी वायु आश्रित हैं। इससे शरीर मे लघुता आ जाती है।

यदि शरीर मे घाव हो जाए तो समान-वायु और अपान-वायु को जीतने से घाव जल्दी भर जाता है, टूटी हुई हड्डी जुड जाती है, जठराग्नि

तेज हो जाती है, मल-मूत्र कम हो जाता है और व्याधियो का नाश हो जाता है।

उदान-वायु पर विजय प्राप्त करने से मनुष्य मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह चाहे तो मृत्यु के समय अर्चिमार्ग दशम द्वार से प्राण त्याग कर सकता है, पानी और कीचड से शरीर को वाधा नही होती और कण्टक आदि का कष्ट भी नही होता। व्यान-वायु के विजय से शरीर पर सर्दी-गर्मी का असर नही होता, शरीर का तेज वढता है और नीरोगता प्राप्त होती है।

यत्र-यत्र भवेत्स्थाने जन्तो रोग. प्रपीडकः।
तच्छान्त्यै धारयेत्तत्र प्राणादि मरुत सदा ॥ २५ ॥

प्राणी को पीडा उत्पन्न करने वाला रोग जिस-जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो, उसकी शान्ति के लिए उसी-उसी स्थान पर प्राणादि वायु को रोक रखना चाहिए।

टिप्पण—शरीर के प्रत्येक भाग मे, पाँच प्रकार की वायु मे से कोई न कोई वायु अवश्य रहती है। जव शरीर के किसी भाग मे रोग की उत्पत्ति हो, तो पहले पूरक-प्राणायाम करके उस भाग मे कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से रोग का नाश हो जाता है।

एव प्राणादि विजये कृताभ्यास. प्रतिक्षणम्।
धारणादिकमभ्यस्येन्मनःस्थैर्यकृते सदा ॥ २६ ॥

इस प्रकार प्राणादि वायु को जीतने का अभ्यास करके, मन की स्थिरता के लिए निरन्तर धारण, ध्यान एव समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

धारण की विधि

उक्तासनसमासीनो रेचयित्वाऽनिलं शनै.।
आपादागुष्ठपर्यन्तं वाममार्गेण पूरयेत् ॥ २७ ॥

पादागुष्ठे मन पूर्व रुध्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जघाया जानुन्यूरौ गुदे तत. ॥ २८ ॥
लिंगे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठरसनेऽपि च ।
तालुनासाग्रनेत्रे च भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥ २६ ॥
एव रश्मि-क्रमेणैव धारयन्मरुता सह ।
स्थानात्स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुर नयेत् ॥ ३० ॥
तत. क्रमेण तेनैव पादागुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तर नीत्वा ततो वायु विरेचयेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त आसनो मे से किसी एक आसन से स्थित होकर, धीरे-धीरे पवन का रेचन करके—बाहर निकाल कर उसे नासिका के बाएँ छिद्र से अन्दर खीचे और पैर के अगूठे तक ले जाए और मन का भी पैर के अगुष्ठ मे निरोध करे। फिर अनुक्रम से वायु के साथ मन को पैर के तल भाग मे, एडी मे, गुल्फ मे, जाघ मे, जानु मे, ऊरु मे, गुदा मे, लिंग मे, नाभि मे, पेट मे, हृदय मे, कठ मे, जीभ मे, तालु मे, नासिका के अग्रभाग मे, नेत्र मे, भ्रकुटि मे,'कपाल मे और मस्तक मे, धारण करे और अन्त मे उन्हे ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त ले जाना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त क्रम से पीछे लौटाते हुए अन्त मे मन सहित पवन को पैर के अगूठे मे ले आना चाहिए और उन्हे वहाँ से नाभि-कमल मे ले जाकर वायु का रेचक करना चाहिए।

धारणा का फल

पादागुष्ठादौ जघाया जानूरुगुदमेदने ।
धारित क्रमशो वायु. शीघ्रगत्यै बलाय च ॥ ३२ ॥
नाभौ ज्वरादिघाताय जठरे काय-शुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये कूर्मनाड्या रोग-जराच्छिदे ॥ ३३ ॥
कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय जिह्वाग्रे रससविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषो ॥ ३४ ॥

भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च ।
ब्रह्म-रन्ध्रे च सिद्धाना साक्षाद्दर्शन-हेतवे ॥ ३५ ॥

पैर के अगूठे मे, एड़ी मे और गुल्फ—टकने मे, जघा मे, घुटने मे, ऊरु मे, गुदा मे और लिंग मे—अनुक्रम से वायु को धारण कर रखने से शीघ्र गति और वल की प्राप्ति होती है ।

नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर मे धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध होता है, हृदय मे धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा कूर्म-नाडी मे धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है—वृद्धावस्था मे भी शरीर मे जवानो जैसी स्फूर्ति वनी रहती है ।

कठ मे वायु को धारण करने से भूख-प्यास नही लगती और यदि क्षुधा-पिपासा लगी हो तो शान्त जाती है । जीभ के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस-ज्ञान की वृद्धि होती है । नासिका के अग्रभाग पर रोकने से गध का ज्ञान होता है । चक्षु मे धारण करने से रूप-ज्ञान की वृद्धि होती है ।

कपाल-मस्तिष्क मे वायु को धारण करने से कपाल-मस्तिष्क सम्वन्धी रोगों का नाश होता है और क्रोध का उपशम होता है । ब्रह्मरन्ध्र मे वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धो के दर्शन होते हैं ।

पवन की चेष्टा

अभ्यस्य धारणामेव सिद्धीनां कारण परम् ।
चेष्टितं पवमानस्य जानीयाद् गतसशयः ॥ ३६ ॥

धारणा सिद्धियो का परम कारण है । उसका इस प्रकार अभ्यास करके फिर निश्शंक होकर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करे ।

नाभेनिष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम् ।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विन्द्यात्स्थान नभस्वतः ॥ ३७ ॥

मण्डलों का निर्देश

मण्डलानि च चत्वारि नासिका-विवरे विदु.।
भौम-वारुण-वायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम् ॥ ४२ ॥

नासिका के विवर मे चार मडल होते हैं—१. भौम—पार्थिव मडल, २. वारुण मडल, ३ वायव्य मडल, और ४ आग्नेय मडल ।

१. भौम-मंडल

पृथिवी-बीज-सम्पूर्ण, वज्र-लाञ्छन-संयुतम् ।
चतुरस्रं द्रुतस्वर्णप्रभं स्याद् भौम-मण्डलम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वी के वीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से युक्त, चौरस और तपाये हुए सोने के वर्ण—रग वाला, 'पार्थिव मडल' है ।

टिप्पण—पार्थिव-वीज 'अ' अक्षर है। कोई-कोई आचार्य 'ल' को पार्थिव-वीज मानते है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'क्ष' को पार्थिव-वीज माना है ।

२. वारुण-मंडल

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं वारुणाक्षरलाञ्छितम् ।
चन्द्राभममृतस्यन्दसान्द्रं वारुण-मण्डलम् ॥ ४४ ॥

वारुण-मण्डल—अष्टमी के चन्द्र के समान आकार वाला, वारुण अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त है ।

३. वायव्य-मंडल

स्निग्धाञ्जनघनच्छायं सुवृत्त विन्दुसंकुलम् ।
दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं चञ्चलं वायु-मण्डलम् ॥ ४५ ॥

वायव्य-मण्डल—स्निग्ध अंजन और मेघ के समान श्याम कान्ति वाला, गोलाकार, मध्य मे विन्दु के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम

होने वाला, चारो ओर पवन से वेष्टित—पवन-बीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ और चचल है।

४. आग्नेय-मंडल

ऊर्ध्वज्वालाञ्चित भीम त्रिकोण स्वस्तिकान्वितम्।
स्फुलिंगपिंग तद्‌बीज ज्ञेयमाग्नेय-मण्डलम् ॥४६॥

ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओ से युक्त, भय उत्पन्न करने वाला, त्रिकोण, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि के स्फुलिग के समान वर्ण वाला और अग्नि-बीज रेफ ' ' ' से युक्त आग्नेय-मडल कहा गया है।

अभ्यासेन स्वसवेद्य स्यान्मण्डल-चतुष्टयम्।
क्रमेण सचरन्नत्र वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विध. ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त चारो मडल स्वय जाने जा सकते हैं, परन्तु उन्हे जानने के लिए अभ्यास करना चाहिए।, यकायक उनका ज्ञान नही हो सकता। इन चार मडलो मे सचार करने वाली वायु को भी चार प्रकार का जानना चाहिए।

चार प्रकार का वायु

१ पुरन्दर-वायु

नासिका-रन्ध्रमापूर्य पीतवर्ण. शनैर्वहन्।
कवोष्णोऽष्टांगुल स्वच्छो भवेद्वायु. पुरन्दर ॥ ४८ ॥

पुरन्दर वायु—पृथ्वी तत्त्व का वर्ण पीला है, स्पर्श कुछ-कुछ उष्ण है और वह स्वच्छ होता है। वह नासिका के छिद्र को पूर कर धीरे-धीरे आठ अगुल बाहर तक बहता है।

२ वरुण-वायु

धवल शीतलोऽधस्तात्त्वरितत्वरित वहन्।
द्वादशांगुलमानश्च वायुर्वरुण उच्यते ॥ ४९ ॥

जिसका श्वेत वर्ण है, शीतल स्पर्श है और जो नीचे की ओर बारह अगुल तक शीघ्रता से बहने वाला है, उसे 'वरुण वायु'--जल-तत्त्व कहते है ।

३ पवन-वायु

उष्ण शीतश्च कृष्णश्च वहन्तिर्यगनारतम् ।
षडंगुल-प्रमाणश्च वायु. पवन-सज्ञितः ।। ५० ।।

पवन—वायु-तत्त्व कही उष्ण और कही शीत होता है । उसका वर्ण काला है । वह निरन्तर छह अगुल प्रमाण बहता रहता है ।

४. दहन-वायु

बालादित्य - सम - ज्योतिरत्युष्णश्चतुरंगुल. ।
आवर्त्तवान् वहन्नूर्ध्वं पवनः दहन स्मृत. ।। ५१ ।।

दहन-वायु—अग्नि-तत्त्व उदीयमान सूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति उष्ण स्पर्श वाला है और ववडर की तरह चार अगुल ऊँचा बहता है ।

इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु वरुण शस्तकर्मसु ।
वायु मलिन-लोलेषु वश्यादौ वह्निमादिशेत् ।। ५२ ।।

जब पुरन्दर-वायु बहता हो तब स्तभन आदि कार्य करने चाहिए । वरुण-वायु के बहते समय प्रशस्त कार्य, पवन-वायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य और दहन-वायु के बहते समय वशीकरण आदि कार्य करने चाहिए ।

शुभाशुभ निर्णय

छत्र - चामर-हस्त्यश्वाराम[1]राज्यादिसम्पदम् ।
मनीषितं फल वायुः समाचष्टे पुरन्दर ।। ५३ ।।
रामाराज्यादिसम्पूर्णैः पुत्र-स्वजन-बन्धुभि. ।
सारेण वस्तुना चापि योजयेद् वरुण क्षणात् ।। ५४ ।।

---

१ श्वरामा ।

कृषिसेवादिक सर्वमपि सिद्ध विनश्यति ।
मृत्यु-भी कलहो वैर त्रासश्च पवने भवेत् ॥ ५५ ॥
भय शोक रुज दु ख विघ्नव्यूह-परम्पराम् ।
ससूचयेद्विनाशञ्च, दहनो दहनात्मक ॥ ५६ ॥

जिस समय पुरन्दर-वायु बह रहा हो उस समय छत्र, चामर, हाथी, अश्व, स्त्री एव राज्य आदि सम्पत्ति के विषय मे कोई प्रश्न करे या इनके निमित्त कोई कार्य प्रारम्भ करे, तो इच्छित अर्थ की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न करते समय या कार्य आरम्भ करते समय यदि वरुण-वायु बहता हो, तो उससे राज्यादि से परिपूर्ण पुत्र, स्वजन, बन्धु और उत्तम वस्तु की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न या कार्यारभ के समय पवन नामक वायु बहता हो, तो खेती और सेवा—नौकरी सम्बन्धी सिद्ध हुआ कार्य भी नष्ट हो जाता है, बिगड जाता है और मृत्यु का भय, क्लेश, वैर तथा त्रास उत्पन्न होता है ।

प्रश्न या कार्यारभ के समय दहन स्वभाव वाला दहन-वायु बहता हो, तो वह भय, शोक, रोग, दु ख और विघ्नो के समूह की परम्परा एव धन-धान्य के विनाश का ससूचक है ।

शशाङ्क-रवि-मार्गेण वायवा मण्डलेष्वमी ।
विशन्त शुभदा सर्वे निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृता ॥ ५७ ॥

यह पुरन्दर आदि चारो प्रकार के वायु चन्द्रमार्ग या सूर्यमार्ग से—बायी और दाहिनी नाडी मे होकर प्रवेश करते हो, तो शुभ फलदायक होते हैं और निकल रहे हो, तो अशुभ फलदायक होते है ।

शुभाशुभ होने का कारण

प्रवेश-समये वायुर्जीव मृत्युस्तु निर्गमे ।
उच्यते ज्ञानिभिस्तादृक् फलमप्यनयोस्तत ॥ ५८ ॥

वायु जब मडल मे प्रवेश करता है, तब उसे 'जीव' कहते हैं और जब वह मडल मे से बाहर निकलता है, तब उसे 'मृत्यु' कहते हैं। इसी कारण ज्ञानियो ने प्रवेश करते समय का फल 'शुभ' और निकलते समय के फल को 'अशुभ' कहा है।

टिप्पण—इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय पूरक के रूप मे वायु का भीतर प्रवेश हो रहा हो, उस समय कोई कार्य प्रारम्भ करे अथवा किसी कार्य के सम्बन्ध मे प्रश्न करे, तो वह कार्य सिद्ध होता है, क्योकि वह वायु 'जीव' है। इसके विपरीत, जब वायु रेचक के रूप मे बाहर निकल रहा हो, तब कोई कार्य प्रारम्भ किया जाए या किसी कार्य की सिद्धि-असिद्धि के विषय मे प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध नही होगा, क्योकि वह वायु 'मृत्यु' है।

> पथेन्दोरिन्द्र-वरुणौ विशन्तौ सर्वसिद्धिदौ।
> रविमार्गेण निर्यान्तौ प्रविशन्तौ च मध्यमौ ॥ ५९ ॥
> दक्षिणेन विनिर्यान्तौ विनाशायानिलानलौ।
> नि सरन्तौ विशन्तौ च मध्यमावितरेण तु ॥ ६० ॥

चन्द्रमार्ग से अर्थात् बायी नासिका से प्रवेश करता हुआ पुरन्दर और वरुण वायु समस्त सिद्धियाँ प्रदान करता है तथा सूर्य-मार्ग से बाहर निकलते हुए एव प्रवेश करते हुए दोनो वायु मध्यम फलदायक होते है।

टिप्पण—बायी ओर का नासिकारन्ध्र 'चन्द्र-नाडी' और 'इडा-नाडी' कहलाता है तथा दाहिनी ओर का 'सूर्य-नाडी' और 'पिंगला-नाडी' कहलाता है। जिस समय चन्द्र-नाडी मे पुरन्दर या वरुण-वायु प्रवेश करता है, यदि उस समय कोई कार्य आरम्भ किया जाए या किसी कार्य के विषय मे प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध होता है। जब यही दोनो वायु सूर्य-नाडी से प्रवेश कर रहे या निकल रहे हो, तव कार्य प्रारम्भ किया जाए या कार्य सम्बन्धी प्रश्न किया जाए, तो उस व्यक्ति को मध्यम फल की प्राप्ति होती है।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा चेति नाडिका ।
शशि-सूर्य-शिव-स्थान वाम-दक्षिण-मध्यगा ॥ ६१ ॥
पीयूषमिव वर्षन्ती सर्वगात्रेषु सर्वदा ।
वामाऽमृतमयी नाडी सम्मताऽभीष्टसूचिका ॥ ६२ ॥
वहन्त्यनिष्ट-शसित्री सहर्त्री दक्षिणा पुन ।
सुषुम्णा तु भवेत्सिद्धि-निर्वाण-फलकारणम् ॥ ६३ ॥

बायी तरफ की नाडी इडा कहलाती है और उसमे चन्द्र का स्थान है। दाहिनी ओर की नाडी—पिंगला मे सूर्य का स्थान है और दोनो के मध्य मे स्थित नाडी मे—जो सुषुम्णा कहलाती है, शिवस्थान—मोक्ष-स्थान है।

शरीर के समस्त भागो मे सदा अमृत-वर्षा करने वाली अमृतमय बायी नाडी समस्त मनोरथो को पूर्ण करने वाली मानी गई है।

वहती हुई दाहिनी नाडी अनिष्ट को सूचित करने वाली और कार्य का विघात करने वाली होती है।

सुषुम्णा नाडी अणिमा आदि आठ महासिद्धियो का तथा मोक्ष रूप फल का कारण होती है।

टिप्पण—सुषुम्णा नाडी मे मोक्ष का स्थान है और अणिमा आदि सिद्धियो का कारण है, इस विधान का आशय यह है कि इस नाडी मे ध्यान करने से लम्बे समय तक ध्यान-सन्तति चालू रहती है और इस कारण थोडे समय मे भी अधिक कर्मों का क्षय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सुषुम्णा नाडी मे वायु की गति बहुत मद होती है, अत मन सरलता से स्थिर हो जाता है। मन एव पवन की स्थिरता होने पर सयम की साधना भी सरल हो जाती है। धारणा, ध्यान और समाधि को एक ही स्थल पर करना सयम है और यह सयम सिद्धियो का कारण है। इसी अभिप्राय से सुषुम्णा नाडी को मोक्ष एव सिद्धियो का कारण बतलाया गया है।

वामैवाभ्युदयादीष्ट-शस्तकार्येषु सम्मता ।
दक्षिणा तु रताहार-युद्धादौ दीप्त-कर्मणि ॥ ६४ ॥

अभ्युदय आदि इष्ट और प्रशस्त कार्यों मे बायी नाडी अच्छी मानी गई है और मैथुन, आहार तथा युद्ध आदि दीप्त कार्यो मे दाहिनी नाडी उत्तम मानी गई है ।

टिप्पण—यात्रा, दान, विवाह, नवीन वस्त्राभूषण धारण करते समय, ग्राम-नगर एवं घर मे प्रवेश करते समय, स्वजन-मिलन, शान्ति-कर्म, पौष्टिक कर्म, योगाभ्यास, राज-दर्शन, चिकित्सा, मैत्री, बीज-वपन, इत्यादि कार्यो के प्रारम्भ मे बायी नाडी शुभ होती है और भोजन, विग्रह, विषय-प्रसग, युद्ध, मत्र-साधन, व्यापार आदि कार्यों के प्रारम्भ मे दाहिनी नाडी शुभ मानी गई है ।

पक्ष और नाड़ी

वामा शस्तोदये पक्षे सिते कृष्णे तु दक्षिणा ।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदय शुभ ॥ ६५ ॥

शुक्ल पक्ष मे सूर्योदय के समय बायी नाडी का उदय शुभ माना गया है और कृष्ण पक्ष मे सूर्योदय के समय दाहिनी नाडी का उदय शुभ माना गया है । यह बायी और दाहिनी नाडी का उदय तीन-तीन दिन तक शुभ माना जाता है ।

शशाकेनोदयो वायो सूर्येणास्त शुभावहम् ।
उदये रविणा त्वस्य शशिनास्त शिवं मतम् ॥ ६६ ॥

सूर्योदय के समय वायु का उदय चन्द्र स्वर मे हुआ हो, तो उस दिन सूर्य स्वर मे अस्त होना शुभ और कल्याणकारी है । यदि सूर्य स्वर मे उदय और चन्द्र स्वर मे अस्त हो तब भी शुभ होता है ।

नाड़ी-उदय का स्पष्टीकरण

सितपक्षे दिनारम्भे यत्नत प्रतिपद्दिने ।
वायोर्वीक्षेत सञ्चार प्रशस्तमितरं तथा ॥ ६७ ॥

उदेति पवन पूर्वं शशिन्येष त्र्यह तत ।
सक्रामति त्र्यह सूर्ये शशिन्येव पुनस्त्र्यहम् ॥ ६८ ॥

वहेद्यावद् बृहत्पर्व क्रमेणानेन मारुत ।
कृष्ण-पक्षे पुन सूर्योदय-पूर्वमय क्रम ॥ ६९ ॥

शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा के दिन, सूर्योदय के प्रारम्भ के समय यत्न-पूर्वक प्रशस्त या अप्रशस्त वायु के सचार को देखना चाहिए। प्रथम तीन दिन तक चन्द्र-नाडी मे पवन का वहना प्रारम्भ होगा अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया के दिन सूर्योदय के समय चन्द्र-नाडी मे पवन वहेगा। तत्पश्चात् तीन दिन तक अर्थात् चतुर्थी, पचमी और षष्ठी के दिन सूर्योदय के समय सूर्य-नाडी मे वहेगा। तदनन्तर फिर तीन दिन तक चन्द्र-नाडी मे और फिर तीन दिन तक सूर्य-नाडी मे, इस क्रम से पूर्णिमा तक पवन वहता रहेगा। कृष्ण पक्ष मे पहले तीन दिन तक सूर्योदय के समय सूर्य-नाडी मे, फिर तीन दिन चन्द्र-नाडी मे, इसी क्रम से तीन-तीन दिन के क्रम से अमावस्या तक वहेगा।

टिप्पण—स्मरण रखना चाहिए कि यह नियम सारे दिन के लिए नही, सिर्फ सूर्योदय के समय के लिए है। उसके पश्चात् एक-एक घटे मे चन्द्र-नाडी और सूर्य-नाडी वदलती रहती है। इस नियम मे उलट-फेर होना अशुभ फल का सूचक है।

क्रम-विपर्यय का फल

त्रीन् पक्षानन्यथात्वेऽस्य मासषट्केन पञ्चता ।
पक्ष-द्वय विपर्यासेऽभीष्टबन्धु-विपद् भवेत् ॥ ७० ॥

भवेत्तु दारुणो व्याधिरेक पक्ष त्रिपर्यये ।
द्वि-त्र्याद्यहर्विपर्यासे कलहादिकमुद्दिशेत् ॥ ७१ ॥

पहले वायु के वहने का जो क्रम कहा गया है, यदि उसमे लगातार तीन पक्ष तक विपर्यास हो, अर्थात् चन्द्र-नाडी के वदले सूर्य-नाडी मे

और सूर्य-नाडी के बदले चन्द्र-नाडी मे पवन वहे, तो छह महीने मे मृत्यु होती है। यदि दो पक्ष तक विपर्यास होता रहे, तो प्रिय बन्धु पर विपत्ति आती है। एक पक्ष तक विपरीत पवन बहे, तो भयकर व्याधि उत्पन्न होती है और यदि दो-तीन दिन तक विपरीत पवन बहे, तो कलह आदि अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है।

एक द्वि-त्रीण्यहोरात्राण्यर्क एव मरुद्वहन्।
वर्षैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनान्तायेन्दौ रुजे पुन ॥ ७२ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक अहो-रात्रि अर्थात् दिन रात सूर्यनाडी मे ही पवन चलता रहे, तो उसकी तीन वर्ष मे मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार दो अहो-रात्रि सूर्यनाडी मे पवन चले तो दो वर्ष मे और तीन अहो-रात्रि चलता रहे तो एक वर्ष मे मृत्यु हो जाती है।

मासमेक रवावेव वहन् वायुर्विनिर्दिशेत्।
अहो-रात्रावधि मृत्यु शशाके तु धन-क्षयम् ॥ ७३ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक मास पर्यन्त लगातार सूर्य-नाड़ी मे ही पवन चलता रहे, तो उसकी एक अहो-रात्रि मे ही मृत्यु हो जाती है। यदि एक मास तक चन्द्र-नाडी मे ही पवन चलता रहे, तो उमके धन का क्षय होता है।

वायुस्त्रिमार्गग शसेन्मध्याह्नात्परतो मृतिम्।
दशाह तु द्विमार्गस्थ सक्रान्तौ मरण दिशेत् ॥ ७४ ॥

इडा, पिंगला और सुषुम्णा, इन तीनो नाडियो मे साथ-साथ पवन चले तो मध्याह्न—दो प्रहर के पश्चात् मरण को सूचित करता है। इडा और पिंगला, दोनो नाडियो मे साथ-साथ वायु बहे, तो दस दिन मे, और अकेली सुषुम्णा मे लम्बे समय तक वायु वहे तो शीघ्र मरण होगा, ऐसा कहना चाहिए।

दशाहं तु वहन्निन्दावेवोद्वेगरुजे मरुत् ।
इतश्चेतश्च यामार्धं वहन् लाभार्चनादिकृत् ॥ ७५ ॥

लगातार दस दिन तक चन्द्र-नाडी मे ही पवन चलता रहे तो उद्वेग और रोग उत्पन्न होता है। यदि आधे-आधे प्रहर मे वायु बदलता रहे अर्थात् आधा प्रहर सूर्य-नाडी मे और आधा प्रहर चन्द्र-नाडी मे, इस क्रम से चले तो लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि शुभ फल की प्राप्ति होती है।

विषुवत्समयप्राप्तौ स्पन्देते यस्य चक्षुषी ।
अहोरात्रेण जानीयात् तस्य नाशमसंशयम् ॥ ७६ ॥

जब दिन और रात समान—बारह-बारह घंटे के होते हैं, तब वह विषुवत् काल कहलाता है। विषुवत् काल मे जिसकी आँखे फडकती हैं, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है।

पञ्चातिक्रम्य संक्रान्तीर्मुखे वायुर्वहन् दिशेत् ।
मित्रार्थहानी निस्तेजोऽनर्थान् सर्वान्मृतिं विना ॥ ७७ ॥

एक नाडी मे से दूसरी नाडी मे पवन का जाना 'संक्रान्ति' कहलाता है। यदि दिन की पांच संक्रान्तियाँ बीत जाने पर वायु मुख से बहे तो उससे मित्र हानि, धन हानि और मृत्यु को छोडकर सभी अनर्थ होते हैं।

संक्रान्तीः समतिक्रम्य त्रयोदश समीरणः ।
प्रवहन् वामनासायां रोगोद्वेगादि सूचयेत् ॥ ७८ ॥

यदि तेरह संक्रान्तियाँ व्यतीत हो जाने पर वायु वाम नासिका से बहे, तो वह रोग और उद्वेग की उत्पत्ति को सूचित करता है।

मार्गशीर्षस्य संक्रान्ति-कालादारभ्य मारुतः ।
वहन् पञ्चाहमाचष्टे वत्सरेऽष्टादशे मृतिम् ॥ ७९ ॥

मार्गशीर्ष मास के प्रथम दिन से अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर लगातार पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो वह उस दिन से अठारहवें वर्ष मे मृत्यु का होना सूचित करता है।

शरत्संक्रान्तिकालाच्च पञ्चाह मारुतो वहन् ।
तत पञ्च-दशाब्दानामन्ते मरणमादिशेत् ॥ ८० ॥

यदि शरद् ऋतु की सक्रान्ति से अर्थात् आसौज शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो उसकी पन्द्रहवे वर्ष मे मृत्यु होनी चाहिए ।

श्रावणादेः समारभ्य पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणा मरणं परिसूचयेत् ॥ ८१ ॥

वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्दशाहानि समीरण, ।
दिशेन्नवम-वर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

आरम्य चैत्राद्यदिनात् पञ्चाह पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य मृत्युं नियतमादिशेत् ॥ ८३ ॥

आरभ्य माघमासादे· पञ्चाहानि मरुद्वहन् ।
सवत्सरत्रयस्यान्ते संसूचयति पञ्चताम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार श्रावण मास[1] के प्रारभ से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो वह बारहवे वर्ष मे मृत्यु का सूचक है ।

ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो नौ वर्ष के अन्त मे निश्चय ही उसका मरण होगा ।

चैत्र मास के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो निश्चय से छह वर्ष के अन्त मे मृत्यु होगी ।

माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन का चलना तीन वर्ष के अन्त मे मरण होने का सूचक है ।

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो वायुश्चेद्दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागेस्तु ते शोध्या यथावदनुपूर्वश· ॥ ८५ ॥

---

१ यहाँ मास का आरभ शुक्ल पक्ष से समझना चाहिए ।

शरत्संक्रान्तिकालाच्च पञ्चाहं मारुतो वहन् ।
तत पञ्च-दशाब्दानामन्ते मरणमादिशेत् ॥ ८० ॥

यदि शरद् ऋतु की सक्रान्ति से अर्थात् आसौज शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो उसकी पन्द्रहवे वर्ष मे मृत्यु होनी चाहिए ।

श्रावणादेः समारभ्य पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणा मरण परिसूचयेत् ॥ ८१ ॥

वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्दशाहानि समीरणः ।
दिशेन्नवम-वर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

आरभ्य चैत्राद्यदिनात् पञ्चाह पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य मृत्यु नियतमादिशेत् ॥ ८३ ॥

आरभ्य माघमासादे पञ्चाहानि मरुद्वहन् ।
सवत्सरत्रयस्यान्ते संसूचयति पञ्चताम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार श्रावण मास[1] के प्रारभ से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो वह बारहवे वर्ष मे मृत्यु का सूचक है ।

ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो नौ वर्ष के अन्त मे निश्चय ही उसका मरण होगा ।

चैत्र मास के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो निश्चय से छह वर्ष के अन्त में मृत्यु होगी ।

माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन का चलना तीन वर्ष के अन्त मे मरण होने का सूचक है ।

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो वायुश्चेद्दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागेस्तु ते शोध्या यथावदनुपूर्वश ॥ ८५ ॥

---

१ यहाँ मास का आरभ शुक्ल पक्ष से समझना चाहिए ।

जिस महीने मे पांच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलने से जितने वर्षो मे मरण बतलाया है, उस महीने मे दो, तीन या चार दिन तक ही यदि एक नाडी मे वायु चलता रहे, तो उस वर्ष के उतने ही विभाग करके कम दिनो के अनुसार वर्ष के उतने ही विभाग कम कर देने चाहिए। जैसे—मार्गशीर्ष मास के प्रारम्भ मे पांच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलने से अठारह वर्षों मे मरण बताया गया है। यदि इस मास मे पांच के बदले चार दिन तक ही एक नाडी मे वायु चलता रहे, तो अठारह वर्ष का एक पाँचवा भाग अर्थात् तीन वर्ष, सात मास और छह दिन कम करने पर चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन मे मृत्यु होगी। इसका अभिप्राय यह निकला कि मार्गशीर्ष मास के आरम्भ मे यदि चार दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन मे मृत्यु होगी।

अन्यत्र भी इसी तरह ही समझना चाहिए और ऋतु आदि के मास मे भी यही नियम समझना चाहिए।

काल-निर्णय

> अथेदानी प्रवक्ष्यामि, किञ्चित्कालस्य निर्णयम्।
> सूर्य-मार्ग समाश्रित्य, स च पौष्णेऽत्रगम्यते ॥ ८६ ॥

अब मैं काल-ज्ञान का निर्णय कहूंगा। काल-ज्ञान सूर्यमार्ग को आश्रित करके पौष्ण-काल मे जाना जाता है।

पौष्ण-काल

> जन्मऋक्षगते चन्द्रे, समसप्तगते रवौ।
> पौष्णनामा भवेत्कालो, मृत्युनिर्णयकारणम् ॥ ८७ ॥

चन्द्रमा जन्म नक्षत्र मे हो और सूर्य अपनी राशि से सातवी राशि मे हो तथा चन्द्रमा ने जितनी जन्म-राशि भोगी हो, उतनी ही सूर्य ने

सातवी राशि भोगी हो, तब 'पौष्ण' नामक काल होता है। इस पौष्ण-काल मे मृत्यु का निर्णय किया जा सकता है।

दिनार्धं दिनमेक च, यदा सूर्ये मरुद्वहन्।
चतुर्दशे द्वादशेऽब्दे मृत्यवे भवति क्रमात् ॥ ८८ ॥

पौष्ण काल मे यदि आधे दिन तक सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो चौदहवें वर्ष मे मृत्यु होती है। यदि पूरे दिन सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो बारहवे वर्ष मे मृत्यु होती है।

तथैव च वहन् वायुरहो-रात्र द्वयहं त्र्यहम्।
दशमाष्टमषष्ठाब्देष्वन्ताय भवति क्रमात् ॥ ८९ ॥

पौष्ण काल मे एक अहो-रात्र, दो दिन या तीन दिन तक सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे तो क्रम से दसवे वर्ष, आठवे वर्ष और छठे वष मृत्यु होती है।

वहन् दिनानि चत्वारि तुर्येऽब्दे मृत्यवे मरुत्।
साशीत्यह· सहस्रे तु पञ्चाहानि वहन् पुनः ॥ ९० ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चार दिन तक वायु चलता रहे, तो चौथे वर्ष मे और पाँच दिन तक चलता रहे तो तीन वर्ष—एक हजार और अस्सी दिन मे मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च चतुर्विंशत्यह· क्षयात्।
षडादीन् दिवसान् पञ्च शोधयेदिह तद्यथा ॥ ९१ ॥
षट्कं दिनानामध्यर्कं वहमाने समीरणे।
जीवत्यह्ना सहस्रं षट् पञ्चाशद्दिवसाधिकम् ॥ ९२ ॥
सहस्रं साष्टक जीवेद्वायौ सप्ताह-वाहिनि।
सषट्त्रिंशन्नवशती जीवेदष्टाह-वाहिनि ॥ ९३ ॥
एकत्रैव नवाहानि तथा वहति मारुते।
अह्नामष्टशती जीवेच्चत्वारिंशद्दिनाधिकाम् ॥ ९४ ॥

तथैव वायौ प्रवहत्येकत्र दश वासरान् ।
विंशत्यभ्यधिकामह्ना जीवेत्सप्तशती ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि जिस व्यक्ति की सूर्य-नाडी मे लगातार पाँच दिन वायु चलता रहे, तो वह १०८० दिन जीवित रहता है। यहाँ छह, सात, आठ, नौ या दस दिन तक उसी एक नाडी मे वायु चलने का फल दिखलाया गया है। वह इस प्रकार है—

यदि एक ही सूर्य नाडी मे छह, सात, आठ, नौ या दस दिन पर्यन्त वायु बहता रहे, तो क्रमश १, २, ३, ४, ५ चौबीसी दिन १०८० दिनो मे से कम करके जीवित रहने के दिनो की सख्या जान लेना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यदि छह दिन तक सूर्यनाडी मे वायु चले तो १०८०—२४=१०५६ दिन तक जीवित रहता है।

यदि सात दिन तक एक सूर्यनाडी मे ही वायु चलता रहे तो १०५६ दिनो मे से दो चौवीसी अर्थात् २४ × २=४८ दिन कम करने से १०५६—४८ = १००८ दिन जीवित रहता है।

यदि आठ दिन तक उसी प्रकार वायु चलता रहे तो १००८ दिनो मे से तीन चौवीसी अर्थात् २४ × ३=७२ दिन कम करने से १००८-७२ =९३६ दिन जीवित रहता है।

यदि एक ही नाडी मे नौ दिन पर्यन्त वायु चलता रहे तो ९३६ मे से चार चौवीसी अर्थात् २४ × ४=९६ दिन कम करने से ९३६-९६= ८४० दिन जीवित रहता है।

यदि पूर्वोक्त पौष्ण-काल मे लगातार दस दिन तक सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ८४० दिनो मे से पाँच चौवीसी अर्थात् २४ × ५=१२० दिन कम करने से ८४० — १२०=७२० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-चतुर्विंशत्यह. क्षयात् ।
एकादशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ।। ९६ ।।

ग्यारह से लेकर पन्द्रह दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी मे पवन चलता रहे, तो पूर्वकथित सात सौ वीस दिन मे से पूर्वोक्त प्रकार से अनुक्रम से दो, तीन, चार, पाँच चौबीसो दिन कम कर लेने चाहिए। ग्रन्थकार स्वय इसका विवरण दे रहे हैं।

एकादश-दिनान्यर्क-नाड्या वहति मारुते ।
षण्णवत्यधिकान्ह्लानां षट् शतान्येव जीवति ।। ९७ ।।

यदि पौष्ण-काल मे सूर्यनाडी मे ग्यारह दिनो तक वायु चलता रहे, तो मनुष्य ६९६ दिन जीवित रहता है।

तथैव द्वादशाहानि वायौ वहति जीवति ।
दिनानां षट्शतीमष्टचत्वारिंशत् समन्विताम् ।। ९८ ।।

यदि पूर्वोक्त रूप से बारह दिन पर्यन्त वायु एक ही नाडी मे चलता रहे, तो मनुष्य ६४८ दिवस जीवित रहता है।

त्रयोदश-दिनान्यर्क-नाडिचारिणि मारुते ।
जीवेत्पञ्चशतीमह्ना षट्सप्तति-दिनाधिकाम् ।। ९९ ।।

यदि तेरह दिन तक सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो व्यक्ति ५७६ दिन तक ही जीवित रहता है।

चतुर्दश-दिनान्येवं प्रवाहिनि समीरणे ।
अशीत्यभ्यधिकां जीवेदह्नां शत चतुष्टयम् ।। १०० ।।

यदि चौदह दिवस तक सूर्यनाड़ी मे पवन चलता रहे, तो मनुष्य ४८० दिन तक ही जीवित रहता है।

तथा पञ्चदशाहानि यावत् वहति मारुते ।
जीवेत्षष्ठिदिनोपेतं दिवसाना शतत्रयम् ।। १०१ ।।

यदि पन्द्रह दिन तक लगातार सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो मनुष्य ३६० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-द्वादशाह-क्रम-क्षयात्।
षोडशाद्यानि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ १०२ ॥

सोलह, सत्तरह, अठारह, उन्नीस और बीस दिन पर्यन्त एक सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ३६० दिनो मे से क्रमश एक बारह—१२, दो बारह—२४, तीन बारह—३६, चार बारह—४८ और पाँच बारह—६० दिन कम कर करके जीवित रहता है, ऐसा कहना चाहिए। इसका आगे स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रवहत्येकनाक्षायां षोडशाहानि मारुते।
जीवेत्सहाष्टचत्वारिंशत दिनशतत्रयीम् ॥ १०३ ॥
वहमाने तथा सप्तदशाहानि समीरणे।
अह्ना शतत्रये मृत्युश्चतुर्विंशति-सयुते ॥ १०४ ॥
पवने विचरत्यष्टादशाहानि तथैव च।
नाशोऽष्टाशीति-सयुक्ते गते दिन शतद्वये ॥ १०५ ॥
विचरत्यनिले तद्वद्दिनान्येकोनविंशतिम्।
चत्वारिंशद्युते याते मृत्युर्दिन-शतद्वये ॥ १०६ ॥
विंशति - दिवसानेकनासाचारिणि मारुते।
साशीतौ वासरशते गते मृत्युर्न सशय ॥ १०७ ॥

यदि किसी व्यक्ति के सोलह दिन तक एक ही नासिका मे वायु चलता रहे, तो वह तीन सौ अडतालीस—३४८ दिन तक जीवित रहता है।

यदि लगातार सत्तरह दिन तक एक ही नासिका मे वायु चलता रहे, तो तीन सौ चौबीस दिन मे मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अठारह दिन तक वायु चले तो दो सौ अठासी दिन मे, उन्नीस दिन लगातार पवन चलता रहे, तो दो सौ चालीस दिन मे और

यदि बीस दिन तक एक ही सूर्य नासिका मे पवन चलता रहे, तो एक सौ अस्सी दिन मे निश्चित रूप से मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-दिनषट्क-क्रम-क्षयात् ।
एकविंशादि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ १०८ ॥

यदि इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस दिन तक एक सूर्य-नाडी मे ही पवन वहता रहे, तो पूर्वोक्त १८० दिनो मे से क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाँच षट्क कम करते रहना चाहिए। इसका स्पष्टी-करण आगे किया गया है।

एकविंशत्यहं त्वर्क-नाडीवाहिनि मारुते ।
चतु सप्तति-संयुक्ते मृत्युर्दिनशते भवेत् ॥ १०९ ॥

यदि पौष्ण-काल में इक्कीस दिवस पर्यन्त सूर्य-नाडी मे पवन बहता रहे, तो पूर्वाक्त १८० दिन मे से एक पट्क कम करने पर, अर्थात् १८०—६=१७४ दिन मे उसकी मृत्यु होती है।

द्वाविंशति-दिनान्येवं स द्वि-षष्टावहः शते ।
षड्दिनोनैः पञ्चमासैस्त्रयोविंशत्यहानुगे ॥ ११० ॥

पूर्वोक्त प्रकार से बाईस दिन तक पवन चलता रहे, तो १७४ दिनो मे से दो षट्क अर्थात् बारह दिन कम करने से १७४-१२=१६२ दिन तक जीवित रहेगा। यदि तेईस दिन तक उसी प्रकार पवन चलता रहे, तो १६२ दिनो मे से तीन षट्क अर्थात् अठारह दिन कम करने से छह दिन कम पाँच महीने मे अर्थात् १६२-१८=१४४ दिनो मे मृत्यु होती है।

तथैव वायौ वहति चतुर्विंशतिवासरीम् ।
विंशत्यभ्यधिके मृत्युर्भवेद्दिनशते गते ॥ १११ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चौबीस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक सौ बीस दिन बीतने पर मृत्यु हो जाती है।

पञ्चविंशत्यह चैव वायौ मासत्रये मृति ।
मासद्वये पुनर्मृत्यु षड्विंशतिदिनानुगे ॥ ११२ ॥

इसी प्रकार पच्चीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन महीने मे और छब्बीस दिन तक चलता रहे, तो दो महीने मे मृत्यु होती है ।

सप्तविंशत्यहवहे नाशो मासेन जायते ।
मासार्धेन पुनर्मृत्युरष्टाविंशत्यहानुगे ॥ ११३ ॥

इसी तरह सत्ताईस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक महीने मे और अट्ठाईस दिन तक चलता रहे, तो पन्द्रह दिन मे ही मृत्यु होती है ।

एकोनत्रिंशदहगे मृति स्याद्दशमेऽहनि ।
त्रिंशद्दिनीचरे तु स्यात्पञ्चत्व पञ्चमे दिने ॥ ११४ ॥

इसी तरह उनतीस दिन तक एक ही सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो दसवें दिन और तीस दिन तक चलता रहे, तो पाँचवें दिन मृत्यु होती है ।

एकत्रिंशदहचरे वायौ मृत्युर्दिनत्रये ।
द्वितीयदिवसे नाशो द्वात्रिंशदहवाहिनि ॥ ११५ ॥

इसी प्रकार इकत्तीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन दिन मे और बत्तीस दिन तक चलता रहे, तो दूसरे दिन ही मृत्यु होती है ।

त्रयस्त्रिंश - दहचरे त्वेकाहेनापि पञ्चता ।
एवं यदीन्दुनाड्यां स्यात्तदा व्याध्यादिक दिशेत् ॥ ११६ ॥

इस तरह तेतीस दिन तक लगातार सूर्य नाडी मे ही पवन वहता रहे, तो एक ही दिन मे मृत्यु हो जाती है ।

जिस प्रकार लगातार सूर्य नाडी के चलने का फल मरण बतलाया है, उसी प्रकार यदि चन्द्रनाडी मे पवन चलता रहे, तो उसका फल मृत्यु नही, किन्तु उतने ही काल मे व्याधि, मित्रनाश, महान् भय की प्राप्ति, देश-त्याग, धन-नाश, पुत्र-नाश, दुर्भिक्ष आदि समझना चाहिए ।

उपसंहार

अध्यात्म वायुमाश्रित्य प्रत्येक सूर्य-सोमयोः ।
एवमभ्यास-योगेन जानीयात् कालनिर्णयम् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार शरीर के भीतर रहे हुए वायु सम्बन्धी सूर्य एव चन्द्र-नाडी का अभ्यास करके काल का निर्णय जानना चाहिए।

मृत्यु के बाह्य लक्षरण

अध्यात्मिकविपर्यास संभवेद् व्याधितोऽपि हि ।
तन्निश्चयाय बध्नामि बाह्यं कालस्य लक्षणम् ॥ ११८ ॥

शरीर के अन्तर्गत वायु के आधार पर उक्त काल-निर्णय वताया गया है, परन्तु वायु का विपर्यास—उलट-फेर व्याधि के कारण भी हो सकता है। व्याधिकृत विपर्यास की स्थिति मे वायु के द्वारा काल का निर्णय सही नही होगा। अत काल का स्पष्ट और सही निर्णय करने के लिए काल के बाह्य लक्षणो का वर्णन किया जाता है।

नेत्र-श्रोत्र-शिरोभेदात् स च त्रिविधलक्षणः ।
निरीक्ष्य सूर्यमाश्रित्य यथेष्टमपरः पुन. ॥ ११९ ॥

सूर्य की अपेक्षा से काल का बाह्य लक्षण—नेत्र, श्रोत्र और शिर के भेद से तीन प्रकार का माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य लक्षण स्वेच्छा से ही देखे जाते है। उनके लिए सूर्य का अवलबन लेने की भी आवश्यकता नही है।

नेत्र से कालज्ञान

वामे तत्रेक्षणे पद्मं षोडशच्छदमैन्दवम् ।
जानीयाद् भानवीयं तु दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥ १२० ॥

बाएँ नेत्र मे सोलह पाखुडी वाला चन्द्र सम्बन्धी कमल है और दाहिने नेत्र मे बारह पाखुडी वाला सूर्य सम्बन्धी कमल है, सर्वप्रथम इन दोनो कमलो का परिज्ञान कर लेना चाहिए।

खद्योतद्युतिवर्णानि चत्वारिच्छदनानि तु।
प्रत्येक तत्र दृश्यानि स्वागुलीविनिपीडनात् ॥ १२१ ॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपनी उगली से आंख के विशिष्ट भाग को दवाने से प्रत्येक कमल की चार पाखुडियाँ जुगनू की तरह चमकती हुई दिखाई देती हैं, इन्हे देखना चाहिए।

सोमाधो भ्रूलतापाङ्गघ्राणान्तिकदलेषु तु।
दले नष्टे क्रमान्मृत्यु षट्त्रियुग्मैकमासत ॥ १२२ ॥

चन्द्र सम्वन्धी कमल मे, चार पाखुडियो मे से यदि नीचे की पखुडी दिखाई न दे तो छह महीने मे मृत्यु होती है, भ्रकुटी के समीप की पखुडी परिलक्षित न हो तो तीन मास मे, आँख के कोने की पखुडी दिखाई न दे तो दो मास मे, और नाक के पास की पखुडी दिखाई न पडे तो एक मास मे मृत्यु होती है।

अयमेव क्रम पद्मे भानवीये यदा भवेत्।
दश-पञ्च-त्रि-द्विदिनै क्रमान्मृत्युस्तदा भवेत् ॥ १२३ ॥

सूर्य सम्वन्धी कमल मे इसी क्रम से पाखुडियाँ दिखाई न देने पर क्रमश दस, पाँच, तीन और दो दिन में मृत्यु होती है। अर्थात् दाहिनी आँख को गुरु-उपदेशानुसार दवाने से सूर्य सम्वन्धी कमल की भी चार पाखुडियाँ दिखाई देती है। उनमे से नीचे की दिखाई न दे तो दस दिन मे, ऊपर की दिखाई न दे तो पाँच दिन मे, आँख के कोने की तरफ की दिखाई न दे तो तीन दिन मे और नाक की तरफ की दिखाई न दे तो दो दिन मे मृत्यु होती है।

एतान्यपीड्यमानानि द्वयोरपि हि पद्मयो।
दलानि यदि वीक्ष्येत् मृत्युर्दिनशतात्तदा ॥ १२४ ॥

द आख को अगुली से दबाये बिना दोनो कमलो की पाखुडियाँ दिखाई न दे तो सौ दिन मे मृत्यु होती है।

कर्ण से कालज्ञान

ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्जं श्रोत्रे हस्ताग्र-पीडिते ।
न श्रूयेताग्नि-निर्घोषो यदि स्व पञ्च-वासरान् ॥१२५॥
दश वा पञ्चदश वा विंशतिं पञ्चविंशतिम् ।
तदा पञ्च-चतुस्त्रिद्वयेक-वर्षैर्मरणं क्रमात् ॥१२६॥

हृदय मे आठ पखुडी के कमल का ध्यान करके दोनो हाथो की तर्जनी अगुलियाँ को दोनो कानो मे डालने पर यदि पाँच, दस, पन्द्रह, बीस या पच्चीस दिन तक अपना अग्नि-निर्घोष—तीव्रता से जलती हुई अग्नि का धक-धकाहट का शब्द सुनाई न दे, तो क्रमश पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष और एक वर्ष मे मृत्यु होती है ।

एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-चतुर्विंशत्यह क्षयात् ।
षडादि-षोडश-दिनान्यान्तराण्यपि शोधयेत् ॥ १२७ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि पाँच दिन तक अग्नि-निर्घोष सुनाई न दे तो पाँच वर्ष मे मृत्यु होती है, किन्तु यदि छठे दिन भी सुनाई न दे या सातवे आदि दिन भी सुनाई न दे तो क्या फल होता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक मे निम्न प्रकार से दिया गया है .—

यदि छह दिन से लेकर सोलह दिन तक अगुली से दबाने पर भी कान मे शब्द सुनाई न दे, तो पाँच वर्ष के दिनो मे से क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि सोलह चौबीसियाँ कम करते हुए मृत्यु के दिनो की संख्या का निश्चय करना चाहिए । यथा—छह दिन शब्द सुनाई न देने पर २४ दिन कम पाँच वर्ष अर्थात् १७७६ दिन मे मृत्यु होती है । सात दिन सुनाई न देने पर १७७६ दिनो मे से दो चौबीसी अर्थात् ४८ दिन कम करने से १७७६ – ४८ = १७२८ दिन मे मृत्यु होती है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्व सख्या मे से उपर्युक्त चौबीसियाँ कम करके मरणकाल का निश्चय करना चाहिए ।

मस्तक से काल-ज्ञान

ब्रह्मद्वारे प्रसर्पन्ती पञ्चाह धूममालिकाम् ।
न चेत्पश्येत्तदा ज्ञेयो मृत्यु सवत्सरैस्त्रिभि ॥ १२८ ॥

ब्रह्म द्वार—दसवें द्वार मे फैलती हुई धूम की श्रेणी यदि पाँच दिन तक दृष्टिगोचर न हो तो समझना चाहिए कि तीन वर्ष मे मृत्यु होगी ।

धूम की श्रेणी का ब्रह्मद्वार मे प्रविष्ट होने का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निष्णात गुरु की सहायता लेनी चाहिए ।

प्रकारान्तर से काल-ज्ञान

प्रतिपद्दिवसे कालचक्र-ज्ञानाय शौचवान् ।
आत्मनो दक्षिण पाणि शुक्ल पक्षं प्रकल्पयेत् ॥ १२९ ॥

अधोमध्योर्ध्वपर्वाणि कनिष्ठांगुलिकानि तु ।
क्रमेण प्रतिपत् षष्ठयेकादशी. कल्पयेत्तिथी ॥ १३० ॥

अवशेषागुली - पर्वाण्यवशेष - तिथीस्तथा ।
पञ्चमी-दशमी-राका पर्वाण्यगुष्ठगानि तु ॥ १३१ ॥

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र होकर कालचक्र को जानने के लिए अपने दाहिने हाथ को शुक्ल पक्ष के रूप मे कल्पित करना चाहिए ।

अपनी कनिष्ठा अगुलि के निम्न, मध्यम और ऊपर के पर्व मे अनुक्रम से प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी तिथि की कल्पना करनी चाहिए ।

अगूठे के निचले, मध्य के और ऊपर के पर्व मे पचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिए तथा शेप अगुलियो के पर्वों मे शेष तिथियो की कल्पना करनी चाहिए । अर्थात् अनामिका अगुलि के तीन पर्वों मे दूज, तीज और चौथ की, मध्यमा के तीन पर्वों मे सप्तमी,

अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीन पर्वों मे द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी चाहिए।

वामपाणि कृष्णपक्षं तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत्।
ततश्च निर्जने देशे बद्ध-पद्मासन सुधीः॥ १३२॥
प्रसन्न· सितसंव्यानः कोशीकृत्य करद्वयम्।
ततस्तदन्त शून्यं तु कृष्णां वर्ण विचिन्तयेत्॥ १३३॥

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बाएँ हाथ मे कृष्ण पक्ष की कल्पना करे तथा पाँचो उंगलियो मे शुक्ल पक्ष के हाथ की तरह तिथियो की कल्पना करे। तत्पश्चात् एकान्त निर्जन प्रदेश मे जाकर, पद्मासन लगाकर, मन की प्रसन्नता के साथ उज्ज्वल ध्यान करके, दोनो हाथो को कमल के कोश के आकार मे जोड ले और हाथ मे काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे।

उद्घाटित - कराम्भोजस्ततो यत्रागुलीतिथौ।
वीक्ष्याते कालबिन्दु[1] स काल इत्यत्र कीर्त्यते॥ १३४॥

तत्पश्चात् हाथ खोलने पर जिस अगुली के अन्दर कल्पित अधेरी या उजेली तिथि मे काला बिन्दु दिखाई दे, उसी अधेरी या उजेली तिथि के दिन मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए।

काल-निर्णय के अन्य उपाय

क्षुत-विण्मेद-मूत्राणि भवन्ति युगपद्यदि।
मासे तत्र तिथौ तत्र वर्षान्ते मरणं तदा॥ १३५॥

जिस मनुष्य को छीक, विष्ठा, वीर्यस्राव और पेशाब, ये चारो एक साथ हो, उसकी एक वर्ष के अन्त मे उसी मास और उसी तिथि को मृत्यु होगी।

---

१ वीक्षते कालबिन्दु ।

रोहिणी शशभृल्लक्ष्म महापथयरुन्धतीम् ।
ध्रुव च न यदा पश्येद्वर्षेण स्यात्तदा मृति [1] ॥ १३६ ॥

यदि दृष्टि निर्मल—साफ होने पर भी १ रोहिणी नक्षत्र, २ चन्द्रमा का चिह्न, ३ छाया-पथ—छायापुरुष, ४ अरुन्धती तारा—सप्तर्षि के समीप दिखाई देने वाला एक छोटा-सा तारा और ५ ध्रुव अर्थात् भ्रकुटि, यह पाँच या इनमे से एक भी दिखाई न दे, तो उसकी एक वर्ष मे मृत्यु होती है।

स्वप्ने स्व भक्ष्यमाण श्वगृध्रकाकनिशाचरै ।
उह्यमान खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृति ॥ १३७ ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे कुत्ता, गीध, काक या अन्य निशाचर प्राणियो द्वारा अपने शरीर को भक्षण करते देखे, अथवा गधा, ऊँट, शूकर, कुत्ते आदि पर सवारी करे या इनके द्वारा अपने को घसीटकर ले जाता हुआ देखे तो उसकी एक वर्ष मे मृत्यु होती है।

---

१ इस विषय मे ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका मे अन्य आचार्यो का मत प्रदर्शित करते हुए दो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

अरुन्धती ध्रुव चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थ मातृमण्डलम् ॥१॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुव नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपद प्रोक्त भ्रुव स्यान्मातृमण्डलम् ॥२॥

जिनकी आयु क्षीण हो चुकी होती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद और मातृमण्डल को नही देख सकते हैं ।

यहाँ अरुन्धती का अर्थ जिह्वा, ध्रुव का अर्थ नासिका का अग्रभाग, विष्णुपद का अर्थ दूसरे के नेत्र की पुतली देखने पर दिखाई देने वाली अपनी पुतली और मातृमण्डल का अर्थ भ्रकुटी समझना चाहिए ।

रश्मि-निर्मुक्तमादित्यं रश्मियुक्तं हविर्भुजम् ।
यदा पश्येद्विपद्येत तदैकादश-मासत ॥ १३८ ॥

यदि कोई व्यक्ति सहस्ररश्मि—सूर्यमण्डल को किरण-विहीन खे और अग्नि को किरण-युक्त देखे, तो वह मनुष्य ग्यारह मास मे मृत्यु को प्राप्त होता है ।

वृक्षाग्रे कुत्रचित्पश्येत् गन्धर्व-नगरं यदि ।
पश्येत्प्रेतान् पिशाचान् वा दशमे मासि तन्मृति ॥ १३९ ॥

यदि किसी व्यक्ति को किसी जगह गधर्वनगर—वास्तविक नगर का प्रतिबिम्ब वृक्ष के ऊपर दिखाई दे अथवा प्रेत या पिशाच प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो, तो उसकी दसवे महीने मे मृत्यु होती है ।

छर्दि-मूत्र-पुरीष वा सुवर्ण-रजतानि वा ।
स्वप्ने पश्येद्यदि तदा मासान्नवैव जीविति ॥ १४० ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे उलटी, मूत्र, विष्ठा, सोना और चाँदी देखता है, तो वह नौ महीने तक जीवित रहता है ।[1]

स्थूलोऽकस्मात् कृशोऽकस्मादकस्मादतिकोपन ।
अकस्मादतिभीरुर्वा मासानष्टैव जीवति ॥ १४१ ॥

जो मनुष्य अकस्मात् अर्थात् विना कारण ही मोटा हो जाए या अकस्मात् ही कृश—दुवला हो जाए या अकस्मात् ही क्रोधी हो जाए या अकस्मात् ही भीरु—कायर हो जाए, तो वह आठ महीने तक ही जीवित रहता है ।

समग्रमपि विन्यस्तं पांशौ वा कर्दमेऽपि वा ।
स्याच्चेत्खण्डं पदं सप्तमास्यन्ते म्रियते तदा ॥ १४२ ॥

---

१ श्री केशर विजयजी महाराज के विचार से यह फल रोगी मनुष्य की अपेक्षा से होना चाहिए ।

यदि कभी धूल पर या कीचड मे पूरा पैर जमाने पर भी वह अधूरा पडा हुआ दिखाई दे, तो उसकी सात महीने के अन्त मे मृत्यु होती है।

तारा श्यामा यदा पश्येच्छुष्येदधरतालु च।
न स्वागुलि-त्रय मायाद्राजदन्तद्वयान्तरे ॥१४३॥
गृध्र काक कपोतो वा क्रव्यादोऽन्योऽपि वा खग ।
निलीयेत यदा मूर्ध्नि षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१४४॥

यदि किसी व्यक्ति को अपनी आँख की पुतली एकदम काली दिखाई दे, बिना किसी बीमारी के ओष्ठ और तालु सूखने लगें, मुँह चौडा करने पर ऊपर और नीचे के मध्यवर्ती दातो के बीच मे अपनी तीन अगुलियाँ समाविष्ट न हो तथा गिद्ध, काक, कबूतर या कोई भी मासभक्षी पक्षी मस्तक पर बैठ जाए, तो उसकी छह माह के अन्त मे मृत्यु होती है।

प्रत्यह पश्यतानभ्रेऽह्न्यापूर्य जलैर्मुखम् ।
विहिते फूत्कृते शक्रधन्वा तु तत्र दृश्यते ॥ १४५ ॥
यदा न दृश्यते तत्तु मासैः षड्भिर्मृतिस्तदा ।
पर-नेत्रे स्वदेह चेन्न पश्येन्मरण तदा ॥ १४६ ॥

यदि दिन के समय मुख मे पानी भरकर बादलो से रहित आकाश मे फूत्कार के साथ ऊपर उछालने पर और कुछ दिन तक ऐसा करने पर उस पानी मे इन्द्रधनुष-सा वर्ण दिखाई देता है। किन्तु, जब वह इन्द्रधनुष दिखाई न दे तो उस व्यक्ति की छह मास मे मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे की आँखो की पुतली मे अपना शरीर दिखाई न दे, तब भी छह महीने मे मृत्यु होती है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

कूर्परौ न्यस्य जान्वोर्मूर्ध्न्येकीकृत्य करौ सदा ।
रम्भाकोशनिभा छाया लक्षयेदन्तरोद्भवाम् ॥ १४७ ॥
विकासि च दल तत्र यदैक परिलक्ष्यते ।
तस्यामेव तिथौ मृत्यु षण्मास्यन्ते भवेत्तदा ॥ १४८ ॥

दोनो जानुओ पर दोनो हाथो की कोहनियाँ को स्थापित करके अपने हाथ के दोनो पजे मस्तक पर स्थापित किए जाएँ और ऐसा करने पर यदि बादल न होने पर भी दोनो हाथो के बीच मे डोडे के सदृश छाया उत्पन्न होती है तो उसे निरन्तर देखते रहना चाहिए। यदि उस छाया मे एक पत्र विकसित होता हुआ दिखाई दे, तो समझ लेना चाहिए कि उसकी छह महीने के अन्त मे उसी दिन मृत्यु होगी।

इन्द्रनीलसमच्छाया वक्रीभूता सहस्रश।
मुक्ताफलालङ्करणा पन्नगा सूक्ष्ममूर्त्तय ॥ १४९ ॥
दिवा सम्मुखमायान्तो दृश्यन्ते व्योम्नि सन्निधौ।
न दृश्यन्ते यदा ते तु षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥ १५० ॥

जब आकाश मेघमालाओ—बादलो से रहित होता है, उस समय मनुष्य धूप मे स्थित हो तो उसे इन्द्रनील-मणि के सदृश कान्ति वाले, टेढे-मेढ़े, हजारो मुक्ताओ के अलकार वाले तथा सूक्ष्म आकृति के सर्प सन्मुख आते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु, जब वह सर्प दिखाई न दे तो उसे समझना चाहिए कि उसकी छह महीने मे मृत्यु होगी।

स्वप्ने मुण्डितमभ्यक्तं रक्त-गन्ध-स्रगम्बरम्।
पश्येद् याम्यां खरे यान्तं स्व योऽब्दार्ध स जीवति ॥१५१॥

जो मनुष्य स्वप्न मे यह देखता है कि "मेरा मस्तक मु डा हुआ है, तैल की मालिश की हुई है, लाल रग का पदार्थ शरीर पर लेपन किया हुआ है, गले मे लाल रग की माला पहनी हुई है, और लाल रग के वस्त्र पहन कर, गधे पर चढकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहा हूँ" तो उसकी छह महीने मे मृत्यु होती है।

घण्टानादो रतान्ते चेदकस्मादनुभूयते।
पञ्चता पञ्चमास्यन्ते तदा भवति निश्चितम् ॥ १५२ ॥

यदि विषय-सेवन करने के पश्चात् अकस्मात् ही शरीर मे घटे के

नाद-स्वर सुनाई दे, तो उसकी पाँच मास के अन्त मे मृत्यु होती है, इसमें सन्देह नही है ।

शिरो वेगात् समारुह्य कृकलासो व्रजन् यदि ।
दध्याद्वर्ण-त्रय पञ्च-मास्यन्ते मरण तदा ॥ १५३ ॥

यदि कभी कोई गिरगिट वेग के साथ मस्तक पर चढ जाए और जाते-जाते तीन बार रग बदले, तो उस व्यक्ति की पाच मास के अन्त मे मृत्यु होती है ।

वक्री भवति नासा चेद्वर्तुली भवतो दृशौ ।
स्वस्थानाद् भ्रश्यत कर्णौ चतुर्मास्या तदा मृति ॥ १५४॥

यदि किसी व्यक्ति की नाक टेढी हो जाए, आँखें गोल हो जाए और अन्य अग अपने-अपने स्थान से ढीले पड जाएँ तो उसकी चार मास मे मृत्यु होती है ।

कृष्णं कृष्ण-परीवार लोह-दण्डधर नरम् ।
यदा स्वप्ने निरीक्ष्येत मृत्युर्मासैस्त्रिभिस्तदा ॥ १५५ ॥

यदि किसी व्यक्ति को स्वप्न मे काले वर्ण का, काले परिवार का और लोहे के दण्ड को धारण करने वाला मनुष्य दिखाई दे, तो उसकी तीन महीने मे मृत्यु होती है ।

इन्दुमुष्ण रविं शीतं छिद्र भूमौ रवावपि ।
जिह्वा श्यामा मुख कोकनदाभ च यदेक्षते ॥ १५६ ॥

तालुकम्पो मन शोको वर्णोऽङ्गे नैकधा यदा ।
नाभेश्चाकस्मिकी हिक्का मृत्युर्मासद्वयात्तदा ॥ १५७ ॥

यदि किसी व्यक्ति को चन्द्रमा उष्ण, सूर्य ठडा, जमीन और सूर्य-मण्डल मे छिद्र, अपनी जीभ काली, मुख लाल कमल के समान दिखाई दे और तालु मे कम्पन हो, निष्कारण मन मे शोक हो, शरीर मे अनेक

प्रकार का वर्ण उत्पन्न होता रहे और नाभि से अकस्मात् हिक्का—हीक उठे, तो उसकी दो मास मे मृत्यु होती है, ऐसा समझना चाहिए।

जिह्वा नास्वादमादत्ते मुहु स्खलति भाषणे।
श्रोत्रे न शृणुत शब्द गन्धं वेत्ति न नासिका ॥ १५८ ॥

स्पन्देते नयने नित्य दृष्ट-वस्तुन्यपि भ्रमः।
नक्तमिन्द्रधनु' पश्येत् तथोल्कापतन दिवा ॥ १५९ ॥

न च्छायात्मन पश्येद्दर्पणे सलिलेऽपि वा।
अनब्दा विद्युतं पश्येच्छिरोऽकस्मादपि ज्वलेत् ॥ १६० ॥

हंस-काक-मयूराणा पश्येच्च क्वापि सहतिम्।
शीतोष्णखर-मृद्वादेरपि स्पर्श न वेत्ति च ॥ १६१ ॥

अमीषा लक्ष्मणा मध्याद्यदेकमपि दृश्यते।
जन्तोर्भवति मासेन तदा मृत्युर्न सशय ॥ १६२ ॥

यदि कोई व्यक्ति अपनी जिह्वा के स्वाद को जानने मे असमर्थ हो जाए और बोलते समय लडखडा जाए, कानो से शब्द सुनाई न दे और नासिका गध को ग्रहण करना बन्द कर दे, और उसके नेत्र निरन्तर फडकते रहे, देखी हुई वस्तु मे भी भ्रम उत्पन्न होने लगे, रात्रि मे इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता हो, दिन मे उल्कापात दिखाई दे। इसके अतिरिक्त यदि उसे दर्पण मे अथवा पानी मे अपनी आकृति दिखाई न दे, बादल न होने पर भी बिजली दिखाई दे और अकस्मात् ही मस्तक मे जलन उत्पन्न हो जाए। और उस व्यक्ति को हस, काक और मयूरो का किसी जगह झुड दिखाई दे[1] और शीत, उष्ण, कठोर तथा कोमल स्पर्श का ज्ञान लुप्त हो जाए।

---

१. श्री केसर विजय महाराज ने ऐसा अर्थ किया है कि हस, काक और मयूर को मैथुन करते हुए देखे।

न स्वनासां स्वजिह्वां न न ग्रहानामल दिश ।
नापि सप्तऋषीन् यर्हि[1] पश्यति म्रियते तदा ॥ १६७ ॥

जो मनुष्य अपनी नाक को, अपनी जीभ को, ग्रहो को, निर्मल दिशाओ को या आकाश मे स्थित सप्त-ऋषि ताराओ को नही देख सकता, उसका दो दिन मे मरण हो जाता है ।

प्रभाते यदि वा सायं ज्योत्स्नावत्यामथो निशि ।
प्रवितत्य निजौ बाहू निजच्छाया विलोक्य च ॥ १६८ ॥

शनैरुत्क्षिप्य नेत्रे स्वच्छाया पश्येत्ततोऽम्बरे ।
न शिरो दृश्यते तस्या यदा स्यान्मरण तदा ॥ १६९ ॥

नेक्ष्यते वामबाहुश्चेत् पुत्र-दार-क्षयस्तदा ।
यदि दक्षिणबाहुर्नेक्ष्यते भ्रातृ-क्षयस्तदा ॥ १७० ॥

अदृष्टे हृदये मृत्युरुदरे च धन-क्षय. ।
गुह्ये पितृ-विनाशस्तु व्याधिरूरुयुगे भवेत् ॥ १७१ ॥

अदर्शने पादयोश्च विदेशगमनं भवेत् ।
अदृश्यमाने सर्वाङ्गे सद्यो मरणमादिशेत् ॥ १७२ ॥

कोई व्यक्ति प्रात काल, सायकाल या शुक्ल पक्ष की रात्रि मे प्रकाश मे खडा होकर, दोनो हाथ नीचे लटका कर कुछ देर तक अपनी छाया देखता रहे । तत्पश्चात् नेत्रो को धीरे-धीरे छाया से हटाकर ऊपर आकाश में देखने पर उसे पुरुष की आकृति दिखाई देगी । यदि उस आकृति मे उसे अपना मस्तक दिखाई न दे, तो समझना चाहिए कि मेरी मृत्यु होने वाली है । यदि उसे बायाँ हाथ दिखाई न दे, तो पुत्र या स्त्री की मृत्यु होती है और यदि दाहिना हाथ दिखाई न दे, तो भाई की मृत्यु होती है । यदि उसे अपना हृदय दिखाई न दे, तो उसकी अपनी

---

१. व्योम्नि ।

मृत्यु होती है और उदर—पेट दिखाई न दे, तो उसके धन का नाश होना है। यदि उसे अपना गुह्य स्थान दिखाई न दे, तो उसके पिता आदि किसी पूज्य जन की मृत्यु होती है और यदि दोनो जांघें दिखाई नही दे, तो उसके शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है। यदि उसे अपने पैर न दीखें तो उसे विदेश यात्रा करनी पड़ती है और यदि उसे अपना समग्र शरीर ही दिखाई न दे, तो उसकी शीघ्र ही मृत्यु होती है।

कालज्ञान के अन्य उपाय

> विद्यया दर्पणागुष्ठ - कुड्यासिष्वतारिता[1]।
> विधिना देवता पृष्टा ब्रूते कालस्य निर्णयम् ॥ १७३ ॥
>
> सूर्येन्दु ग्रहणे विद्यो[2] नरवीरे-ठठेत्यसौ[3]।
> साध्या दशसहस्र्याष्टोत्तरया[4] जपकर्मत.॥ १७४ ॥
>
> अष्टोत्तरसहस्रस्य जापात् कार्यक्षणे पुन ।
> देवता लीयतेऽस्यादौ, तत कन्याऽऽह निर्णयम्। १७५ ॥
>
> सत्साधक-गुणाकृष्टा स्वयमेवाथ देवता।
> त्रिकाल-विषय ब्रूते निर्णय गतसशयम् ॥ १७६ ॥

दर्पण, अगूठे, दीवार या तलवार आदि पर विद्या के द्वारा विधिपूर्वक अवतरित की हुई देवता आदि की आकृति प्रश्न करने पर काल-मृत्यु का निर्णय बता देती है।

सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय 'ॐ नरवीरे ठ ठ स्वाहा' का दस हजार आठ वार जाप करके विद्या की साधना करनी चाहिए।

जब उस विद्या से कार्य लेना हो तो एक हजार आठ वार जाप करने से वह दर्पण, तलवार आदि पर अवतरित हो जाती है।

---

१ कुड्यादिष्वतारिता। २ विद्या। ३. नरवीरठवेत्यस
४ दश सहस्राष्टोत्तरया।

तत्पश्चात् वह दर्पण आदि, जिसमे विद्या का अवतरण किया गया है, एक कुमारी कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमे देवता का रूप दिखलाई दे, तब उससे आयु के विषय मे प्रश्न करना चाहिए। उस प्रश्न का जो उत्तर मिलेगा, उस निर्णय को कन्या अभिव्यक्त कर देगी।

श्रेष्ठ साधक की योग या तप-साधना से आकृष्ट देवता की आकृति स्वय ही—असदिग्ध रूप से, उसे अनागत, आगत और वर्तमान काल सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देती है।

शकुन द्वारा काल-ज्ञान

अथवा शकुनाद्विद्यात्सज्जो वा यदि वाऽऽतुर।
स्वतो वा परतो वाऽपि गृहे वा यदि वा वहि ॥ १७७ ॥

कोई पुरुष नीरोग हो या रोगी हो, अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा काल—मृत्यु के समय का निर्णय कर सकता है।

अहि-वृश्चिक-कृम्या-खु-गृहगोधा-पिपीलिका।
यूका-मत्कुणलूताश्च वल्मीकोऽथोपदेहिका ॥१७८॥
कीटिका घृतवर्णाश्च भ्रमर्यश्च यदाधिका।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत् ॥१७९॥

यदि सर्प, बिच्छू, कीडे, चूहे, छिपकली, चिंटियाँ, जूँ, खटमल, मकड़ी, बावी, उदेही—घृतवर्ण की चीटिये और भ्रमर आदि बहुत अधिक परिमाण मे दृष्टिगोचर हो तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि अथवा मरण होता है।

उपानद्वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग - कुन्तलान्।
चञ्च्वा चुम्वेद्यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पचता ॥१८०॥
अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढ पादैर्वसुन्धराम्।
खनन्ति चेत्तदानी स्याद्रोगो मृत्युश्च तत्प्रभो ॥१८१॥

यदि काक जूते को, हाथी-अश्व आदि किसी वाहन को अथवा छत्र, शस्त्र, छाया—परछाई, शरीर या केश को चुम्बन—स्पर्श करले तो समझना चाहिए कि मृत्यु सन्निकट है।

यदि आँखो से आँसू बहाती हुई गाय अपने पैरो के द्वारा जोर से पृथ्वी को खोदे, तो उसके स्वामी को रोग और मृत्यु का शिकार होना पडता है।

अनातुरकृते ह्येतत् शकुन परिकीर्तितम्।
अधुनाऽऽतुरमुद्दिश्य शकुन परिकीर्त्यते ॥ १८२ ॥

ऊपर कहे गये शकुन नीरोग पुरुष के काल-निर्णय के लिए है। अब बीमार व्यक्ति को लक्ष्य करके शकुन का विचार करते हैं।

रोगी के काल का निर्णय

दक्षिणस्या वलित्वा चेत् श्वा गुद लेढ्युरोऽथवा।
लागूल वा तदा मृत्युरेक द्वि-त्रिदिनै क्रमात् ॥ १८३ ॥
शेते निमित्तकाले चेत् श्वा सकोच्याखिल वपु।
धूत्वा कर्णौ वलित्वाङ्ग धुनोत्यथ ततो मृति ॥ १८४ ॥
यदि व्यात्तमुखोलाला मुञ्चन् सकोचितेक्षण।
अग सकोच्य शेते श्वा तदा मृत्युर्न सशय ॥ १८५ ॥

जब रोगी मनुष्य अपनी आयु के विषय मे शकुन देख रहा हो, उस समय यदि कोई कुत्ता या कुत्ती दक्षिण दिशा मे जाकर अपनी गुदा को चाटे तो उसकी एक दिन मे, हृदय को चाटे तो दो दिन मे और पूछ को चाटे तो तीन दिन मे मृत्यु होती है।

जब कभी रोगी निमित्त देख रहा हो, उस समय यदि कुत्ता अपने सम्पूर्ण शरीर को सिकोड कर सोता हो अथवा कानो को फडफडा रहा हो या शरीर को मोडकर हिला रहा हो तो रोगी की मृत्यु होती है।

यदि कुत्ता मुँह फाडकर लार टपकाता हुआ, आँख मींच कर और शरीर को सिकोड कर सोता हुआ दिखाई दे, तो रोगी की निश्चय ही मृत्यु होती है।

काक का शकुन

यद्यातुर-गृहस्योर्ध्वं काकपक्षिगणो मिलन्।
त्रिसन्ध्यं दृश्यते नून तदा मृत्युरुपस्थित ॥ १८६ ॥
महानसे तथा शय्यागारे काकाः क्षिपन्ति चेत्।
चर्मास्थि-रज्जुं केशान् वा तदासन्नैव पंचता ॥ १८७ ॥

यदि रोगी मनुष्य के घर के ऊपर प्रभात, मध्याह्न और सध्या के समय अर्थात् तीनो सध्याओ के काल मे कौओ का समूह मिल कर कोलाहल करे, तो समझ लेना चाहिए कि रोगी की मृत्यु निकट है।

रोगी की भोजनशाला या शयनगृह के ऊपर कौए चमडा, हड्डी, रस्सी या केश लाकर डाल दे, तो समझना चाहिए कि रोगी की मृत्यु समीप ही है।

उपश्रुति से काल-निर्णय

अथवोपश्रुतेर्विन्द्याद्विद्वान् कालस्य निर्णयम्।
प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले शस्ता दिशं श्रित. ॥ १८८ ॥
पूत्वा पंचनमस्कृत्याचार्यमन्त्रेण वा श्रुती।
गेहाच्छन्न - श्रुतिर्गच्छेच्छिल्पि-चत्वर-भूमिषु ॥ १८९ ॥
चन्द्रनेनार्चयित्वा क्ष्मां क्षिप्त्वा गंधाक्षतादि च।
सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुते. शृणुयाद् ध्वनिम् ॥ १९० ॥
अर्थान्तिरापदेश्यश्च सरूपश्चेति स द्विधा।
विमर्श-गम्यस्तत्राद्य. स्फुटोक्तार्थोऽपर. पुनः ॥ १९१ ॥
यथैष भवनस्तम्भ पञ्चषड्भिरय[1] दिनै.।
पक्षैर्मासैरथो वर्षैर्भक्ष्यते यदि वा न वा ॥ १९२ ॥

---

१. तथेयद्भिरय।

मनोहरतरश्चासीत् किन्त्वय लघु भक्ष्यते ।
अर्थान्तरापदेश्य स्यादेवमादिरुप श्रुति ॥ १९३ ॥
एषा स्त्री पुरुषो वाऽसौ स्थानादस्मान्न यास्यति ।
दास्यामो न वय गन्तु गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥ १९४ ॥
विद्यते गन्तु-कामोऽयमह च प्रेषणोत्सुक. ।
तेन यास्यत्यसौ शीघ्र स्यात्स्वरूपेत्युपश्रुति ॥ १९५ ॥
कर्णोद्घाटन - सजातोपश्रुत्यन्तरमात्मन ।
कुशला कालमासन्नमनासन्नं च जानते ॥ १९६ ॥

विद्वान् पुरुष को उपश्रुति से काल का निर्णय करना चाहिए । उसके निर्णय की विधि इस प्रकार है—

जब भद्रा आदि अपयोग न हो—ऐसे प्रशस्त दिन मे सोने के समय अर्थात् एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर वह प्रबुद्ध-पुरुष पूर्व, उत्तर या पश्चिम दिशा मे जाए । वह जाते समय पांच नमस्कार मन्त्र का जाप करके अपने दोनो कानो को पवित्र कर ले । फिर कानो को इस प्रकार बन्द कर ले कि उसे किसी व्यक्ति का शब्द सुनाई न पडे और शिल्पियो—कारीगरो के घर की ओर अथवा बाजार की ओर पूर्वोक्त दिशाओ मे गमन करे । वह वहां जाकर भूमि को चन्दन से चर्चित करके गध-अक्षत डाल कर, सावधान होकर, कान खोल कर लोगो के शब्दो को सुने । वे शब्द दो प्रकार के होगे—१ अर्थान्तरापदेश्य और २ स्वरूप-उपश्रुति । अर्थान्तरापदेश्य शब्द या उपश्रुति वह है जो प्रत्यक्ष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट न करे, बल्कि सोच-विचार करने पर अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे । और स्वरूप उपश्रुति वह कहलाती है, जो जिस रूप मे सुनाई दे उसी रूप मे अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे ।

१ अर्थान्तरापदेश्य उपश्रुति—इस प्रकार समझना चाहिए—'इस घर का स्तभ पांच-छह दिनो मे, पांच-छह पखवाडों मे, पांच-छह महीनो मे या पांच-छह वर्षों मे टूट जायगा, अथवा यह नही टूटेगा ।'

'यह स्तम्भ बहुत बढिया था, परन्तु जल्दी ही नष्ट हो जायगा।' इत्यादि प्रकार की उपश्रुति 'अर्थान्तरापदेश्य' कहलाती है। इस उपश्रुति से अपनी आयु का अनुमान लगा लेना चाहिए। जितने दिनो मे स्तम्भ टूटने की ध्वनि सुनाई दे, उतने ही दिनो मे आयु की समाप्ति समझनी चाहिए।

२ **स्वरूप-उपश्रुति**--इस प्रकार होती है—'यह स्त्री इस स्थान से नही जाएगी। यह पुरुष यहाँ से जाने वाला नही है। हम उसे जाने नही देंगे और वह जाना भी नही चाहता है' या 'अमुक यहाँ से जाना चाहता है, मैं उसे भेज देने के लिए उत्सुक हूँ, अत' अब वह शीघ्र ही चला जाएगा।' इस उपश्रुति से भी आयु का निर्णय होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि जाने की बात सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त निकट है और यदि न जाने या न जाने देने की ध्वनि सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त सन्निकट नही है।

इस प्रकार कान खोल कर स्वय सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार कुशल पुरुष निर्णय कर सकता है कि उसकी आयु का अन्त सन्निकट है या दूर है।

शनैश्चर के आकार से काल-निर्णय

शनिः स्याद्यत्र नक्षत्रे तद्दातव्यं मुखे तत ।
त्रीणि शीर्षे दृशोर्द्वे द्वे गुह्य एकं शनौ नरे ॥ १९७ ॥
चत्वारि दक्षिणे पाणौ त्रीणि त्रीणि च पादयोः ।
चत्वारि वामहस्ते तु क्रमशः पंच वक्षसि ॥ १९८ ॥
निमित्त-समये तत्र पतितं स्थापना क्रमात् ।
जन्मर्क्ष नामऋक्ष वा गुह्यदेशे भवेद्यदि ॥ १९९ ॥
दृष्टं श्लिष्टं ग्रहैर्दुष्टैः सौम्यैरप्रेक्षितायुतम् ।
सज्जस्यापि तदा मृत्युः का कथा रोगिण. पुन. ॥२००॥

शनि-देव की पुरुष के समान आकृति बना लेना चाहिए। फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र मे शनि हो, उसके मुख मे वह नक्षत्र स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् क्रम से आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ मे, तीन-तीन दोनो पैरो मे, चार बाएँ हाथ मे, पांच वक्षस्थल मे, तीन मस्तक मे, दो-दो दोनो नेत्रो मे और एक गुह्य भाग मे स्थापित करना चाहिए।

निमित्त देखते समय, स्थापना के अनुक्रम से जन्म-नक्षत्र अथवा नाम-नक्षत्र यदि गुह्य भाग मे आया हो और उस पर दुष्ट ग्रहो की दृष्टि पडती हो या दुष्ट ग्रहो के साथ मिलाप होता हो और सौम्य गहो की दृष्टि न पडती हो या उनसे मिलाप न होता हो, तो निरोगी होने पर भी उस मनुष्य की मृत्यु होती है। रोगी की तो बात ही क्या ?

लग्न के अनुसार कालज्ञान

पृच्छायामथ लग्नास्ते चतुर्थदशमस्थिताः।
ग्रहा क्रूरा शशी पष्ठाष्टमश्चेत् स्यात्तदा मृति. ॥२०१॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछने समय जो लग्न चल रहा हो वह उसी समय अस्त हो जाए और क्रूर ग्रह चौथे, सातवे या दसवें रहे हुए हों और चन्द्रमा छठा या आठवां हो, तो उस पुरुष की मृत्यु होती है।

पृच्छाया समये लग्नाधिपतिर्भवति ग्रह.।
यदि वाऽस्तमितो मृत्यु. सज्जस्यापि तदा भवेत् ॥२०२॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछते ममय यदि लग्नाधिपति मेषादि राशि मे गुरु, मगल, और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति ग्रह अस्त हो गया हो तो नीरोग मनुष्य की भी मृत्यु होती है।

लग्नस्थश्चेच्छशी सौरिर्द्वादशो नवम कुज ।
अष्टमोऽर्कस्तदा मृत्यु स्याच्चेन्न बलवान् गुरु ॥ २०३ ॥

यदि प्रश्न करते समय लग्न मे चन्द्रमा स्थिति हो, बारहवें शनैश्चर

हो, नौवे मगल हो, आठवे सूर्य हो और गुरु यदि बलवान् न हो, तो उसकी मृत्यु होती है ।

रवि. षष्ठस्तृतीयो वा शशी च दशमस्थित. ।
यदा भवति मृत्यु स्यात्तृतीये दिवसे तदा ॥ २०४ ॥

यदि आयु सम्बन्धी प्रश्न करते समय सूर्य तीसरे या छठे हो और चन्द्रमा दसवे हो तो उसकी तीसरे दिन मृत्यु समझनी चाहिए ।

पापग्रहाश्चेदुदयात्तुर्ये वा द्वादशेऽथवा ।
दिशन्ति तद्विदो मृत्यु तृतीये दिवसे तदा ॥ २०५ ॥

यदि प्रश्न करते समय पापग्रह लग्न से चौथे या बारहवे हो तो कालज्ञान के ज्ञाता पुरुष तीसरे दिन मृत्यु होना बतलाते है ।

उदये पचमे वापि यदि पापग्रहो भवेत् ।
अष्टभिर्दशभिर्वा स्याद्दिवसै: पचता तत ॥ २०६ ॥

यदि प्रश्न करते समय चलते लग्न मे अथवा पाँचवें स्थान मे पाप-ग्रह हो तो आठ या दस दिन मे मृत्यु होती है ।

धनुर्मिथुनयो सप्तमयोर्यद्यशुभ - ग्रहा ।
तदा व्याधिर्मृतिर्वा स्याज्ज्योतिषामिति निर्णय ॥२०७॥

यदि प्रश्न करते समय सातवे धनुष-राशि और मिथुन-राशि मे अशुभ ग्रह आये हो तो व्याधि या मृत्यु होती है, यह ज्योतिष-शास्त्र के वेत्ताओ का निर्णय है ।

यंत्र के द्वारा कालज्ञान

अन्तस्थाधिकृत-प्राणिनाम - प्रणव - गर्भितम् ।
कोणस्थ - रेफमाग्नेयपुरं ज्वालाशता - कुलम् ॥ २०८ ॥
सानुस्वारैरकाराद्यै. पट्स्वरै: पार्श्वतो वृतम् ।
स्वस्तिकांकबहि कोण स्वाक्षरान्त. प्रतिष्ठितम् ॥ २०९ ॥

चतु पार्श्वस्थ-गुरुय यन्त्र वायुपुरा-वृतम् ।
कल्पयित्वा परिन्यस्येत् पादहृच्छीर्षसन्धिषु ॥ २१० ॥

सूर्योदयक्षणे सूर्यं पृष्ठे कृत्वा तत सुधी ।
स्व-परायुर्विनिश्चेतु निजच्छाया विलोकयेत् ॥ २११ ॥

पूर्णां छाया यदीक्षेत तदा वर्ष न पचता ।
कर्णाभावे तु पचत्व वर्षैर्द्वादशभिर्भवेत् ॥ २१२ ॥

हस्तागुली-स्कन्ध-केश-पार्श्व-नासाक्षये क्रमात् ।
दशाष्ट - सप्त - पच - त्र्येक - वर्षैर्मरण दिशेत् ॥ २१३ ॥

षण्मास्या म्रियते नाशे शिरसश्चिबुकस्य वा ।
ग्रीवानाशे तु मासेनैकादशाहेन दृक्क्षये ॥ २१४ ॥

सच्छिद्रे हृदये मृत्युर्दिवसै सप्तभिर्भवेत् ।
यदि च्छायाद्वय पश्येद्यमपार्श्व तदा व्रजेत् ॥ २१५ ॥

यत्र पर सर्वप्रथम ॐ लिखना चाहिए और उसके साथ जिसकी आयु का निर्णय करना है, उसका नाम भी लिखना चाहिए। एक षट्कोण यन्त्र मे ॐकार होना चाहिए। यत्र के चारो कोणो मे मानो अग्नि की सैकडो ज्वालाओ से व्याप्त अग्निवीज अक्षर 'र' लिखना चाहिए। अनुस्वार सहित अकार आदि 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ'—छह स्वरो से कोणो के वाह्य भागो को घेर लेना चाहिए अर्थात् छहो कोणो मे छह स्वर लिखने चाहिए। फिर छहो कोणो के वाहरी भाग मे छह स्वस्तिक बना लेने चाहिए। स्वस्तिको और स्वरो के बीच मे छह 'स्वा' अक्षर लिखने चाहिए। फिर चारो ओर विसर्ग सहित यकार 'य' लिखना चाहिए और उस यकार के चारो तरफ वायु के पूर से आवृत—सलग्न चार रेखाएँ खीचनी चाहिए।

इस प्रकार का यन्त्र बनाकर उसके पैर, हृदय, मस्तक और सन्धियो मे स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्योदय के समय सूर्य की ओर

पीठ करके और पश्चिम मे मुख करके बैठना चाहिए और अपनी या दूसरे की आयु का निर्णय करने के लिए अपनी छाया को देखना चाहिए।

यदि छाया पूर्ण दिखाई दे तो समझना चाहिए कि एक वर्ष तक मृत्यु नही होगी और नीरोगता के साथ सुखपूर्वक वर्ष व्यतीत होगा। यदि अपना कान दिखाई न दे तो बारह वर्ष मे मृत्यु होगी। हाथ न दीखे तो दस वर्ष मे मरण होगा। अगुलियाँ न दीखे तो आठ वर्ष मे, कधा न दीखे तो सात वर्ष मे, केश न दीखें तो पाँच वर्ष मे, पार्श्व भाग न दीखें तो तीन वर्ष मे, नाक न दीखे तो एक वर्ष मे, मस्तक या ठोडी न दीखे तो छह महीने मे, ग्रीवा न दीखे तो एक महीने मे, नेत्र न दीखे तो ग्यारह दिन मे और हृदय मे छिद्र दिखाई दे, तो सात दिन मे मृत्यु होगी। और यदि दो छायाएँ दिखाई दें, तो समझना चाहिए कि मृत्यु पास ही आ पहुँची है।

विद्या-प्रयोग से काल-निर्णय

इति यन्त्र प्रयोगेण जानीयात्कालनिर्णयम्।
यदि वा विद्यया विद्याद्वक्ष्यमाणप्रकारया॥ २१६॥

पूर्वोक्त रीति से यन्त्र का प्रयोग करके आयु का निर्णय करना चाहिए अथवा आगे कही जाने वाली विद्या से काल का निर्णय कर लेना चाहिए।

प्रथम न्यस्य चूडाया स्वाशब्दमो च मस्तके।
क्षि नेत्र-हृदये पञ्च नाभ्यब्जे हाऽक्षर तत॥ २१७॥

सर्वप्रथम चोटी मे 'स्वा' शब्द, मस्तक पर 'ॐ' शब्द, नेत्र मे 'क्ष' शब्द, हृदय मे 'प' शब्द और नाभि-कमल मे 'हा' शब्द स्थापित करना चाहिए।

अनया विद्ययाऽष्टाग्र - शतवारं विलोचने।
स्वच्छाया चाभिमन्त्र्यार्क पृष्ठे कृत्वाऽरुणोदये॥ २१८॥

परच्छाया परकृते स्वच्छाया स्वकृते पुनः ।
सम्यक् तत्कृतपूज सन्नुपयुक्तो विलोकयेत् ॥ २१९ ॥

'ॐ' जुस ॐ मृत्युञ्जयाय ॐ वज्रपाणिने शूलपाणिने हर-हर दह-दह स्वरूप दर्शय-दर्शय हुं फट्-फट् ।' इस विद्या से अपने नेत्रों को और अपनी छाया को १०८ वार मन्त्रित करके, सूर्योदय के ममय, सूर्य की तरफ पीठ करके, सम्यक् प्रकार से विद्या की पूजा करके, चित्त स्थिर करके, दूमरे के लिए दूमरे की छाया और अपने लिए अपनी छाया देखनी चाहिए ।

सम्पूर्ण यदि पश्येत्तामावर्प न मृतिस्दा ।
क्रमजघा-जान्वभावे त्रि-द्वयेकाब्दैर्मृ ति पुन ॥ २२० ॥
ऊरोरभावे दशभिर्मासैर्नश्येत्कटे पुन ।
अष्टाभिर्नवभिर्वापि तुन्दाभावे तु पचपै ॥ २२१ ॥

यदि छाया सम्पूर्ण दिखाई दे तो एक वर्प पर्यन्त मृत्यु नही होगी । और पैर, जघा और घुटना दिखाई न देने पर अनुक्रम मे तीन, दो और एक वर्ष मे मृत्यु होती है । ऊरु—पिडली दिखाई न देने पर दस महीने मे, कमर दिखाई न देने पर आठ-नौ महीने मे और पेट दिखाई न देने पर पाँच मास मे मृत्यु होती है ।

ग्रीवाऽभावे चतुस्त्रि-द्वयेकमासैर्म्रियते पुन ।
कक्षाभावे तु पक्षेण दशाहेन भुजक्षये ॥ २२२ ॥
दिनै स्कधक्षयेऽष्टाभिश्चतुर्याम्या तु हृत्क्षये ।
शीर्पाभावे तु यामाभ्या सर्वाभावे तु तत्क्षणात् ॥ २२३ ॥

यदि गर्दन न दिखाई दे तो चार, तीन, दो या एक मास मे मृत्यु होती है । यदि बगल दिखाई न दे, तो पन्द्रह दिन मे और भुजा दिखाई न दे, तो दस दिन मे मृत्यु होती है ।

यदि स्कध दृष्टिगोचर न हो तो आठ दिन मे, हृदय दिखाई न दे तो चार प्रहर मे, मस्तक दिखाई न दे तो दो प्रहर मे और पूरा का पूरा शरीर दिखाई न दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है।

उपसंहार

एवमाध्यात्मिकं काल विनिश्चेतु प्रसगत ।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णय. परिभाषितः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार प्राणायाम—पवन के अभ्यास से शारीरिक कालज्ञान का निर्णय करते हुए प्रसगवश बाह्य निमित्तो से भी काल का निर्णय बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य-नाडी आदि की गति से भी मृत्यु के समय का ज्ञान किया जा सकता है और बाह्य निमित्तो एव शकुन आदि को देखकर भी मृत्यु के समय को जाना जा सकता है।

जय-पराजय निर्णय

को जेष्यति द्वयोर्युद्धे इति पृच्छत्यवस्थित ।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद्रिक्ते स्यादितरस्य तु ॥ २२५ ॥

दो विरोधी व्यक्तियो के युद्ध मे किसकी विजय होगी ? इस प्रकार का प्रश्न करने पर, प्रश्न के समम यदि पूर्ण नाडी हो अर्थात् स्वाभाविक रूप से पूरक हो रहा हो—श्वास भीतर की ओर खिच रहा हो तो जिसका नाम पहले लिया गया है, उसकी विजय होती है और यदि नाडी रिक्त हो अर्थात् वायु बाहर निकल रहा हो तो दूसरे की विजय होती है।

रिक्त-पूर्ण का लक्षण

यत्त्यजेत् सचरन् वायुस्तद्रिक्तमभिधीयते ।
सक्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णं कथित बुधैः ॥ २२६ ॥

चलते हुए वायु का बाहर निकालना 'रिक्त' कहलाता है और नासिका के स्थान मे पवन भीतर प्रवेश करता हो तो उसे विद्वान् 'पूर्ण

कहते हैं । वायु का बाहर निकलना 'रिक्त' और नासिका के द्वारा भीतर प्रविष्ट होना 'पूर्ण' कहलाता है ।

स्वरोदय से शुभाशुभ-निर्णय

प्रश्नाऽऽदौ नाम चेद् ज्ञातुर्गृह्लात्यन्वातुरस्य तु ।
स्यादिष्टस्य तदा सिद्धिर्विपर्यासे विपर्यय ॥२२७॥

यदि प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करते समय पहले जानने वाले का अर्थात् जिससे प्रश्न किया जा रहा है, उसका नाम ले तो इष्ट सिद्धि होती है । इसके विपरीत, पहले रोगी का और फिर जानने वाले का नाम ले तो परिणाम भी विपरीत ही होता है ।

टिप्पण—इस प्रकार का प्रश्न अनजान मे पूछा जाए तभी उसका सही फल मालूम हो सकता है । यदि कोई प्रश्नकर्त्ता उपर्युक्त नियम को जानकर यदि जानकार का नाम पहले लेकर प्रश्न पूछे तो यह नही कहा जा सकता कि रोगी जीवित रहेगा ही । उसकी परीक्षा दूसरे उपायो से की जानी चाहिए ।

वाम-बाहुस्थिते दूते समनामाक्षरो जयेत् ।
दक्षिण-बाहुगे त्वाजौ विषमाक्षर-नामक ॥ २२८ ॥

युद्ध मे किस पक्ष की जय होगी ? इस प्रकार प्रश्न करने वाला दूत यदि बायी ओर खडा हो और युद्ध करने वाले का नाम—दो, चार, छह आदि सम अक्षर का हो, तो उसकी विजय होगी और यदि प्रश्नकर्त्ता दाहिनी ओर खडा हो, तो विषम अक्षरो के नाम वाले की विजय होगी ।

भूतादिभिर्गृहीताना दष्टाना वा भुजङ्गमै. ।
विधि पूर्वोक्त एवासौ विज्ञेय खलु मान्त्रिकै ॥ २२९ ॥

जो भूत आदि से आविष्ट हो अथवा जो सर्प आदि से डँस लिये गये हो, ऐसे मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी मत्रवेत्ताओ को उनके ठीक होने या न होने का निर्णय करने के लिए पूर्वोक्त विधि ही समझनी चाहिए ।

पूर्णा संजायते वामा नाडी हि[1] वरुणेन चेत्।
कार्याण्यारभ्यमाणानि तदा सिध्यन्त्यसंशयम् ॥ २३० ॥

पहले कहे हुए चार मडलो मे से दूसरे वारुण मडल से यदि वाम नाडी पूर्ण वह रही हो तो उस समय प्रारम्भ किए गए कार्य अवश्य ही सफल होते हैं।

जय-जीवित-लाभादि-कार्याणि निखिलान्यपि।
निष्फलान्येव जायन्ते पवने दक्षिणास्थिते ॥ २३१ ॥

यदि वारुण मडल के उदय के समय पवन दाहिनी नासिका मे चल रहा हो तो जय, जीवन एव लाभ आदि सम्बन्धी सर्व कार्य निष्फल ही होते हैं।

ज्ञानी बुद्ध्वाऽनिल सम्यक् पुष्पं हस्तात्प्रपातयेत्।
मृत-जीवित-विज्ञाने तत· कुर्वीत निश्चयम् ॥२३२॥

जीवन और मरण सम्बन्धी विज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी पुरुष वायु को भली-भाँति जानकर और अपने हाथ से पुष्प नीचे गिराकर उसके द्वारा भी निश्चय कर सकते है।

त्वरितो वरुणे लाभश्चिरेण तु पुरन्दरे।
जायते पवने स्वल्प-सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥ २३३ ॥

यदि प्रश्न करते समय उत्तरदाता को वरुण-मडल का उदय हो तो उसका तत्काल लाभ होता है, ऐसा समझना चाहिए। पुरन्दर मडल का उदय होने पर देर से लाभ होता है, पवन मडल का उदय हो तो साधारण लाभ होता है और अग्नि मडल का उदय हो तो सिद्ध कार्य का भी नाश हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

आयाति वरुणे यातः, तत्रैवास्ते सुखं क्षितौ।
प्रयाति पवनेऽन्यत्र, मृत इत्यनले वदेत् ॥ २३४ ॥

यदि किसी गाँव या देश गए हुए मनुष्य के सम्बन्ध मे वरुण मडल

१. विशता।

के उदय के समय प्रश्न किया जाए तो वह जल्दी ही लौट कर आने वाला है, पृथ्वी मडल मे प्रश्न किया जाए तो वह जहाँ गया है वहाँ सुखपूर्वक है, पवन मडल मे प्रश्न किया जाए तो वह वहाँ से अन्यत्र चला गया है, अग्निमडल मे प्रश्न किया जाए तो उसकी मृत्यु हो गई है, ऐसा फल समझना चाहिए।

दहने युद्ध-पृच्छायां युद्धभगश्च दारुण. ।
मृत्यु सैन्य-विनाशो वा पवने जायते पुन ॥ २३५ ॥

यदि अग्नि मडल मे युद्ध सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो महायुद्ध होगा और उसमे शत्रु की ओर से पराजय प्राप्त होगी, पवन मडल मे प्रश्न किया जाए तो जिसके विषय मे प्रश्न किया गया हो, उसकी मृत्यु होगी और सेना का विनाश होगा।

महेन्द्रे विजयो युद्धे वारुणे वाञ्छिताधिक ।
रिपु-भगेन सन्धिर्वा स्वसिद्धि-परिसूचक ॥ २३६ ॥

यदि पृथ्वी मडल मे प्रश्न करे तो युद्ध मे विजय प्राप्त होगी, वरुण-मडल मे प्रश्न करे तो अभीष्ट से भी अधिक फल की प्राप्ति होगी अथवा शत्रु का मान भग होकर अपनी सिद्धि को सूचित करने वाली सधि होगी।

भौमे वर्षति पर्जन्यो वरुणे तु मनोमतम् ।
पवने दुर्दिनाम्भोदा वह्नौ वृष्टि कियत्यपि ॥ २३७ ॥

यदि पृथ्वी मडल मे वर्षा सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो वर्षा होगी, वरुण मडल मे किया जाए तो मनचाही वर्षा होगी, पवन मडल मे किया जाए तो बादल होगे, पर वर्षा नही होगी और यदि अग्नि मडल में किया जाए तो मामूली वर्षा होगी, ऐसा फल समझना चाहिए।

वरुणे शस्य-निष्पत्तिरतिश्लाघ्या पुरन्दरे ।
मध्यस्था पवने च स्यान्न स्वल्पाऽपि हुताशने ॥२३८॥

यदि धान्य उत्पन्न होने के सम्बन्ध मे वरुण-मंडल मे प्रश्न किया जाए तो धान्य की उत्पत्ति होगी, पुरन्दर—पृथ्वी-मडल मे प्रश्न किया जाए तो बहुत बढिया धान्योत्पत्ति होगी, पवन-मंडल मे प्रश्न किया जाए तो मध्यम रूप से उत्पत्ति होगी—कही होगी और कही नही होगी, और यदि अग्नि-मडल मे प्रश्न किया जाए, तो धान्य की बिल्कुल उत्पत्ति नहीं होगी।

महेन्द्र-वरुणौ शस्तौ गर्भप्रश्ने सुतप्रदौ।
समीर-दहनौ स्त्रीदौ शून्यं गर्भस्य नाशकम् ॥ २३९ ॥

गर्भ सम्बन्धी प्रश्न करते समय पार्थिव और वारुण-मडल प्रशस्त माने गए हैं। इनमे प्रश्न करने पर पुत्र की प्राप्ति होती है। वायु और अग्नि-मडल मे प्रश्न करने पर पुत्री का जन्म होता है और सुषुम्णा नाडी चलते समय प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

गृहे राजकुलादौ च प्रवैशे निर्गमेऽथवा।
पूर्णांगपादं पुरतः कुर्वत स्यादभीप्सितम् ॥ २४० ॥

यदि गृह मे या राजकुल आदि मे प्रवेश करते समय या उनमे से बाहर निकलते समय पूर्णांग वाले पैर को; अर्थात् नाक के जिस तरफ के छिद्र से वायु निकलती हो, उस तरफ के पैर को पहले आगे रखकर चलने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

कार्य-सिद्धि का उपाय

गुरु-बन्धु-नृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः।
पूर्णांगे खलु कर्त्तव्याः कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥ २४१ ॥

जो मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि चाहता है, उसे गुरु, बंधु, राजा, अमात्य—मंत्री या अन्य लोगो को, जिनसे कोई अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, अपने पूर्णांग की तरफ रखना चाहिए, अर्थात् नासिका के जिस छिद्र मे से पवन बहता हो, उस ओर उन्हे रखकर स्वय बैठना चाहिए।

ऐसा करने से उसका इष्ट कार्य सिद्ध होता है, उसकी अभिलाषा परिपूर्ण होती है।

वशीकरण

आसने शयने वापि पूर्णांगे विनिवेशिताः।
वशीभवन्ति कामिन्यो न कार्मणमत परम् ॥ २४२ ॥

अपने आसन या शयन के समय अपने पूर्णांग की ओर स्त्रियों को बैठाने से वे सब उसके वश में हो जाती हैं। दुनिया मे इससे उत्तम अन्य कोई कामण—जादू-टोना नही है।

अरि-चौराधमर्णाद्या अन्येऽप्युत्पातविग्रहा ।
कर्त्तव्या खलु रिक्तागे जयलाभसुखार्थिभि॰॥ २४३ ॥

जो व्यक्ति विजय, लाभ और सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे शत्रु को, चोर को, कर्जदार को तथा अन्य उत्पात्त, विग्रह आदि करके दु ख पहुंचाने वालो को अपने रिक्ताग की ओर रखे, अर्थात् जिस ओर की नासिका मे से वायु न बह रही हो उस ओर बैठाएँ। ऐसा करने से वे दु:ख नही दे सकेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पात्त करने वाले दुष्ट व्यक्तियो को सदा रिक्त-अग की ओर रखना चाहिए।

प्रतिपक्ष-प्रहारेभ्य पूर्णांगं योऽभिरक्षति ।
न तस्य रिपुभि शक्तिर्बलिष्ठैरपि हन्यते ॥ २४४ ॥

जो पुरुष शत्रु के प्रहारो से अपने पूर्णांग की रक्षा करता है, अत्यन्त बलवान् शत्रु भी उसकी शक्ति का विनाश नही कर सकता।

पुत्र-पुत्री का जन्म

वहन्ती नासिका वामा दक्षिणा वाऽर्भसंस्थित ।
पृच्छेद्यदि तदा पुत्रो रिक्ताया तु सुता भवेत् ॥ २४५ ॥

सुषुम्णा-वाहभागे द्वौ शिशू रिक्ते नपुंसकम् ।
संक्रान्तौ गर्भहानिः स्यात् समे क्षेममसंशयम् ॥ २४६ ॥

यदि कोई व्यक्ति सामने खड़ा होकर गर्भ के सम्बन्ध मे प्रश्न करे और उत्तरदाता की बायी या दाहिनी नासिका चल रही हो तो पुत्र का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए। और यदि वह रिक्त नासिका की ओर बगल मे खड़ा होकर प्रश्न करे तो पुत्री का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए।

यदि प्रश्न करते समय सुषुम्णा नाडी चलती हो और प्रश्नकर्त्ता सन्मुख खडा हो तो दो बालकों का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए। यदि सुषुम्णा नाडी को छोड़कर आकाश-मडल मे पवन चले जाने पर प्रश्न किया जाए, तो नपुंसक का जन्म होता है, और आकाश-मडल से दूसरी नाडी मे संक्रमण करते समय प्रश्न किया जाए, तो गर्भ का नाश होता है, ऐसा कहना चाहिए। यदि सम्पूर्ण तत्त्व का उदय होने पर प्रश्न किया जाए, तो निस्सन्देह क्षेमकुशल और मनोवाछित फल की सिद्धि होती है।

मतान्तर

चन्द्रे स्त्री पुरुष. सूर्ये मध्यभागे नपुंसकम् ।
प्रश्नकाले तु विज्ञेयमिति कैश्चिन्निगद्यते ॥ २४७ ॥

यदि प्रश्न करते समय चन्द्र स्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्त्ता सन्मुख खडा होकर प्रश्न कर रहा हो तो पुत्री का जन्म होता है, सूर्य स्वर चल रहा हो तो पुत्र का जन्म होता है और सुषुम्णा नाड़ी चल रही हो तो नपुंसक का जन्म होता है। कई आचार्यों की ऐसी मान्यता है।

पवन को पहचानने की विधि

यदा न ज्ञायते सम्यक् पवनः सञ्चरन्नपि ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्निश्चेतव्याः स बिन्दुभिः ॥ २४८ ॥

यदि एक मडल से दूसरे मडल मे जाता हुआ पुरन्दरादि वायु जब भली-भाँति ज्ञात न हो—तब पीले, श्वेत, लाल, और काले बिन्दुओ से उसका निश्चय करना चाहिए।

बिन्दु देखने की विधि

अगुष्ठाभ्या श्रुती मध्यागुलीभ्या नासिकापुटे।
अन्त्योपान्त्यागुलीभिश्च पिधाय वदनाम्बुजम् ॥ २४९ ॥

कोणावक्ष्णोर्निपीड्याद्यागुलीभ्या श्वासरोधतः।
यथावर्ण निरीक्षेत बिन्दुमव्यग्र-मानस ॥ २५० ॥

दोनो अगूठो से कान के दोनो छिद्र, मध्य अगुलियो से नासिका के दोनो छिद्र, अनामिका और कनिष्ठा अगुलियो से मुख और तर्जनी अगुलियो से आँख के कोने दबाकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, शान्त चित्त से भ्रकुटि मे जिस वर्ण के बिन्दु दिखाई दे, उन्हे देखना चाहिए।

बिन्दु-ज्ञान से पवन-निर्णय

पीतेन बिन्दुना भौम सितेन वरुण पुन।
कृष्णेन पवन विन्द्यादरुणेन हुताशनम् ॥ २५१ ॥

पीला बिन्दु दिखाई दे तो पुरन्दर वायु, श्वेत दिखाई दे तो वरुण वायु, कृष्ण बिन्दु परिलक्षित हो तो पवन नामक वायु और लाल बिन्दु दृष्टिगोचर हो तो अग्नि वायु समझनी चाहिए।

नाड़ी की गति को रोकना

निरुरुत्सेद् वहन्ती या वामा वा दक्षिणामथ।
तदग पीडयेत्सद्यो यथा नाडीतरा वहेत् ॥ २५२ ॥

चलती हुई बायी या दाहिनी नाडी को रोकने की इच्छा हो तो उस ओर के पार्श्व भाग को दबाना चाहिए। ऐसा करने से दूसरी नाडी चालू हो जाएगी और चालू नाडी बन्द हो जाएगी। इस तरह की क्रिया करने से नाडी की गति मे परिवर्तन आ जाएगा।

चन्द्र-क्षेत्र सूर्य-क्षेत्र

अग्रे वाम-विभागे हि शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।
पृष्ठे दक्षिण-भागे तु रविक्षेत्र मनीषिण· ।। २५३ ।।

विद्वान् पुरुषो का कथन है कि शरीर के वाम भाग मे आगे की ओर चन्द्र का क्षेत्र है और दाहिने भाग मे पीछे की ओर सूर्य का क्षेत्र है ।

वायुज्ञान का महत्त्व

लाभालाभौ सुखं दुःख जीवितं मरणं तथा ।
विदन्ति विरला· सम्यग् वायुसंचारवेदिनः ।। २५४ ।।

वायु के सचार को जानने वाले पुरुष सम्यक् रूप से लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण को जानते है, परन्तु ऐसे वायु-सचार वेत्ता विरले पुरुष ही होते हैं ।

नाड़ी-शुद्धि

अखिलं वायुजन्मेदं सामर्थ्यं तस्य जायते ।
कर्तुं नाडि-विशुद्धिं य· सम्यग् जानात्यमूढधीः ।। २५५ ।।

जो प्रबुद्ध पुरुष भली-भाँति नाडी की विशुद्धि करना जानता है, उसे वायु से उत्पन्न होने वाले सर्व सामर्थ्य प्राप्त हो जाते हैं। वह व्यक्ति सर्वशक्ति-संपन्न हो जाता है ।

नाड़ी-शुद्धि की विधि

नाभ्यब्ज-कर्णिकारूढ कलाबिन्दु-पवित्रितम् ।
रेफाक्रान्तं स्फुरद्भासं हकारं परिचिन्तयेत् ।। २५६ ।।
तं ततश्च तडिद्वेगं स्फुलिंगार्चिशताञ्चितम् ।
रेचयेत्सूर्यमार्गेण प्रापयेच्च नभस्तलम् ।। २५७ ।।
अमृते प्लावयन्त तमवतार्य शनैस्तत· ।
चन्द्राभं चन्द्रमार्गेण नाभिपद्मे निवेशयेत् ।। २५८ ।।

निष्क्रमं च प्रवेश च यथामार्गमनारतम् ।
कुर्वन्नेव महाभ्यासो नाडीशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २५६ ॥

नाभिकमल की कर्णिका मे आरूढ, कला और विन्दु से युक्त तथा रेफ से आक्रान्त हकार का अर्थात् 'र्हं' का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्युत जैसे वेगवान और सैकडो चिनगारियो एव ज्वालाओ से युक्त 'र्हं' को सूर्यनाडी के मार्ग से रेचक करके अर्थात् बाहर निकाल कर आकाश मे ऊपर तक पहुँचाना चाहिए या ऐसी कल्पना करनी चाहिए। उसे आकाश मे पहुँचा कर अमृत से प्लावित करके, धीरे-धीरे नीचे उतार कर, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और शान्त बने हुए 'र्हं' को चन्द्रनाडी के मार्ग से भीतर प्रविष्ट करके नाभि-कमल में स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार कथित मार्ग से निरन्तर प्रवेश और निर्गमन कराते-कराते अत्यधिक अभ्यासी पुरुष नाडी-शुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

नाड़ी-शुद्धि का फल

नाडीशुद्धाविति प्राज्ञ सम्पन्नाभ्यासकौशल. ।
स्वेच्छया घटयेद्वायु पुटयोस्तत्क्षणादपि ॥ २६० ॥

विचक्षण पुरुष नाडी-शुद्धि करने के अभ्यास मे कुशलता प्राप्त करके, वह अपनी इच्छा के अनुसार वायु को एक नाडी से दूसरी नाडी मे परिवर्त्तित कर सकता है।

वायु-वहन का काल

द्वे एव घटिके सार्धे एकस्यामवतिष्ठते ।
तामुत्सृज्यापरा नाडीमधितिष्ठति मारुत ॥ २६१ ॥

वायु एक नाडी मे अढाई घडी—एक घटा बहती है, फिर उस नाडी को छोडकर दूसरी नाडी मे बहने लगती है। इस प्रकार उलट-फेर होता रहता है।

षट्शत्याभ्यधिकान्याहु· सहस्राण्येकविंशतिम् ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमम् ॥ २६२ ॥

एक अहो-रात्रि—रात और दिन मे स्वस्थ व्यक्ति की प्राण-वायु—श्वासोच्छ्वास का इक्कीस हजार छह सौ वार आवागमन होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वस्थ व्यक्ति २४ घटे मे २१,६०० श्वासोच्छ्वास लेता है।

तत्त्व-निर्णय का अनधिकारी

मुग्धधीर्यः समीरस्य सक्रान्तिमपि वेत्ति न ।
तत्त्वनिर्णयवार्ता स कथं कर्तुं प्रवर्त्तते ॥ २६३ ॥

जो मूढ-बुद्धि पुरुष वायु के सक्रमण को, अर्थात् एक नाड़ी मे से दूसरी नाडी मे जाने की विधि को भी नही जानता है, वह पूर्वोक्त पुरन्दर आदि तत्वों की बात कैसे कर सकता है ? अर्थात् तत्त्व-निर्णय के लिए वायु-सक्रमण को जानना अत्यावश्यक है। वायु-सक्रमण की विधि के ज्ञान से रहित व्यक्ति तत्त्व का निर्णय नही कर सकता।

परकाय-प्रवेश की विधि

पूरितं पूरकेणाधोमुख हृत्पद्ममुन्मिषेत् ।
ऊर्ध्वश्रोतो भवेत्तच्च कुम्भकेन प्रबोधितम् ॥ २६४ ॥

आक्षिप्य रेचकेनाथ कर्षेद्वायुं हृदम्बुजात् ।
ऊर्ध्वश्रोतःपथग्रन्थि भित्वा ब्रह्मपुरं नयेत् ॥ २६५ ॥

ब्रह्मरन्ध्रान्निष्क्रमय्य योगी कृतकुतूहलः ।
समाधितोऽर्कतूलेपु वेधं कुर्याच्छनै· शनैः ॥ २६६ ॥

मुहुस्तत्र कृताभ्यासो मालती-मुकुलादिषु ।
स्थिरलक्ष्यतया[1] वेधं सदा कुर्यादतन्द्रित· ॥ २६७ ॥

---

१. लक्षतया ।

दृढाभ्यासस्तत कुर्याद् वेध वरुण-वायुना ।
कर्पूरा-गुरु-कुष्ठादि-गन्ध-द्रव्येषु सर्वत ॥ २६८ ॥
एतेषु लब्धलक्षोऽथ[1] वायुसयोजने पटु ।
पक्षि-कायेषु सूक्ष्मेषु विदध्याद्वेधमुद्यत ॥ २६९ ॥
पतङ्ग-भृङ्ग-कायेषु जाताभ्यासो मृगेष्वपि ।
अनन्यमानसो धीर सञ्चरेद्विजितेन्द्रिय ॥ २७० ॥
नराश्व-करिकायेषु प्रविशन्निस्सरन्निति ।
कुर्वीत सक्रम पुस्तोपलरूपेष्वपि क्रमात् ॥ २७१ ॥

पूरक क्रिया के द्वारा जव वायु अन्दर ग्रहण की जाती है, तब हृदय-कमल अधोमुख और सकुचित हो जाता है। वही हृदम-कमल कुम्भक करने से विकसित और ऊर्ध्वमुख हो जाता है। अत पहले कुम्भक करना चाहिए और फिर हृदय-कमल की वायु को रेचक क्रिया द्वारा हिलाकर हृदय-कमल मे से वायु को ऊपर खीचना चाहिए। यह रेचक क्रिया वायु को बाहर निकालने के लिए नही, किन्तु अन्दर ही कुम्भक के वन्धन से वायु को मुक्त करने के लिए की जाती है। उक्त क्रिया करने के पश्चात् उस वायु को ऊपर की ओर प्रेरित करके, वीच की दुर्भेद्य ग्रन्थि को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र मे ले जाना चाहिए। यहाँ योगी को समाधि प्राप्त हो सकती है।

यदि योगी को कौतुक—चमत्कार करने या देखने की इच्छा हो तो उस पवन को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल कर, समाधि के साथ आक की रुई मे धीरे-धीरे वेध करना चाहिए अर्थात् पवन को उस रुई पर छोडना चाहिए।

आक की रुई पर बार-बार अभ्यास करने से, अर्थात् पवन को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र पर और बार-बार रुई पर लाने से जब अभ्यास परिपक्व हो जाए, तब योगी को स्थिरता के साथ मालती आदि के पुष्पो को लक्ष्य बनाकर सावधानी से पवन को उन पर छोड देना चाहिए।

---

१. लक्ष्योऽथ ।

जब यह अभ्यास दृढ हो जाए और वरुण वायु चल रहा हो, तो कपूर, अगर और कुष्ट आदि सुगंधित द्रव्यो मे पवन को वेध करना—छोडना शुरू कर दे।

इन सब मे वेध करने मे जब सफलता प्राप्त हो जाए और साधक जब वायु के सयोजन मे कुशल हो जाए, तब छोटे-छोटे पक्षियो के मृत शरीर मे वेध करने का प्रयत्न करे। पतग और भ्रमर आदि के मृत शरीर मे वेध करने का अभ्यास करने के पश्चात् मृग आदि के विषय मे भी अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। तत्पश्चात् एकाग्रचित्त, धीर एव जितेन्द्रिय होकर योगी को मनुष्य, घोडा, हाथी आदि के मृत शरीरो मे पवन को वेध करना चाहिए। उनमे प्रवेश और निर्गम करते-करते अनुक्रम से पाषाण की पुतली, देवप्रतिमा आदि मे प्रवेश करना चाहिए।

एवं परासुदेहेषु प्रविशेद्वाम-नासया।
जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पाप-शङ्कया ॥ २७२ ॥

इस प्रकार मृत जीवो के शरीर मे बायी नासिका से प्रवेश करना चाहिए। पाप की शंका से जीवित देह मे प्रवेश करने का कथन नही किया गया है।[1]

---

१. योग-साधना की प्रक्रिया से साधक किसी जीवित व्यक्ति के शरीर मे भी प्रवेश कर सकता है। परन्तु, दूसरे के प्राणो का नाश किए विना उसके शरीर मे प्रवेश नही किया जा सकता है, अत परकीय जीवित शरीर मे प्रवेश करने का उपदेश वस्तुत हिंसा का उपदेश है। तथापि ग्रंथ को अपूर्ण न रखने के अभिप्राय से आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका में उसका दिग्दर्शन मात्र कराया है।

ब्रह्मरन्ध्रेण निर्गत्य प्रविश्यापानवर्त्मना।
श्रित्वा नाभ्यम्बुजं यायात् हृदम्भोजं सुषुम्णया ॥ १ ॥

पर-काय प्रवेश का फल

क्रमेणैव परपुर-प्रवेशाभ्यास-शक्तितः ।
विभ्रक्त इव निर्लेप. स्वेच्छया सचरेत्सुधी. ॥२७३॥

इस क्रम से दूसरे के शरीर मे प्रविष्ट होने की शक्ति उत्पन्न होने के कारण बुद्धिमान योगी मुक्त पुरुष की तरह निर्लेप होकर अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है ।

तत्र तत्प्राणसचार निरुध्यान्निजवायुना ।
यावद्देहात्ततो देही गतचेष्टो विनिष्पतेत् ॥ २ ॥

तेन देहे विनिर्मुक्ते प्रादुर्भूतेन्द्रियक्रिय. ।
वर्तेत सर्वकार्येषु स्वदेह इव योगवित् ॥ ३ ॥

दिनार्धं वा दिन चेति क्रीडेत् परपुरे सुधी. ।
अनेन विधिना भूयः प्रविशेदात्मन पुरम् ॥ ४॥

ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर अपान—गुदा के मार्ग से परकीय शरीर मे प्रवेश करना चाहिए । प्रवेश करने के पश्चात् नाभि-कमल का आश्रय लेकर, सुषुम्णा नाडी के द्वारा हृदय-कमल मे जाना चाहिए । वहाँ जाकर अपनी वायु के द्वारा उसके प्राण सचार को रोक देना चाहिए और तब तक रोके रखना चाहिए, जब तक वह निश्चेष्ट होकर गिर न पडे । थोडी देर मे वह आत्मा देह से मुक्त हो जाएगा । तब अपनी ओर से इन्द्रियो की क्रिया प्रकट होने पर योगी उस शरीर से, अपने शरीर की तरह काम लेने लगेगा । आधा दिन या एक दिन तक परकीय शरीर मे क्रीडा करके प्रबुद्ध पुरुष इसी विधि से पुन अपने शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं ।

षष्ठ प्रकाश

परकाय-प्रवेश : अपारमार्थिक

इह चायं पर पुरप्रवेशश्चित्रमात्रकृत् ।
सिध्येन्न वा प्रयासेन कालेन महताऽपिहि ॥१॥

पञ्चम-प्रकाश मे दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने की विधि का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह केवल कुतूहलजनक ही है, उसमे परमार्थ का अंशमात्र भी नही है। इसके अतिरिक्त बहुत लम्बे समय तक महान् प्रयास करना पडता है और इतना कठिन अभ्यास करने पर भी कभी उसकी सिद्धि हो जाती है और कभी नही भी होती। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रक्रिया केवल चमत्कारिक है। इससे साध्य की सिद्धि नही होती।

जित्वाऽपि पवन नानाकरणैः क्लेश-कारणैः ।
नाड़ीप्रचारमायत्तं विधायापि वपुर्गतम् ॥२॥
अश्रद्धेय परपुरे साधयित्वाऽपि सक्रमम् ।
विज्ञानैकप्रसक्तस्य मोक्षमार्गो न सिध्यति ॥३॥

कष्टप्रद विभिन्न आसनो की साधना से पवन को जीतकर भी, शरीर के अन्तर्गत नाडी के सचार को अपने अधीन करके भी और जिस पर दूसरे श्रद्धा भी नही कर सकते, उस परकाय-प्रवेश मे सिद्धि प्राप्त करके भी, जो पुरुष इस विज्ञान मे आसक्त रहता है, वह अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त नही कर सकता है।

प्राणायाम की अनावश्यकता

तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्य प्राणायामै कदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्त-विप्लव ॥४॥
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रम ।
चित्त-सक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह-कारणम् ॥५॥

प्राणायाम के द्वारा पीडित मन स्वस्थ नही हो सकता है । क्योकि, प्राण का निग्रह करने से शरीर मे पीडा उत्पन्न होती है और शरीर मे पीडा होने से मन मे चपलता उत्पन्न होती है ।

पूरक, कुभक और रेचक करने मे परिश्रम करना पडता है । परिश्रम करने से मन मे सक्लेश उत्पन्न होता है और मन की सक्लेशमय स्थिति मोक्ष मे बाधक है ।

टिप्पण—प्राणायाम की प्रक्रिया से मन कुछ देर के लिए कार्य करना बन्द कर देता है, परन्तु इससे स्थिर नही हो पाता । अत प्राणायाम का बन्धन शिथिल होते ही वह तेजी से दौडता है और साधना से बहुत दूर निकल जाता है । अत मन को स्थिर करने के लिए उसका प्राणायाम के द्वारा निरोध न करके उसे किसी पदार्थ एव द्रव्य के चिन्तन मे लगाकर स्थिर करना चाहिए ।

प्रत्याहार

इन्द्रियै सममाकृष्य विषयेभ्य प्रशान्तधी ।
धर्मध्यानकृते तस्मान्मन कुर्वीत निश्चलम् ॥६॥

प्रशान्त बुद्धि वाला साधक इन्द्रियो के साथ मन को भी शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पाँचो विषयो से हटाकर, उसे धर्मध्यान के चिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करे ।

टिप्पण—अभिप्राय यह है कि जब तक इन्द्रियाँ और मन विषयो से विरत नही हो जाते, तब तक मन मे शान्ति का प्रादुर्भाव नही होता ।

अत मन को प्रशान्त बनाने के लिए उसे विषयो की ओर से हटाना आवश्यक है। प्रशान्त मन ही निश्चल हो सकता है और धर्मध्यान के लिए मन का निश्चल होना अनिवार्य है। अत मन को बाह्य एव अभ्यन्तर इन्द्रियो से पृथक् कर लेना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है।

धारणा

नाभी-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः।
मुख कर्णौ शिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्त्तयन् ॥७॥

नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भृकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, यह ध्यान करने के लिए धारणा के स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त को स्थिर करना ही 'धारणा' है।

टिप्पण—ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अत ध्यान—आत्म-चिन्तन करते समय यह आवश्यक है कि मन को एक पदार्थ के चिन्तन मे स्थिर किया जाए। वस्तुत ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने—स्थिर रखने की साधना है।

धारणा का फल

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसवित्तेर्वहवः प्रत्ययाः किल ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर लम्बे समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वसवेदन के अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—इन्द्रियो को और मन को विपयो से खीच लेने के पश्चात् धारणा होती है। विपयो से विमुख वने हुए मन को नासिकाग्र आदि स्थानो पर स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से कुछ ऐसा

सप्तम प्रकाश

ध्यान

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।
सिध्यन्ति न हि सामग्री विना कार्याणि कर्हिचित् ॥ १ ।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को तीन बाते जान लेनी चाहिए—१. ध्याता—ध्यान करने वाले मे कैसी योग्यता होनी चाहिए ? २. ध्येय—जिसका ध्यान करना है, वह वस्तु कैसी होनी चाहिए ? ३. ध्यान के कारणो की समग्रता, अर्थात् सामग्री कैसी हो ? क्योकि सामग्री के विना कोई भी कार्य सिद्ध नही होता है ।

ध्याता की योग्यता

अमुञ्चन प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम् ।
परमप्यात्मवत् पश्यत् स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥ २ ॥
उपतापमसंप्राप्त शीत - वातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि योगामृत-रसायनम् ॥ ३ ॥
रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्निर्लेपः सर्वकर्मसु ॥ ४ ॥
विरत. कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निस्पृहः ।
सवेग ह्रदनिर्मग्न सर्वत्र समतां श्रयन् ॥ ५ ॥
नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा तुल्य-कल्याण-कामना ।
अमात्र करुणा-पात्रं भव-सौख्य-परांमुख. ॥ ६ ॥

सुमेरुरिव निष्कम्प शशीवानन्द-दायक ।
समीर इव नि सग सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥ ७ ॥

जो प्राणो के नाश होने का अवसर आ जाने पर भी सयम-निष्ठा का परित्याग नही करता है; अन्य प्राणियो को आत्मवत् देखता है, अपने ध्येय—लक्ष्य से च्युत नही होता है, जो सर्दी, गर्मी और वायु से खिन्न नही होता, जो अजर-अमर बनाने वाले योग रूपी अमृत-रसायन को पान करने का इच्छुक है, रागादि दोषो से आक्रान्त नही है, क्रोध आदि कषायो से दूषित नही है मन को आत्माराम मे रमण कराने वाला है, समस्त कर्मों मे अलिप्त रहने वाला है, काम-भोगो से पूर्णतया विरक्त है, अपने शरीर पर भी ममत्व-भाव नही रखता है, सवेग के सरोवर मे पूरी तरह मग्न रहने वाला है, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि मे समभाव रखने वाला है, समान रूप से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना करने वाला है, प्राणीमात्र पर करुणा-भाव रखने वाला है, सासारिक सुखो से विमुख है, परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल-अटल रहता है, चन्द्रमा की भांति आनन्ददायक और वायु के समान नि सग—अप्रतिबन्ध विहारी है, वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध-साधक प्रशसनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है ।

ध्येय का स्वरूप

पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बन बुधै ॥ ८ ॥

ज्ञानी पुरुषो ने ध्यान के आलम्बन रूप—ध्येय को चार प्रकार का माना है—१ पिण्डस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ और ४ रूपातीत ।

पिण्डस्थ-ध्येय की धारणाएँ

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्त्वभू पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणा ॥ ९ ॥

पिण्डस्थ-ध्येय मे १ पार्थिवी, २ आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी, और ५ तत्वभू—यह पाँच धारणाएँ होती हैं।

१. पार्थिवी-धारणा

तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत् क्षीराब्धि तत्र चाम्बुजम्।
सहस्रपत्रं स्वर्णाभ जम्बूद्वीप-सम स्मरेत् ॥ १० ॥
तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिङ्गप्रभाञ्चिताम्।
स्वर्णाचल-प्रमाणा च कर्णिका परिचिन्तयेत् ॥ ११ ॥
श्वेत - सिंहासनासीनं कर्म - निर्मूलनोद्यतम्।
आत्मान चिन्तयेत्तत्र पार्थिवी धारणेत्यसौ ॥ १२ ॥

हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसका नाम तिर्यक्-लोक अथवा मध्य-लोक है। मध्य-लोक एक रज्जु प्रमाण विस्तृत है। इस मध्य-लोक के वरावर लम्वे-चौडे क्षीर-सागर का चिन्तन करना चाहिए। क्षीर-सागर मे जम्बू-द्वीप के वरावर एक लाख योजन विस्तार वाले और एक हजार पखुडियो वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्य मे केसराएँ है और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त और मेरु पर्वत के वरावर एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर आसीन होकर कर्मो का समूल उन्मूलन करने मे उद्यत अपने आपका चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन की इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी-धारणा' कहते हैं।

२. आग्नेयी-धारणा

विचिन्तयेत्तथा नाभौ कमलं षोडशच्छदम्।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्र स्वरावलिम् ॥ १३ ॥
रेफ-बिन्दु-कलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम्।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्ती शनैर्धूमशिखा स्मरेत् ॥ १४ ॥

स्फुलिंग-सन्तति ध्यायेज्ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वाला-कलापेन दहेत्पद्मं हृदि स्थितम् ॥ १५ ॥

नाभि के भीतर सोलह पखुडी वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की प्रत्येक कर्णिका पर महामत्र 'अर्हं' स्थापित करना चाहिए और उसके प्रत्येक पत्ते पर अनुक्रम से 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अ'—यह सोलह स्वर स्थापित करने चाहिए।

तदष्ट - कर्म - निर्माणमष्ट - पत्रमधो - मुखम् ।
दहत्येव महामत्र - ध्यानोत्थ प्रबलानल ॥ १६ ॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत्त्र्यस्र वह्निपुर ज्वलत् ।
लाञ्छित स्वस्तिकेनान्ते वह्निबीजसमन्वितम् ॥ १७ ॥
देह पद्म च मत्रार्चिरन्तर्वह्निपुर बहि ।
कृत्वाऽऽशु भस्मसाच्छाम्येत् स्यादाग्नेयीति धारणा ॥१८॥

ऐसा करने के पश्चात् हृदय मे आठ पखुडियो वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी प्रत्येक पखुडी पर अनुक्रम से १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७. गोत्र, और ८ अन्तराय, यह आठ कर्म स्थापित करने चाहिए। यह कमल अधोमुख होना चाहिए।

इसके पश्चात् रेफ, बिन्दु और कला से युक्त, महामत्र के 'हं' अक्षर के रेफ मे से धीमी-धीमी निकलने वाली धूम की शिखा का चिन्तन करना चाहिए। फिर उसमे से अग्नि की चिनगारियो के निकलने का चिन्तन करना चाहिए और फिर निकलती हुई अनेक ज्वालाओ का चिन्तन करना चाहिए। इन ज्वालाओ से हृदय मे स्थित पूर्वोक्त आठ दल वाले कमल को दग्ध करना चाहिए और सोचना चाहिए कि महामत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न प्रबल अग्नि अवश्य ही कर्म से युक्त कमल को भस्म कर देती है।

तत्पश्चात् शरीर के बाहर तीन कोण वाले स्वस्तिक से युक्त और अग्निबीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर शरीर के अन्दर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से तथा बाहर की वह्निपुर की ज्वाला से देह और आठ कर्मों से बने कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। इस तरह के चिन्तन को 'आग्नेयी-धारणा' कहते हैं।

३. वायवी-धारणा

ततस्त्रिभुवनाभोग पूरयन्त समीरणम्।
चालयन्तं गिरीनब्धीत् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ॥ १६ ॥
तच्च भस्मरजस्तेन शीघ्रमुद्धूय वायुनां।
दृढाभ्यासः प्रक्षान्तिं तमानयेदिति मारुती ॥ २० ॥

आग्नेयी धारणा के पश्चात् समग्र तीन लोक को पूर देने वाले. पर्वतो को चलायमान करने वाले और समुद्र को क्षुब्ध करने वाले प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना चाहिए।

पवन का चिन्तन करने के पश्चात् आग्नेयी धारणा मे देह और आठ कर्मों को जलाने से जो राख बनी थी, उसे उडा देने का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् ऐसा विचार करना चाहिए कि प्रचण्ड पवन चल रहा है और देह तथा कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार का दृढ अभ्यास करके उस पवन को शान्त कर देना चाहिए। चिन्तन एव ध्यान की इस साधना को 'वायवी-धारणा' कहते हैं।

४. वारुणी-धारणा

स्मरेद्वर्षत्सुधासारैर्घनमालाकुलं नभः।
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डल वारुणांकितम् ॥ २१ ॥
नभस्तल सुधाम्भोभिः प्लावयेत्तत्पुरं तत्त ।
तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी ॥ २२ ॥

वारुणी धारणा मे अमृत-सी वर्षा बरसाने वाले और मेघ की मालाओ से व्याप्त आकाश का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् अर्ध चन्द्राकार कला-विन्दु से युक्त वरुण-वीज 'वँ' का चिन्तन करना चाहिए। फिर वरुण-बीज 'वँ' से उत्पन्न हुए अमृत के समान जल से आकाशतल भर गया है और पहले शरीर और कर्मों की जो भस्म उडा दी थी, वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। इसके वाद इस धारणा को समाप्त कर देना चाहिए। यह 'वारुणी-धारणा' हुई।

५ तत्त्वभू-धारणा

सप्तधातु-विनाभूत पूर्णेन्दु-विशदद्युतिम्।
सर्वज्ञ-कल्पमात्मान शुद्धबुद्धि॰ स्मरेत्तत॰॥ २३॥

तत सिहासनारूढ सर्वातिशयभासुरम्।
विध्वस्ताशेषकर्माण कल्याणमहिमान्वितम्॥ २४॥

स्वाङ्गगर्भे निराकार[1] सस्मरेदिति तत्त्वभू।
साभ्यास इति पिण्डस्थे योगी शिवसुख भजेत्॥ २५॥

चार धारणाएँ करने के वाद शुद्ध वुद्धि वाले योगी को सात धातुओ—रस, रक्त आदि से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल एव उज्ज्वल कान्ति वाले और सर्वज्ञ के सदृश शुद्ध-विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

तदनन्तर सिहासन पर आरूढ, सर्व अतिशयो से सुशोभित, समस्त कर्मों का विध्वस कर देने वाले, उत्तम महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर मे स्थित निराकार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करना चाहिए।

यह तत्त्वभू नामक धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

---

१ नराकार।

पिण्डस्थ-ध्यान का माहात्म्य

अश्रान्तमिति पिण्डस्थे कृताभ्यासस्य योगिनः ।
प्रभवन्ति न दुर्विद्या मन्त्र-मण्डल-शक्तयः ॥ २६ ॥

शाकिन्यः क्षुद्रयोगिन्य पिशाचाः पिशिताशना ।
त्रस्यन्ति तत्क्षणादेव तस्य तेजोऽसहिष्णवः ॥ २७ ॥

दुष्टाः करटिन सिंहाः शरभाः पन्नगा अपि ।
जिघासवोऽपि तिष्ठन्ति स्तंभिता इव दूरत ॥ २८ ॥

पिण्डस्थ ध्यान का निरन्तर अभ्यास करने वाले योगी का दुष्ट विद्याएँ—उच्चाटन, मारण, स्तभन, विद्वेषण मत्र, मडल और शक्ति आदि कुछ भी बिगाड—नुकसान नही कर सकती हैं। शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मास-भक्षी दुष्ट व्यक्ति उस योगी के तेज को सहन नही कर सकते। वे तुरन्त ही त्रास को प्राप्त होते हैं। दुष्ट हाथी, सिह, शरभ और सर्प आदि हिंसक जन्तु घात करने की इच्छा रखते हुए भी दूर ही खडे रहते हैं। मानो वे स्तभित हो गये हो।

समस्त प्राणी जगत के लिए तीनो काल और त्रि-लोक में सम्यक्त्व के समान कोई श्रेय नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अश्रेय नहीं है।

—आचार्य समन्तभद्र

कषायो के उपशान्त होने पर ही आत्मा में मोक्ष-मार्ग को जानने की अभिलाषा—भावना, इच्छा जागृत होनी है।

—श्रीमद् रायचन्द्र

अकुशल—अप्रशस्त मनोवृत्तियो का निरोध करके कुशल—प्रशस्त, श्रेयस्कर और कल्याणकारी वृत्तियों का विकास करना ही समाधि-मार्ग है।

—तथागत बुद्ध

मोह और क्षोभ के अभाव को समभाव कहते हैं। और समभाव की साधना को जीवन मे साकार रूप देना ही योग-साधना या मोक्ष-मार्ग है।

—मुनि समदर्शी

अष्टम प्रकाश

पदस्थ-ध्यान

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यान सिद्धान्त-पारगं. ॥ १ ॥

पवित्र मंत्राक्षर आदि पदो का अवलबन करके जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुष 'पदस्थ-ध्यान' कहते है ।

तत्र षोडश-पत्राढ्ये नाभिकन्द-गतेऽम्बुजे ।
स्वरमाला यथापत्र भ्रमन्ती परिचिन्तयेत् ॥ २ ॥

चतुर्विंशतिपत्रञ्च हृदि पद्म सकर्णिकम् ।
वर्णान् यथाक्रमं तत्र चिन्तयेत् पञ्चविंशतिम् ॥ ३ ॥

वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत्तत. स्मरेत् ।
संस्मरन् मातृकामेव स्यात् श्रुतज्ञानपारग ॥ ४ ॥

साधक को नाभिकन्द पर स्थित सोलह पखुडियो वाले प्रथम कमल के प्रत्येक पत्र पर सोलह स्वरो 'अ, आ, इ, ई', आदि की भ्रमण करती हुई पक्ति का चिन्तन करना चाहिए । और हृदय मे स्थित चौबीस पखुडियो वाले कर्णिका सहित कमल मे अनुक्रम से 'क, ख, ग, घ, ड, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म'—इन व्यजनो का चिन्तन करना चाहिए । इनमे से चौबीस व्यजनो को चौबीस पखुड़ियो मे और 'म' को कर्णिका मे रखकर चिन्तन करना चाहिए ।

तीसरे आठ पखुडी वाले कमल की मुख मे कल्पना करनी चाहिए। उसमे शेष आठ व्यजनो—'य, र, ल, व, श, ष, स, ह'—का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार इस मातृका का चिन्तन करने वाला योगी श्रुतज्ञान का पारगामी होता है।

मातृका-ध्यान का फल

ध्यायतोऽनादिससिद्धान् वर्णनेतान् यथाविधि।
नष्टादि-विषयं ज्ञान ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात् ॥ ५ ॥

अनादिकाल से स्वत सिद्ध इन वर्णो का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले ध्याता को थोडे ही समय मे नष्ट होने वाले पदार्थो—'गया, आया, हुआ, हो रहा होने वाला और जीवन एव मरण' आदि, से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

प्रकारान्तर से पदस्थ ध्यान

अथवा नाभिकन्दाध पद्ममष्टदल स्मरेत्।
स्वरालिकेसर रम्य वर्गाष्टक-युतैर्दलै ॥ ६ ॥
दलसन्धिषु सर्वेषु सिद्धस्तुति-विराजिते।
दलाग्रेषु समग्रेषु मायाप्रणव-पावितम् ॥ ७ ॥
तस्यान्तरन्तिम वर्णमाद्य-वर्ण-पुरस्कृतम्।
रेफाक्रान्त कलाबिन्दुरम्य प्रालेयनिर्मलम् ॥ ८ ॥
अर्हमित्यक्षर प्राणप्रान्त-सस्पर्शि पावनम्।
ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्ममतिसूक्ष्म तत परम् ॥ ९ ॥
ग्रन्थीन् विदारयन्नाभिकन्द-हृद्घण्टिकादिकान्।
सुसूक्ष्मध्वनिना मध्यमार्गयायि स्मरेत्तत ॥ १० ॥
अथ तस्यान्तरात्मान प्लाव्यमान विचिन्तयेत्।
बिन्दु - तप्तकलानिर्यत्क्षीर - गौरामृतोर्मिभि ॥ ११ ॥

तत सुधा-सरः सूतषोडशाब्जदलोदरे ।
आत्मानं न्यस्य पत्रेषु विद्यादेवीश्च षोडश ॥ १२ ॥
स्फुट-स्फटिक-भृङ्गार-क्षरत्क्षीरसितामृतैः ।
आभिराप्लाव्यमानं स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत् ॥ १३ ॥
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम् ।
अर्हन्त मूर्धनि ध्यायेत् शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥ १४ ॥
तद्ध्यानावेशत. सोऽहं सोऽहमित्यालपन् मुहुः ।
नि शङ्कमेकतां विद्यादात्मनः परमात्मना ॥ १५ ॥
ततो नीरागमद्वेषममोहं सर्वदर्शिनम् ।
सुरार्च्यं समवसृतौ कुर्वाणं धर्मदेशनाम् ॥ १६ ॥
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थमभिन्नं परमात्मना ।
लभते परमात्म-तत्त्वं ध्यानी निर्धूतकल्मषः ॥ १७ ॥

पदस्थ ध्यान की दूसरी विधि इस प्रकार है—

नाभिकन्द के नीचे आठ पाँखुडी वाले एक कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी अ, आ, आदि सोलह स्वरो से युक्त केसराओ की कल्पना करनी चाहिए।

कमल की आठ पखुडियो मे कमश आठ वर्गों की स्थापना करनी चाहिए, जो इस प्रकार है —

१. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ।
२. क, ख, ग, घ, ङ ।
३ च, छ, ज, झ, ञ ।
४ ट, ठ, ड, ढ, ण ।
५. त, थ, द, ध, न ।
६. प, फ, ब, भ, म ।
७. य, र, ल, व ।
८. श, ष, स, ह ।

आठों पंखुड़ियों की सन्धियों में सिद्ध-स्तुति 'ह्रीं' को स्थापित करना चाहिए तथा पंखुड़ियों के अग्रभाग में 'ॐ ह्रीं' स्थापित करना चाहिए।

उस कमल के मध्य में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' को बर्फ के समान उज्ज्वल रेफ, कला और बिन्दु ' ँ ' से युक्त, स्थापित करना चाहिए। अर्थात् 'अर्हं' की स्थापना करनी चाहिए। यह 'अर्हं' मन में स्मरण करने मात्र से आत्मा को पवित्र करने वाला है। 'अर्हं' शब्द का पहले मन में ह्रस्व नाद से उच्चारण करना चाहिए। फिर दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और फिर अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् वह नाद नाभि, हृदय, और कंठ की घटिकादि की गांठों को विदारण करता हुआ उन सब के बीच में होकर आगे चला जा रहा है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

तदनन्तर उस नाद के बिन्दु से तपी हुई कला में से निकलने वाले दूध के समान उज्ज्वल अमृत की तरंगों से अन्तरात्मा प्लावित—सराबोर हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

फिर अमृत के एक सरोवर की कल्पना करनी चाहिए। उस सरोवर में उत्पन्न हुए सोलह पांखुड़ी वाले कमल के अन्दर अपने आपको स्थापित करके, उन पंखुड़ियों में क्रम से सोलह विद्यादेवियों का चिन्तन करना चाहिए। फिर अपने आप को दीर्घकाल तक देदीप्यमान स्फटिक रत्न की झारी में से झरते हुए दूध के सदृश उज्ज्वल अमृत से सराबोर होते हुए चिन्तन करना चाहिए।

तत्पश्चात् इस मंत्रराज के अभिधेय—वाच्य और शुद्ध स्फटिक रत्न के समान निर्मल अर्हन्त परमेष्ठी का मस्तक में ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान इतना प्रबल और प्रगाढ़ होना चाहिए कि इसके चिन्तन के कारण बार-बार 'सोऽहं, सोऽहं' अर्थात् इस प्रकार की अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता निःशंक भाव से आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करने लगे।

इसके पश्चात् वह वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, देवो द्वारा पूज्य, समवसरण मे स्थित होकर धर्मदेशना करते हुए तथा परमात्मा से अभिन्न आत्मा का ध्यान करता है। इस तरह का ध्यान करने वाला ध्याता समस्त कालुष्य से रहित होकर परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

यद्वा मन्त्राधिपं धीमानूर्ध्वाधोरेफ-सयुतम्।
कलाबिन्दु - समाक्रान्तमनाहतयुत तथा ॥ १८ ॥
कनकाम्भोज-गर्भस्थं सान्द्रचन्द्राशुनिर्मलम्।
गगने सचरन्तं च व्याप्नुवन्त दिश स्मरेत् ॥ १९ ॥
ततो विशन्तं वक्त्राब्जे भ्रमन्तं भ्रू-लतान्तरे।
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु तिष्ठन्तं भालमण्डले ॥ २० ॥
निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण स्रवन्त च सुधारसम्।
स्पर्धमानं शशाकेन स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे ॥ २१ ॥
सञ्चरन्त नभोभागे योजयन्त शिवश्रिया।
सर्वावयव-सम्पूर्ण कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

प्रबुद्ध-योगी को ऊपर और नीचे 'रेफ' से युक्त, कला एव बिन्दु से आक्रान्त, अनाहत सहित, स्वर्ण-कमल के गर्भ मे स्थित, चन्द्रमा की सघन किरणो के समान निर्मल, आकाश मे सचरण करते हुए और समस्त दिशाओ को व्याप्त करते हुए मत्रराज 'अर्हं' का चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर मुखकमल मे प्रवेश करते हुए भ्रू-लता मे भ्रमण करते हुए, नेत्र-पत्रो मे स्फुरायमान होते हुए, भाल-मडल मे स्थित होते हुए, तालु के रध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत-रस को बरसाते हुए, उज्ज्वलता मे चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल मे चमकते हुए, नभोभाग मे सचार करते हुए और मोक्ष-लक्ष्मी के साथ मिलाप कराते हुए, सर्व अवयवो से परिपूर्ण मत्राधिराज का कुभक के द्वारा चिन्तन करना चाहिए।

ध्यान का फल

महातत्त्वमिद योगी यदेव ध्यायति स्थिर ।
तदैवानन्द-सम्पद् भूर्मुक्ति-श्रीरुपतिष्ठते ॥ २३ ॥

चित्त को निश्चल करके योगी जब इस महातत्त्व 'अर्हं' का ध्यान करता है, उसी समय आनन्द रूप सपत्ति की भूमि के समान मोक्ष-लक्ष्मी उसके समीप आकर खडी हो जाती है। इस ध्यान-साधना के द्वारा योगी समस्त कर्म-बन्धनो को क्षय करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान का अन्य प्रकार

रेफ-विन्दु-कलाहीन शुभ्र ध्यायेत्ततोऽक्षरम् ।
ततोऽनक्षरता प्राप्तमनुच्चार्य विचिन्तयेत् ॥ २४ ॥

पहले रेफ, विन्दु और कला से रहित उज्ज्वल 'ह' वर्ण का ध्यान करना चाहिए। फिर उसी 'ह' के ऐसे स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो अनक्षरता को प्राप्त हो गया है और जिसका उच्चारण नही किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्यान-साधना मे साधक को चिन्तन करते समय शब्दो का उच्चारण नही करना चाहिए।

निशाकरकलाकार सूक्ष्म भास्करभास्वरम् ।
अनाहताभिध देव विस्फुरन्त विचिन्तयेत् ॥ २५ ॥

तदेव च क्रमात्सूक्ष्म ध्यायेद्वालाग्र-सन्निभम् ।
क्षणमव्यक्तमीक्षेत जगज्ज्योतिर्मय तत ॥ २६ ॥

पहले चन्द्रमा की कला के आकार वाले, सूक्ष्म एव सूर्य के समान देदीप्यमान अनाहत देव को अनुच्चार्य मान और अनक्षर रूपता को प्राप्त 'ह' वर्ण को स्फुरायमान होते हुए चिन्तन करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे उसी अनाहत 'ह' को बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्म रूप मे चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् थोडी देर तक जगत् को अव्यक्त—निराकार और ज्योतिर्मय स्वरूप मे देखना चाहिए।

प्रच्याव्य-मानसं-लक्ष्यादलक्ष्ये दधत. स्थिरम् ।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षमन्तरुन्मीलति क्रमात् ॥ २७ ॥
इति लक्ष्य समालम्ब्य लक्ष्याभावः प्रकाशितः ।
निषणमनस्तत्र सिध्यत्यभिमत मुनेः ॥ २८ ॥

समग्र जगत् को अव्यक्त एव ज्योतिर्मय देखने के पश्चात् मन को धीरे-धीरे लक्ष्य से हटाकर अलक्ष्य मे स्थिर करने पर, अन्दर एक ऐसी ज्योति उत्पन्न होती है, जो अक्षय होती है और इन्द्रियो से अगोचर होती है ।

इस प्रकार यहाँ पहले लक्ष्य का आलम्बन करके अनुक्रम से लक्ष्य का अभाव बताया गया है, अर्थात् लक्ष्य का अवलम्बन करके ध्यान को आरम्भ करना चाहिए और फिर धीरे-धीरे लक्ष्य का लोप कर देना चाहिए, यहाँ ऐसा विधान किया गया है । जिस मुनि या योगी का मन अलक्ष्य मे स्थिर हो जाता है, उसे मनोवाछित फल की प्राप्ति होती है ।

प्रणव का ध्यान

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम् ।
स्वर-व्यञ्जन-संवीत वाचक परमेष्ठिन ॥ २९ ॥
मूर्ध-संस्थित-शीतांशु-कलामृतरस-प्लुतम् ।
कुम्भकेन महामन्त्र प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥ ३० ॥

हृदय-कमल मे स्थित शब्द-ब्रह्म—वचन-विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यजन से युक्त, पच-परमेष्ठी के वाचक, मूर्धा मे स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से सराबोर महामत्र प्रणव — 'ॐ' का — कुम्भक करके, ध्यान करना चाहिए ।

प्रणव-ध्यान के भेद

पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्ण विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ ३१ ॥

स्तभन कार्य मे पीत वर्ण के, वशीकरण मे लाल वर्ण के, क्षोभण कार्य मे मू गे के वर्ण वाले, विद्वेषण कार्य मे काले वर्ण के और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत वर्ण के ओकार का ध्यान करना चाहिए।

इस विधान से यह भी सूचित कर दिया गया है कि 'ओकार' का ध्यान आश्चर्यजनक एव लौकिक कार्यों के लिए भी उपयोगी होता है और कर्मक्षय मे भी उपयोगी होता है।

पंच-परमेष्ठि-मंत्र का ध्यान

तथा पुण्यतम मन्त्र जगत्त्रितय-पावनम्।
योगी पञ्चपरमेष्ठि-नमस्कार विचिन्तयेत्॥ ३२॥

योगी को पचपरमेष्ठी नमस्कार मत्र का विशेष रूप से ध्यान करना चाहिए। यह मत्र अत्यत पवित्र है और तीन जगत् को पवित्र करने वाला है।

अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकाया कृतस्थितिम्।
आद्य सप्ताक्षर मन्त्र पवित्र चिन्तयेत्तत॥ ३३॥

सिद्धादिक-चतुष्क च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्।
चूलापाद-चतुष्क च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्॥ ३४॥

आठ पाँखुडी वाले सफेद कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की कर्णिका मे स्थित सात अक्षर वाले 'नमो अरिहताण' इस पवित्र मत्र का चिन्तन करना चाहिए। फिर सिद्धादिक चार मत्रो का दिशाओ के पत्रो मे अनुक्रम से, अर्थात् पूर्व दिशा मे 'नमो सिद्धाण' का, दक्षिण दिशा मे 'नमो आयरियाण' का, पश्चिम दिशा मे 'नमो उवज्झायाण' का और उत्तर दिशा मे 'नमो लोए सव्वसाहूण' का चिन्तन करना चाहिए। विदिशा वाली चार पखुडियो मे अनुक्रम से चार चूलिकाओ

का, अर्थात् आग्नेय कोण मे 'एसो पचनमुक्कारो' का, नैऋत्य कोण मे 'सव्वपावप्पणासणो' का, वायव्य कोण मे 'मगलाण च सव्वेसिं' का और ईशान कोण मे 'पढम हवइ मगल' का ध्यान करना चाहिए।

परमेष्ठि-मत्र के चिन्तन का फल

त्रिशुद्धया चिन्तयंस्तस्य शतमष्टोत्तर मुनिः।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव चतुर्थ-तपसः फलम् ॥ ३५ ॥

मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक एक-सौ आठ बार इस नमस्कार-महामत्र का चिन्तन करने वाला मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

एवमेव महामन्त्र समाराध्येह योगिन।
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमा श्रियम् ॥ ३६ ॥

इस महामन्त्र की सम्यक् प्रकार से आराधना करके योगी जन आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त करके त्रि-जगत् के पूजनीय बन जाते है।

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च।
अमु मन्त्र समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवंगता ॥ ३७ ॥

हजारो पाप करके और सैकड़ो प्राणियो का हनन करके तिर्यञ्च भी इस मत्र की आराधना करके स्वर्ग को प्राप्त करने मे समर्थ हुए हैं।

पंचपरमेष्ठि-विद्या

गुरु-पंचकनामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा।
जपन् शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥ ३८ ॥

पच-परमेष्ठी के नाम से उत्पन्न होने वाली सोलह अक्षर की विद्या इस प्रकार है—'अरिहत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू।' इस विद्या का दो सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल मिलता है।

शतानि त्रीणि षट्वर्णं चत्वारि चतुरक्षरम् ।
पञ्चावर्णं जपन् योगी चतुर्थफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

छह अक्षर वाली विद्या का तीन सौ वार, चार अक्षर वाली विद्या का चार सौ वार और 'अ' वर्ण का पांच सौ वार जाप करने वाले योगी को एक उपवास का फल मिलता है ।[1]

प्रवृत्तिहेतुरेवैतदमीषा कथित फलम् ।
फल स्वर्गापवर्गौ तु वदन्ति परमार्थत ॥ ४० ॥

इन विद्याओ के जाप का जो एक उपवास फल बतलाया है, वह इसलिए कि बाल जीव भी इसके जाप मे प्रवृत्ति करे । इस जाप का असली फल तो ज्ञानियो ने स्वर्ग और मोक्ष ही बताया है ।

पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सतत भवक्लेश निरस्यति ॥४१॥

विद्याप्रवाद नामक पूर्वश्रुत से उद्धृत की हुई, पाँच वर्ण वाली पचतत्त्वा विद्या का अगर सतत अभ्यास किया जाए तो वह समस्त भव-क्लेश को दूर कर देती है । वह विद्या इस प्रकार है—'ह्लाँ ह्लीं ह्लूं ह्लौं ह्ल असिआउसा नम' ।

मङ्गलोत्तम - शरण - पदान्यव्यग्र - मानस. ।
चतु समाश्रयाण्येव स्मरन् मोक्ष प्रपद्यते ॥ ४२ ॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म के साथ मगल, उत्तम और शरण पदो को जोडकर एकाग्र चित्त से स्मरण करने वाला ध्याता मोक्ष को प्राप्त करता है ।

१ मगल—चत्तारि मगल—अरिहता मगल, सिद्धा मगल ।
साहू मगल, केवलि-पण्णत्तो-धम्मो मगल ॥

---

१ छह अक्षर वाली विद्या—अरिहन्त-सिद्ध ।
चार अक्षर वाली विद्या—अरिहन्त ।

२. उत्तम—चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥

३. शरण—चत्तारि सरण पवज्जामि—अरिहंते सरण पवज्जामि ।
सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि ।
केवलि - पण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि ॥

पंचदशाक्षरी विद्या

मुक्तिसौख्यप्रदां ध्यायेद्विद्यां पञ्चदशाक्षराम् ।
सर्वज्ञाभ स्मरेन्मंत्रं सर्वज्ञान - प्रकाशकम् ॥ ४३ ॥

मुक्ति का सुख प्रदान करने वाली पन्द्रह अक्षरो की विद्या का ध्यान करना चाहिए तथा सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करने वाले 'सर्वज्ञाभ' मत्र का स्मरण करना चाहिए । वह इस प्रकार है—

१. पंचदशाक्षरी विद्या—ओ अरिहन्त-सिद्ध-सयोगिकेवली स्वाहा ।

२ सर्वज्ञाभ मंत्र—ओ श्री ह्री अर्हं नम ।

सर्वज्ञाभ-मन्त्र की महिमा

वक्तु न कश्चिदऽप्यस्य प्रभावं सर्वतः क्षमः ।
सम भगवता साम्यं सर्वज्ञेन बिभर्त्ति यः ॥ ४४ ॥

यह सर्वज्ञाभ मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् की सदृशता को धारण करता है, इसके प्रभाव को पूरी तरह प्रकट करने मे कोई भी समर्थ नही है ।

सप्त-वर्ण मन्त्र

यदीच्छेद् भगवदावाग्नेः समुच्छेदं क्षणादपि ।
स्मरेत्तदाऽऽदि-मन्त्रस्य वर्णसप्तकमादिमम् ॥ ४५ ॥

जो ससार रूप दावानल को क्षण भर मे शान्त करना चाहता है, उसे आदिमन्त्र के प्रारम्भ के सात अक्षरो का, अर्थात् 'नमो अरिहताण' का स्मरण करना चाहिए ।

अन्य मन्त्र

पञ्चवर्ण स्मरेन्मन्त्र कर्म-निर्घातक तथा।
वर्णमालाञ्चित मन्त्र ध्यायेत् सर्वाभयप्रदम् ॥ ४६ ॥

आठ कर्मो का नाश करने के लिए पचवर्ण—पांच अक्षर वाले मन्त्र का और सव प्रकार का अभय प्राप्त करने के लिए वर्णों की श्रेणी वाले मन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

१ पचवर्ण मन्त्र—नमो सिद्धाण।

२ वर्णमालाञ्चित मन्त्र—ओ नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने विस्फुदुरु-शुक्लध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्म-बीजाय प्राप्तानन्त-चतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मगल-वरदाय अष्टादश-दोषरहिताय स्वाहा।

ह्रीकार विद्या का ध्यान

ध्यायेत्सिताब्ज वक्त्रान्तरष्ट - वर्गी दलाष्टके।
ओ नमो अरिहताणमिति वर्णानपि क्रमात् ॥ ४७ ॥
केसराली स्वरमयी सुधाबिन्दु - विभूषिताम्।
कर्णिका कर्णिकाया च चन्द्रबिम्बात्समापतत् ॥ ४८ ॥
सचरमाण वक्त्रेण प्रभामण्डलमध्यगम्।
सुधादीधितिसकाश मायाबीजं विचिन्तयेत् ॥ ४९ ॥

साधक को मुख के अन्दर आठ पखुडियो वाले श्वेत कमल का चिन्तन करना चाहिए और उन पखुडियो मे आठ वर्ग—अ, क, च, ट, त, प, य, श,—स्थापित करने चाहिए तथा 'ओ नमो अरिहताण' इन आठ अक्षरो मे से एक-एक अक्षर को एक-एक पखुडी पर स्थापित करना चाहिए। उस कमल की केसरा के चारो तरफ के भागो मे अ, आ आदि सोलह अक्षर स्थापित करने चाहिए और मध्य की कर्णिका को अमृत के बिन्दुओ से विभूषित करना चाहिए। तत्पश्चात् चन्द्रमडल

से आते हुए, मुख से सचार करते हुए, प्रभामण्डल मे स्थित और चन्द्रमा के सदृश कान्ति वाले मायाबीज 'ह्रीँ' का उस कर्णिका मे चिन्तन करना चाहिए।

ततो भ्रमन्तं पत्रेषु सञ्चरन्तं नभस्तले।
ध्वंसयन्तं मनोध्वान्त स्रवन्तं च सुधारसम् ॥ ५० ॥
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं लसन्तं भ्रू-लतान्तरे।
त्रैलोक्याचिन्त्यमाहात्म्यं ज्योतिर्मयमिवाद्भुतम् ॥ ५१ ॥
इत्यमुं ध्यायतो मन्त्र पुण्यमेकाग्र - चेतस.।
वाग्मनोमल - मुक्तस्य श्रुतज्ञानं प्रकाशते ॥ ५२ ॥

तदनन्तर प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए, आकाशतल मे विचरण करते हुए, मन की मलीनता को नष्ट करते हुए, अमृत रस को बहाते हुए, तालुरन्ध्र से जाते हुए, भ्रकुटि के मध्य मे सुशोभित होते हुए, तीनो लोको मे अचिन्त्य माहात्म्य वाले, मानो अद्भुत ज्योति-स्वरूप, इस पवित्र मन्त्र का एकाग्र मन से ध्यान करने से मन और वचन की मलीनता नष्ट हो जाती है और श्रुतज्ञान का प्रकाश होता है।

मासै षड्भिः कृताभ्यास. स्थिरीभूतमनास्ततः।
नि:सरन्ती मुखाम्भोजाच्छिखा धूमस्य पश्यति ॥ ५३ ॥
संवत्सरं कृताभ्यासस्ततो ज्वालां विलोकते।
ततः सजात-संवेगः सर्वज्ञमुख-पङ्कजम् ॥ ५४ ॥
स्फुरत्कल्याण-माहात्म्यं सम्पन्नातिशयं ततः।
भामण्डलगतं साक्षादिव सर्वज्ञमीक्षते ॥ ५५ ॥
ततः स्थिरीकृतस्वान्तस्तत्र संजात निश्चय.।
मुक्त्वा संसारकान्तारमध्यास्ते सिद्धिमन्दिरम् ॥ ५६ ॥

छह महीने तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक का चित्त जब स्थिर हो जाता है, तो वह अपने मुख-कमल से निकलती हुई धूम की

शिखा को देखता है। एक वर्ष के अभ्यास के पश्चात् वह ज्वाला देखने लगता है। उसके बाद संवेग की वृद्धि होने पर सर्वज्ञ के मुख-कमल को देखने मे समर्थ हो जाता है। उससे भी आगे चल कर कल्याणमय माहात्म्य से देदीप्यमान, सर्वातिशय से सम्पन्न और प्रभामण्डल मे स्थित सर्वज्ञ को साक्षात् की तरह देखने लगता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होने पर साधक का चित्त एकदम स्थिर हो जाता है, उसे तत्त्व का निश्चय हो जाता है और वह ससार-अटवी को लाघकर सिद्धि के मन्दिर—मोक्ष मे विराजमान हो जाता है, वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

क्ष्वी विद्या का ध्यान

> शशिबिम्बादिवोद्भूता स्रवन्तीममृत सदा।
> विद्याक्ष्वीँ इति भालस्था ध्यायेत्कल्याणकारणम् ॥५७॥

मानो चन्द्रमा के बिम्ब से उत्पन्न हुई हो—ऐसी उज्ज्वल, निरन्तर अमृत बरसाने वाली और कल्याण का कारणभूत 'क्ष्वीँ' विद्या का ललाट मे चिन्तन करना चाहिए।

शशि-कला का ध्यान

> क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्ती प्लावयन्ती सुधाम्बुभि।
> भाले शशिकला ध्यायेत् सिद्धिसोपान-पद्धतिम् ॥५८॥

क्षीर-सागर से निकलती हुई, सुधा के सदृश सलिल से अखिल लोक को प्लावित करती हुई और मुक्ति-महल के सोपानो की श्रेणी के समान चन्द्रकला का ललाट मे ध्यान करना चाहिए।

शशि-कला के ध्यान का फल

> अस्या स्मरण-मात्रेण त्रुट्यद्भव-निबन्धन।
> प्रयाति परमानन्द-कारण पदमव्ययम् ॥५९॥

चन्द्रमा की कला अर्थात् चन्द्र-कला के समान प्रकाश का स्मरण करने

मात्र से जन्म-मरण के कारणो का अन्त हो जाता है और स्मरणकर्त्ता उस अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है, जो परमानन्द का कारण है।

प्रणव, शून्य और अनाहत का ध्यान

नासाग्रे प्रणव शून्यमनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ॥६०॥

नासिका के अग्रभाग पर प्रणव—ओकार, शून्य—०, और अनाहत—ह, इन तीन का अर्थात् 'ओ ह' का ध्यान करने वाला अणिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ को प्राप्त करके निर्मल ज्ञान को प्राप्त करता है।

शंख-कुन्द-शशाकाभास्त्रीनमूत् ध्यायतः सदा।
समग्र - विषयज्ञान - प्रागल्भ्य जायते नृणाम् ॥६१॥

शंख, कुन्द और चन्द्र के समान श्वेत वर्ण के प्रणव, शून्य और अनाहत का ध्यान करने वाले पुरुष समस्त विषयो के ज्ञान मे प्रवीण हो जाते हैं।

सामान्य विद्या

द्वि-पार्श्व-प्रणव-द्वन्द्वं प्रान्तयोर्मायया वृतम्।
सोऽह मध्ये विमूर्धानं अहंलींकारं विचिन्तयेत् ॥६२॥

जिनके दोनो ओर दो-दो ओकार हैं, आदि और अन्त मे ह्रींकार है, मध्य मे सोऽह है और उस सोऽह के मध्य मे अह लीं है, अर्थात् जिसका रूप यो है—ह्रीं ओं ओं स अह लीं ह ओ ओ ह्रीं—इन अक्षरो का ध्यान करना चाहिए।

विद्या का ध्यान

कामधेनुमिवाचिन्त्य - फल - सम्पादन - क्षमाम्।
अनवद्यां जपेद्विद्या गणभृद् वदनोद्गताम् ॥६३॥

कामधेनु के समान अचिन्त्य फल प्रदान करने मे समर्थ, निर्दोष और

गणधरो के मुख से उद्गत विद्या का जाप करना चाहिए। वह विद्या इस प्रकार है—

"ओ जोग्गे मग्गे तच्चे भूए भविस्से अते पक्खे जिणपार्श्वे स्वाहा।"

ओंकार का ध्यान

> पट्कोणेऽप्रतिचक्रे फडिति प्रत्येकमक्षरम्।
> सव्ये न्यसेद्विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यत ॥६४॥
> भूतान्त विन्दुसयुक्त तन्मध्ये न्यस्य चिन्तयेत्।
> नमो जिणाणमित्याद्यैरो - पूर्वैर्वेष्टयेन्दहि ॥६५॥

एक पट्कोण यत्र का चिन्तन करना चाहिए जिसके प्रत्येक खाने मे 'अप्रतिचक्रे फट्'—इन छह अक्षरो मे से एक-एक अक्षर लिखा हो। उस यत्र के वाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा'—इन छह अक्षरो मे से एक-एक अक्षर कोनो के पास लिखा हो और बीच मे विन्दु युक्त ओकार हो। तत्पश्चात् इन पदो से पिछले वलय की पूर्ति करनी चाहिए—

'ओ नमो जिणाण, ओ नमो ओहि-जिणाण, ओ नमो परमोहि-जिणाण, ओ नमो सव्वोसहि-जिणाण, ओ नमो अनन्तोहि-जिणाण, ओं नमो कुट्ठ-बुद्धीण, ओ नमो वीय-बुद्धीण, ओ नमो पदानुमारीण, ओ नमो सभिन्नसोआण, ओं नमो उज्जुमदीण, ओ नमो विउलमदीण, ओ नमो दस-पुव्वीण, ओ नमो चउदस-पुव्वीण, ओ नमो अट्ठग-महानिमित्त कुसलाण, ओ नमो विउव्वण-इड्ढिपत्ताण, ओ नमो विज्जाहरण, ओ नमो चारणाण, ओ नमो पण्णमसणाण, ओ नमो आगास-गामीण, ओ ज्सौं-ज्सौं श्री-ह्री-घृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा।'

फिर पच-परमेष्ठी महामन्त्र के पाँच पदो का पाँच अँगुलियो मे न्यास करना चाहिए, वह इस प्रकार है—

१. ओ नमो अरिहताण ह्रॉं स्वाहा (अंगूठे मे)
२. ओ नमो सिद्धाण ह्रीं स्वाहा (तर्जनी मे)
३ ओ नमो आयरियाण ह्रूं स्वाहा (मध्यमा मे)
४ ओ नमो उवज्झायाण ह्रैं स्वाहा (अनामिका मे)
५. ओ नमो लोए सव्वसाहूण ह्रौं स्वाहा (कनिष्ठा मे)

इस प्रकार तीन बार अगुलियो मे विन्यास करके और मस्तक के ऊपर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के अन्तर भाग मे स्थापित करके इस यन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

अष्टाक्षरी विद्या

अष्टपत्रेऽम्बुजे ध्यायेदात्मानं दीप्त-तेजसम् ।
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य वर्णान् पत्रेषु च क्रमात् ॥६६॥
पूर्वाशाभिमुखः पूर्वमधिकृत्यादि - मण्डलम् ।
एकादश - शतान्यष्टाक्षरं मन्त्रं जपेत्तत ॥६७॥
पूर्वाशानुक्रमादेव मुद्दिश्यान्य दलान्यपि ।
अष्टरात्र जपेद्योगी सर्वप्रत्यूह शान्तये ॥६८॥
अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्य वर्त्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमम् ॥६९॥
भीषणाः सिंहमातङ्गरक्ष· प्रभृतय· क्षणात् ।
शाम्यन्ति व्यन्तराश्चान्ये ध्यान-प्रत्यूह-हेतव· ॥७०॥
मन्त्रः प्रणव - पूर्वोऽय फलमैहिकमिच्छुभि· ।
ध्येय· प्रणवहीनस्तु निर्वाणपद - कांक्षिभि· ॥७१॥

आठ पखुड़ी वाले कमल मे तेज से झिलमिलाती आत्मा का चिन्तन करना चाहिए और प्रवणादि मत्र के अर्थात् 'ओ नमो अरिहंताण' इस पूर्वोक्त मत्र के आठो वर्णो को अनुक्रम से आठो पत्रो पर स्थापित करना चाहिए।

पत्रो—पखुडियो की गणना पूर्व दिशा से आरभ करनी चाहिए। इस क्रम से पूर्व दिशा की पखुडी पर 'ओ' स्थापित करना चाहिए और फिर यथा-क्रम शेष दिशाओं मे शेष सात वर्ण स्थापित करने चाहिए। इस अष्टाक्षरी मत्र का कमल के पत्तो पर ग्यारह सौ वार जाप करना चाहिए।

पूर्व दिशा की प्रथम पंखुडी पर 'ओ' और शेष पखुडियो पर अनुक्रम से शेष सात वर्ण स्थापित करके योगी को समस्त विघ्नों को शान्त करने के लिए आठ दिन तक इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

आठ दिन व्यतीत हो जाने पर इस कमल के पत्रो पर स्थापित किए हुए अष्टाक्षरी विद्या के आठो वर्ण अनुक्रम से दिखाई देने लगते हैं।

जव योगी इन वर्णों को देखने लगता है, तो उसमे ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि ध्यान मे विघ्न करने वाले भयानक सिह, हाथी, राक्षस और भूत-पिशाच आदि तत्काल शान्त हो जाते हैं।

जो लोग इहलोक सम्बन्धी फल के अभिलापी हैं, उन्हे 'नमो अरिहताण' यह मन्त्र ओकार सहित चिन्तन करना चाहिए और जो निर्वाण-पद के इच्छुक हैं, उन्हे ओकार रहित मत्र का चिन्तन करना चाहिए।

अन्य मंत्र और विद्या

चिन्तयेदन्यमप्येनं मन्त्र कर्मौघ - शान्तये।
स्मरेत्सत्वोपकाराय विद्या ता पापभक्षिणीम् ॥७२॥

कर्मों के समूह को शान्त करने के लिए दूसरे मन्त्र का भी ध्यान करना चाहिए। वह यह है—

'श्रीमद् ऋषभादि-वर्धमानान्तेभ्यो नम।'

प्राणियो के उपकार के लिए पाप-भक्षिणी विद्या का स्मरण करना चाहिए, जो इस प्रकार है—

'ओ अर्हन्मुखकमलवासिनि, पापात्मक्षयकरि, श्रुतिज्ञानज्वालासहस्र, ज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन, दह दह, क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्ष. क्षीरधवले, अमृतसम्भवे, व व हूं हूं स्वाहा।'

पाप-भक्षिणी विद्या का फल

प्रसीदति मनः सद्यः पाप-कालुष्यमुज्झति ।
प्रभावातिशयादस्या ज्ञानदीप' प्रकाशते ॥७३॥

यह विद्या इतनी प्रभावोत्पादक है कि इसके स्मरण से तत्काल मन प्रसन्न हो जाता है, पाप की कलुपता दूर हो जाती है और ज्ञान का दीपक प्रकाशित हो उठता है ।

सिद्धचक्र का स्मरण

ज्ञानवद्भि· समाम्नातं वज्रस्वाम्यादिभि स्फुटम् ।
विद्यावादात्समुद्धृत्य वीजभूतं शिवश्रिय. ॥७४॥
जन्मदाव - हुताशस्य प्रशान्ति - नव-वारिदम् ।
गुरूपदेशाद्विज्ञाय सिद्धचक्र विचिन्तयेत् ॥७५॥

वज्रस्वामी आदि विशिष्ट ज्ञानी जनो ने विद्याप्रवाद नामक श्रुत से जिसका उद्धार किया है और जिसे स्पष्ट रूप से मोक्ष लक्ष्मी का वीज माना है, जो जन्म-मरण के दावानल को शान्त करने के लिए सजल मेघ के समान है, उस सिद्धचक्र को गुरु के उपदेश से जानकर चिन्तन करना चाहिए ।

नाभिपद्मे स्थित्त ध्यायेदकारं विश्वतोमुखम् ।
सि-वर्णं मस्तकाम्भोजे आकार वदनाम्बुजे ॥७६॥
उकार हृदयाम्भोजे साकार कण्ठ-पङ्कजे ।
सर्वकल्याणकारीणि वीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ॥७७॥

'असिआउसा' इस मन्त्र के 'अ' का नाभि-कमल मे सर्वत्र ध्यान करना चाहिए, 'सि' वर्ण का मस्तक-कमल मे, 'आ' वर्ण का मुख-कमल मे, 'उ' वर्ण का हृदय-कमल मे और 'सा' वर्ण का कठ-कमल मे ध्यान करना

चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य सर्वकल्याणकारी बीजों का भी स्मरण करना चाहिए।

श्रुतसिन्धु-समुद्भूत अन्यदप्यक्षरं पदम्।
अशेष ध्यायमान स्यान्निर्वाणपद-सिद्धये ।।७८।।

श्रुत रूपी सागर से उत्पन्न हुए अन्य समस्त अक्षरो, पदो आदि का भी ध्यान करने से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है।

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयत्।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्ये ग्रन्थ-विस्तरा. ।।७९।।

जिस किसी भी वाक्य, पद या शब्द का चिन्तन करता हुआ योगी वीतरागता को प्राप्त करने मे समर्थ होता है, वही उसका ध्यान माना गया है। अन्य उपाय तो ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।

एव च मन्त्र - विद्याना वर्णेषु च पदेषु च।
विश्लेष क्रमश कुर्याल्लक्ष्मी भावोपपत्तये ।।८०।।

इस प्रकार मत्र और विद्याओ का वर्णों और पदो मे अनुक्रम से विश्लेषण करना चाहिए। इससे लक्ष्मीभाव की प्राप्ति होती है अथवा धीरे-धीरे लक्ष्यहीन—आलम्बन रहित ध्यान की प्राप्ति होती है।

आशीर्वाद

इति गणधर - धुर्याविष्कृतादुद्धृतानि,
प्रवचन-जलराशेस्तत्त्वरत्नान्यमूनि।
हृदयमुकुरमध्ये धीमतामुल्लसन्तु,
प्रचितभवशतोत्थक्लेशनिर्नाशिहेतो. ।।८१।।

इस प्रकार प्रधान गणधर द्वारा प्रकट किए हुए प्रवचन रूपी समुद्र मे से यह तत्त्व-रत्न उद्धृत किये गए हैं। ये तत्त्व-रत्न सैकडो भवो के सचित क्लेश—कर्म का विनाश करने के लिए बुद्धिमान् साधक—योगी के जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं।

नवम प्रकाश

रूपस्थ ध्यान

मोक्षश्रीसम्मुखीनस्य विध्वस्ताखिलकर्मणः।
चतुर्मुखस्य नि:शेष-भुवनाभय-दायिनः ॥१॥

इंदुमण्डल - संकाशच्छत्र-त्रितय - शालिनः।
लसद्भामण्डलाभोग - विडम्बित - विवस्वतः ॥२॥

दिव्य-दुन्दुभि-निर्घोषगीत-साम्राज्य-सम्पदः।
रणद्द्विरेफ-झङ्कार - मुखराशोक - शोभिनः ॥३॥

सिहासन-निषण्णस्स वीज्यमानस्य चामरैः।
सुरासुर - शिरोरत्न - दीप्रपादन - खद्युते. ॥४।

दिव्य-पुष्पोत्कराकीर्णा-सकीर्ण-परिषद्भुवः।
उत्कन्धरैर्मृगकुलैः पीयमान-कलध्वनेः ॥५॥

शान्तवैरेभ-सिंहादि - समुपासित - सन्निधेः।
प्रभोः समवसरण - स्थितस्य परमेष्ठिनः ॥६॥

सर्वातिशय-युक्तस्य केवलज्ञान - भास्वतः।
अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥७॥

जो योगी—साधक मुक्ति लक्ष्मी के सन्मुख जा पहुँचे है, जिन्होने समग्र—चारो घातिक कर्मो का समूलत ध्वस कर दिया है, देशाना देते

राग, द्वेष, मोह आदि विकारो से रहित, शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशस्त लक्षणो से युक्त, इतर मतावलम्बियो द्वारा अज्ञात योगमुद्रा को धारण करने के कारण मनोरम, तथा नेत्रो से अमन्द आनन्द का अद्भुत प्रवाह बहाने वाले जिनेन्द्र देव के दिव्य-भव्य रूप का निर्मल चित्त से ध्यान करने वाला योगी भी रूपस्थ-ध्यान करने वाला कहलाता है।

रूपस्थ ध्यान का फल

योगी चाभ्यास-योगेन तन्मयत्वमुपागत. ।
सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥११॥

रूपस्थ-ध्यान के अभ्यास करने से तन्मयता को प्राप्त योगी अपने आपको स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप मे देखने लगता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक साधक का मन वीतराग-भाव मे रमण करता है, तब तक वह वीतराग-भाव की ही अनुभूति करता है।

सर्वज्ञो भगवान् योऽयमहमेवास्मि स ध्रुवं ।
एवं तन्मयतां यातः सर्ववेदीति मन्यते ॥१२॥

जो सर्वज्ञ भगवान् है, निस्सन्देह वह मैं ही हूँ, जिस योगी को इस प्रकार की तन्मयता के साथ एकरूपता प्राप्त हो जाती है, वह योगी सर्वज्ञ माना जाता है।

जैसा आलम्बन, वैसा फल

वीतरागो विमुच्येत वीतराग विचिन्तयन् ।
रागिण तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥१३।

वीतराग का ध्यान करता हुआ योगी स्वय वीतराग होकर कर्मों से या वासनाओ से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत, रागी का ध्यान करने वाला स्वय रागवान् बन कर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि विक्षेपो का जनक बन जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसा ध्यान का आलम्बन होता है, ध्याता वैसा ही बन जाता है।

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहक· ।
तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१४॥

स्फटिक मणि के सामने जिस रग की वस्तु रख दी जाती है, मणि उसी रग की दिखाई देने लगती है। आत्मा भी स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल है। अत वह जब जिस-जिस भाव से युक्त होती है, तब उसी रूप मे परिणत हो जाती है। जिस समय वह विषय-विकारो का चिन्तन करती है, उस समय विषयी या विकारी बन जाती है और जब वीतराग भाव मे रमण करने लगती है, तब वीतरागता का अनुभव करने लगती है।

नासद्ध्यानानि सेव्यानि कौतुकेनाऽपि किन्त्विह ।
स्वनाशायैव जायन्ते सेव्यमानानि तानि यत् ॥१५॥

अत कुतूहल से प्रेरित होकर भी असद्—अप्रशस्त ध्यानो का सेवन करना उचित नही है। क्योकि उनका सेवन करने से आत्मा का विनाश ही होता है।

सिध्यन्ति सिद्धय सर्वा· स्वय मोक्षावलम्बिनाम् ।
सदिग्धा सिद्धिरन्येषा स्वार्थभ्र शस्तु निश्चितः ॥१६॥

मुक्ति के उद्देश्य से साधना करने वालो को अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ स्वत प्राप्त हो ही जाती हैं। किन्तु, जो लोग उन्हे प्राप्त करने के लिए ही साधना करते हैं, उन्हे कभी वे प्राप्त हो जाती है और कभी नही भी होती हैं। हाँ, उनका आत्महित अवश्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि साधक का उद्देश्य—मुक्तिलाभ होना चाहिए, लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करना नही।

दशम प्रकाश

रूपातीत-ध्यान

अमूर्त्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।
निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ॥१॥

निराकार, चैतन्य-स्वरूप, निरजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान 'रूपातीत-ध्यान' कहलाता है ।

इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्य-ग्राहक-वर्जितम् ॥२॥

निरजन-निराकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहक भाव, अर्थात् ध्येय और ध्याता के विकल्प से रहित होकर तन्मयता—सिद्ध-स्वरूपता को प्राप्त कर लेता है ।

अनन्य-शरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥३॥

योगी जब ग्राह्य-ग्राहक भाव के भेद से ऊपर उठकर तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब कोई भी आलम्बन न रहने के कारण वह सिद्धात्मा मे इस प्रकार लीन हो जाता है जैसे कि ध्याता और ध्यान गायब हो जाते हैं और ध्येय—सिद्धस्वरूप के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है ।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥४॥

आत्मा अभिन्न होकर परमात्मस्वरूप मे लीन हो जाती है। ध्याता और ध्येय की इस प्रकार की एकरूपता को ही समरसी भाव कहते है।

टिप्पण – अभिप्राय यह है कि ध्याता जव तन्मयता के साथ सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करता है और वह चिन्तन जव परिपक्व वन जाता है तव ध्याता, ध्येय और ध्यान का विकल्प नष्ट हो जाता है और इन तीनो मे अखड एकरूपता की अनुभूति होने लगती है। यह स्थिति समरसी भाव कहलाती है।

ध्यान का क्रम

अलक्ष्य लक्ष्य सम्वन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥५॥

पहले पिंडस्थ, पदस्थ आदि लक्ष्य वाले ध्यानो का अभ्यास करके फिर लक्ष्यहीन–निरालवन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। पहले स्थूल ध्येयो का चिन्तन और फिर क्रमश सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येयो का चिन्तन करना चाहिए। पहले सालबन ध्यान का अभ्यास करके फिर निरालम्बन ध्यान मे प्रवृत्त होना चाहिए। इस क्रम का अवलवन करने वाला तत्त्ववेत्ता तत्त्व को प्राप्त करलेता है।

एव चतुर्विध-ध्यानामृत-मग्नं मुनेर्मन.।
साक्षात्कृतजगतत्त्व विधत्ते शुद्धिमात्मन ॥६॥

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चार प्रकार के ध्यान रूपी अमृत मे मग्न मुनि का मन जगत् के तत्त्वो का साक्षात्कार करके आत्म-विशुद्धि को प्राप्त करता है। इन ध्यानो मे सलग्न योगी अपनी आत्मा को पूर्णत शुद्ध वना लेता है।

प्रकारान्तर से धर्म-ध्यान के भेद

आज्ञापायविपाकाना सस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थ वा ध्येय-भेदेन धर्म-ध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान का चिन्तन करने से, ध्येय के भेद के कारण, धर्म-ध्यान के चार भेद हैं।

१ आज्ञा-ध्यान

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम्।
तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थांस्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ॥ ८ ॥

किसी भी तर्क से बाधित न होने वाली एव पूर्वापर विरोध से रहित सर्वज्ञो की आज्ञा को सन्मुख रखकर तात्त्विक रूप से अर्थों का चिन्तन करना 'आज्ञा-ध्यान' है।

सर्वज्ञ-वचनं सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभि।
तदाज्ञारूपमादेयं न मृषा-भाषिणो जिना ॥ ९ ॥

सर्वज्ञ के वचन ऐसे सूक्ष्मतास्पर्शी होते हैं कि वे युक्तियो से बाधित नही हो सकते। अत. उन्हे आज्ञा के रूप मे अगीकार करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ कभी भी असत्य भाषा का प्रयोग नही करते।

टिप्पण—कहने का अभिप्राय यह है कि मृषा-भाषण के मुख्य दो कारण होते हैं—१. अज्ञान, और २. कषाय। जो मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नही समझता, वह अपनी विपरीत समझ के कारण मिथ्या भाषण करता है और कुछ मनुष्य जो सही वस्तुस्थिति को जानते-बूझते हुए भी क्रोध, मान—अभिमान, माया—छल-कपट या लोभ से प्रेरित होकर मिथ्या बोलते हैं। सर्वज्ञ पुरुष मे इन दोनो कारणो में से एक भी कारण नही रहता। वीतरागता प्राप्त होने के पश्चात् ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है। अत वीतराग होने से जो निष्कषाय हो गए हैं और सर्वज्ञ होने के कारण जो अज्ञान से मुक्त हो गए हैं, उनके वचन मे असत्यता एव मिथ्यात्व की सभावना नही की जा सकती।

ऐसा मानकर जो ध्याता सर्वज्ञोक्त द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का चिन्तन करता है, वह आज्ञा-विचय का ध्याता कहलाता है।

२ अपाय-विचय ध्यान

रागद्वेष कषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् ।
यत्रापायास्तदपाय - विचय - ध्यानमिष्यते ॥ १० ॥

जिस ध्यान मे राग, द्वेष, क्रोध आदि कषायो तथा प्रमाद आदि विकारो से उत्पन्न होने वाले कष्टो का तथा दुर्गति का चिन्तन किया जाता है, वह 'अपाय-विचय' ध्यान कहलाता है।

ऐहिकामुष्मिकापाय-परिहार-परायण ।
तत प्रतिनिवर्तेत समान्तात्पापकर्मण ॥ ११ ॥

यहाँ अपाय-विचय ध्यान के तात्कालिक फल का निर्देश किया गया है। अपाय-विचय ध्यान करने वाला इहलोक एव परलोक सवधी अपायो का परिहार करने के लिए उद्यत हो जाता है और इसके फलस्वरूप पाप-कर्मो से पूरी तरह निवृत्त हो जाता है, क्योकि पाप-कर्मों का त्याग किए बिना अपाय से बचा नही जा सकता।

३ विपाक-विचय ध्यान

प्रतिक्षण-समुद्भूतो यत्र कर्म-फलोदय ।
चिन्त्यते चित्ररूप स विपाक-विचयोदय ॥ १२ ॥

जिस ध्यान मे क्षण-क्षण मे उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन किया जाता है, वह 'विपाक-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है।

या सम्पदार्ऽहतो या च विपदा नारकात्मन ।
एकातपत्रता तत्र पुण्यापुण्यस्य कर्मण ॥ १३ ॥

कर्म-विपाक का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

अरिहन्त भगवान् को अष्ट प्रतिहार्य आदि जो श्रेष्ठतम सम्पति प्राप्त

होती है और नारकीय जीवो को जो घोरतम विपत्ति प्राप्त होती है, वह पुण्य और पाप-कर्म की ही प्रभुता का फल है।

४. संस्थान-विचय ध्यान

अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थान-विचय. स तु ॥ १४ ॥

अनादि-अनन्त, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—परिणामी नित्य स्वरूप वाले लोक की आकृति का जिस ध्यान मे विचार किया जाता है, वह 'सस्थान-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है।

टिप्पण—दुनिया मे कभी भी किसी सत् पदार्थ का विनाश नही होता और न असत् की उत्पत्ति ही होती है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल रूप मे—द्रव्य रूप मे अनादि-अनन्त है। परन्तु, जब वस्तु के पर्यायो की ओर देखते हैं, तो उनमे प्रतिक्षण परिणमन होता हुआ दिखाई देता है। अत प्रत्येक वस्तु अनादि-अनन्त होने पर भी उत्पाद-व्यय से युक्त है। लोक की भी यही स्थिति है ' ऐसे लोक के पुरुषाकार संस्थान का तथा लोक मे स्थित द्रव्यो का चिन्तन करना 'सस्थान-विचय' ध्यान है।

संस्थान-विचय ध्यान का फल

नानाद्रव्य - गतानन्त - पर्याय - परिवर्तनात्।
सदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥ १५ ॥

संस्थान-विचय ध्यान से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का समाधान यह किया गया है कि लोक मे अनेक द्रव्य हैं और एक-एक द्रव्य के अनन्त-अनन्त पर्याय है। उनका विचार करने से, उनमे निरन्तर आसक्त बना हुआ मन राग-द्वेषजनित आकुलता से बच जाता है।

टिप्पण—इसका तात्पर्य यह है कि लोकगत द्रव्य किसी न किसी पर्याय के रूप मे ही हमारे समक्ष आते हैं और पर्याय अनित्य है। पर्यायो का विचार करने मे उनकी अनित्यता का विचार मुख्य रूप से

उत्पन्न होता है और उस विचार से वैराग्य की वृद्धि होती है। ज्यो-ज्यो वैराग्य की वृद्धि होती है, त्यो-त्यो रागादिजन्य आकुलता कम होती जाती है और चित्त मे शान्ति की अनुभूति होती है। अस्तु, इस ध्यान का सर्वोत्कृष्ट फल यही है कि इससे आत्मा को अनन्त और अव्यावाध सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

धर्म-ध्याने भवेद् भाव क्षायोपशमिकादिक ।
लेश्या क्रमविशुद्धा स्यु पीतपद्मसिता. पुन ॥ १६ ॥

धर्म-ध्यान मे क्षायोपशमिक आदि भाव होते हैं और ध्याता ज्यो-ज्यो उसमे अग्रसर होता है, त्यो-त्यो उसकी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ विशुद्ध होती हैं।

धर्म-ध्यान का फल

अस्मिन्नितान्त - वैराग्य - व्यतिषगतरङ्गिते ।
जायते देहिना सौख्य स्वसवेद्यमतीन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वैराग्य-रस के सयोग से तरगित चार प्रकार के धर्म-ध्यान मे योगी जनो को ऐसे सुख की प्राप्ति होती है कि जिसे वे स्वय ही अनुभव कर सकते है और वह इन्द्रियगम्य नही है। अर्थात् धर्मध्यान केवल आत्म-अनुभूतिगम्य और इन्द्रियो द्वारा अगम्य आनन्द का कारण है।

धर्म-ध्यान का पारलौकिक फल

त्यक्तसगास्तनु त्यक्त्वा धर्म-ध्यानेन योगिन ।
ग्रैवेयकादि-स्वर्गेषु भवन्ति त्रिदशोत्तमा ॥ १८ ॥

महामहिमसौभाग्य शरच्चन्द्रनिभप्रभम् ।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र स्रग्भूषाम्बर-भूपितम् ॥ १९ ॥

विशिष्टवीर्य-बोधाढ्य कामार्तिज्वरवर्जितम् ।
निरन्तराय सेवन्ते सुख चानुपम चिरम् ॥ २० ॥

इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि सुखामृतम ।
निर्विघ्नमुपभुञ्जाना गत जन्म न जानते ॥ २१ ॥
दिव्यभोगावसाने च च्युत्वा त्रिदिवतस्तत ।
उत्तमेन शरीरेणावतरन्ति महीतले ॥ २२ ॥
दिव्यवशे समुत्पन्ना नित्योत्सव-मनोरमान् ।
भुञ्जते विविधान् भोगानखण्डितमनोरथा ॥ २३ ॥
ततो विवेकमाश्रित्य विरज्याशेषभोगत ।
ध्यानेन ध्वस्तकर्माण प्रयान्ति पदमव्ययम् ॥ २४ ॥

परपदार्थो के सयोग को त्याग देने वाले योगी धर्म-ध्यान के साथ शरीर का त्याग करके ग्रैवेयक या अनुत्तर विमान आदि मे उत्तम देव के रूप मे उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ उनको शरद ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त दिव्य-भव्य शरीर प्राप्त होता है और वह दिव्य पुष्पमालाओ, आभूषणो एव वस्त्रो से विभूषित होता है ।

ऐसे शरीर वाले वे देव विशिष्ट वीर्य और बोध से युक्त, काम-जनित पीडा रूपी ज्वर से रहित, विघ्न-बाधाहीन, अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते है ।

उन्हे इच्छा होते ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । अत मन को आनन्द देने वाले सुखामृत का निर्विघ्न उपभोग करते-करते उन्हे बीता हुए समय का भी मालूम नही पडता । अर्थात् वे देव सुख मे इतने तन्मय रहते हैं कि उन्हे इस बात का पता भी नही लगता कि उनकी कितनी आयु व्यतीत हो गई है ।

देवायु पूर्ण होने पर दिव्य भोगो का अन्त आ जाता है । तब वे देव वहाँ से च्युत होकर भूतल पर अवतरित होते हैं और यहाँ भी उन्हे उत्तम शरीर प्राप्त होता है ।

वे यहाँ अत्युत्तम वश में जन्म लेते हैं और उनका कोई मनोरथ कभी खण्डित नहीं होता। वे नित्य उत्सव के कारण मनोरम भोगो का उपभोग करते हैं।

तत्पश्चात् विवेक का आश्रय लेकर, समस्त सासारिक भोगो से विरक्त होकर और ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों का ध्वस करके अव्यय पद अथवा निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

टिप्पण—धर्म-ध्यान का पारिलौकिक फल देवलोक का प्राप्त होना जो वतलाया गया है, वह ऐसे योगियो की अपेक्षा से ही वतलाया गया है जिन्होने ध्यान की पराकाष्ठा प्राप्त नही की और इस कारण जो अपने पुण्य-कर्मों का क्षय नही कर पाए हैं। ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले योगी उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

एकादश प्रकाश

शुक्ल ध्यान

स्वर्गापवर्ग-हेतुर्धर्म-ध्यानमिति कीर्तितं यावत् ।
अपवर्गैकनिदानं शुक्लमनः कीर्त्यते ध्यानम् ॥ १ ॥

स्वर्ग और मोक्ष—दोनो के कारणभूत धर्म-ध्यान का वर्णन किया जा चुका है। अब मोक्ष के अद्वितीय कारण—शुक्ल-ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

शुक्ल-ध्यान का अधिकारी

इदमादि-संहनना एवाल पूर्ववेदिनः कर्तु म् ।
स्थिरता न याति चित्तं कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ॥ २ ॥

वज्रऋषभनाराच सहनन वाले और पूर्वश्रुत के धारक मुनि ही शुक्ल-ध्यान करने मे समर्थ होते हैं। अल्प सामर्थ्य वाले मनुष्यो के चित्त मे किसी भी तरह शुक्ल-ध्यान के योग्य स्थिरता नही आ सकती।

धत्ते न खलु स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमता मनोविषयैः ।
शुक्ल - ध्याने तस्मान्नास्त्यधिकारोऽल्प - साराणाम् ॥ ३ ॥

इन्द्रिय-जन्य विषयो के सेवन से व्याकुल बना हुआ मनुष्यो का मन स्वस्थ, शान्त एवं स्थिर नही हो पाता। यही कारण है कि अल्प सत्व वाले प्राणियो को शुक्ल-ध्यान करने का अधिकार नही है।

अनवच्छित्याम्नाय समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभि ।
दुष्करमप्याधुनिकै. शुक्ल-ध्यानं यथाशास्त्रम् ॥ ४ ॥

वर्तमान काल—युग के मनुष्य न वज्रऋषभनाराच सहनन वाले हैं, न पूर्वधर ही हो सकते हैं, अत वे शुक्ल-ध्यान के अधिकारी भी नही है। ऐसी स्थिति मे शुक्ल-ध्यान का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का यहाँ यह समाधान दिया गया है कि आजकल के मनुष्यो के लिये शास्त्रानुसार शुक्ल-ध्यान करना दुष्कर है, फिर भी शुक्ल-ध्यान के सम्बन्ध मे अनवच्छिन्न आम्नाय—परम्परा चली आ रही है, इस कारण हम यहाँ उसके स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं।

शुक्ल-ध्यान के भेद

ज्ञेय नानात्वश्रुतविचारमैक्य-श्रुताविचार च ।
सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥ ५ ॥

शुक्ल-ध्यान चार प्रकार का है—१ पृथक्त्व-श्रुत सविचार, २. एकत्व-श्रुत अविचार, ३ सूक्ष्म-क्रिया और, ४ उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति।

१ पृथक्त्व श्रुत सविचार

एकत्र पर्यायाणा विविधनयानुसरण श्रुताद् द्रव्ये ।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेषु संक्रमण-युक्तमाद्यं तत् ॥ ६ ॥

परमाणु आदि किसी एक द्रव्य मे—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि पर्यायो का, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आदि नयो के अनुसार, पूर्वगत श्रुत के आधार से चिन्तन करना 'पृथक्त्व-श्रुत सविचार' ध्यान कहलाता है। इस ध्यान मे अर्थ—द्रव्य, व्यजन—शब्द और योग का सक्रमण होता रहता है। ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है। इसी प्रकार मनोयोग से काय-योग मे या वचन-योग मे, काय-योग से

मनोयोग मे या वचन-योग मे और वचन-योग से मनोयोग या काय-योग मे सक्रमण करता रहता है।

अर्थ, व्यजन और योग का सक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अत उस अश मे मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने मे कोई आपत्ति नही है।

२. एकत्व-श्रुत अविचार

एवं श्रुतानुसारादेकत्व-वितर्कमेक-पर्याये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसक्रमणमन्यत्तु ॥ ७ ॥

श्रुत के अनुसार, अर्थ, व्यजन और योग के सक्रमण से रहित, एक पर्याय-विषयक ध्यान 'एकत्व-श्रुत अविचार' ध्यान कहलाता है।

टिप्पण—पहला और दूसरा शुक्ल-ध्यान सामान्यत पूर्वधर मुनियो को ही होता है, परन्तु कभी किसी को पूर्वगत श्रुत के अभाव मे अन्य-श्रुत के आधार से भी हो सकता है। पहले प्रकार के शुक्ल-ध्यान मे शब्द, अर्थ और योगो का उलट-फेर होता रहता है, किन्तु दूसरे मे इतनी विशिष्ट स्थिरता होती है कि यह उलट-फेर बन्द हो जाता है। प्रथम शुक्ल-ध्यान मे एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायो का चिन्तन होता है, दूसरे मे एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है।

३. सूक्ष्म-क्रिया

निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति तृतीयं कीर्तितं शुक्लम् ॥ ८ ॥

निर्वाण-गमन का समय सन्निकट आ जाने पर केवली भगवान् मनोयोग और वचनयोग तथा स्थूल-काययोग का निरोध कर लेते हैं, केवल श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है, तब जो ध्यान होता है वह 'सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपात्ति' नामक शुक्ल-ध्यान कहलाता है।

४. उत्सन्न-क्रिया अप्रतिपाति

केवलिन शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीय परमशुक्लम् ॥ ९ ॥

पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण प्राप्त करते हैं, उस समय होने वाला शुक्ल-ध्यान 'उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति' कहलाता है।

शुक्ल-ध्यान मे योग विभाग

एकत्रियोगभाजामाद्य स्यादपरमेक-योगानाम् ।
तनुयोगिना तृतीय निर्योगाणा चतुर्थं तु ॥ १० ॥

प्रथम शुक्ल-ध्यान एक योग या तीनो योग वाले मुनियो को होता है, दूसरा एक योग वालो को ही होता है। तीसरा सूक्ष्म काययोग वाले केवली को और चौथा अयोगी केवली को ही होता है।

केवली और ध्यान

छद्मस्थितस्य यद्वन्मन स्थिर ध्यानमुच्यते तज्ज्ञै: ।
निश्चलमङ्ग तद्वत् केवलिना कीर्तित ध्यानम् ॥११॥

मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, परन्तु तीसरे और चौथे शुक्ल-ध्यान के समय मन का अस्तित्व नहीं रहता है। ऐसी अवस्था मे उन्हें ध्यान कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का यह समाधान दिया गया है कि—"ध्यान के विशेषज्ञ पुरुष जैसे छद्मस्थ के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, उसी प्रकार केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। क्योकि, जैसे मन एक प्रकार का योग है, उसी प्रकार काय भी एक योग है।"

अयोगी और ध्यान

पूर्वाभ्यासाज्जीवोपयोगत: कर्म - जरण - हेतोर्वा ।
शब्दार्थ-बहुत्वाद्वा जिनवचनाद्वाऽप्ययोगिनो ध्यानम् ॥१२॥

चवदहवें गुणस्थान मे पहुँचते ही आत्मा तीनो योगो का निरोध कर लेती है। अत अयोगी अवस्था मे स्थित केवली मे योग का सद्भाव नही रहता है, फिर भी वहाँ ध्यान का अस्तित्व माना गया है। उसका कारण यह है—

१. जैसे कुम्हार का चक्र दण्ड आदि के अभाव मे भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार योगो के अभाव मे भी पूर्वाभ्यास के कारण अयोगी अवस्था मे भी ध्यान होता है।

२ अयोगी केवली मे उपयोग रूप भाव-मन विद्यमान है, अत उनमे ध्यान माना गया है।

३ जैसे पुत्र न होने पर भी पुत्र के योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पुत्र कहलाता है, उसी प्रकार ध्यान का कार्य कर्म-निर्जरा वहाँ पर भी विद्यमान है। अत वहाँ ध्यान भी माना गया है।

४ एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ 'ध्यैय' धातु चिन्तन अर्थ मे है, काय-योग के निरोध अर्थ मे भी है और अयोगित्व अर्थ मे भी है। अत अयोगित्व अर्थ के अनुसार अयोगी केवली मे ध्यान का सद्भाव मानना उपयुक्त ही है।

५ जिनेन्द्र भगवान् ने अयोगी केवली अवस्था मे भी ध्यान कहा है, इस कारण उनमे ध्यान का सद्भाव मानना चाहिए।

शुक्ल-ध्यान के स्वामी

आद्ये श्रुतावलम्बन-पूर्वे पूर्वश्रुतार्थ-सम्बन्धात्।
पूर्वधराणा छद्मस्थ-योगिना प्रायशो ध्याने ॥ १३ ॥

सकलालम्बन-विरहप्रथिते द्वे त्वन्तिमे समुद्दिष्टे।
निर्मल-केवलदृष्टि-ज्ञानाना क्षीण-दोषाणाम् ॥ १४ ॥

चार प्रकार के शुक्ल-ध्यानो मे से पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत

मे प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्बी हैं। वे प्राय पूर्वों के ज्ञाता छद्मस्थ योगियो को ही होते हैं।

'प्रायशः' कहने का आशय यह है कि कभी-कभी वे विशिष्ट अपूर्वधरो को भी हो जाते हैं।

अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल-ध्यान समस्त दोषो का क्षय करने वाले अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली मे ही पाए जाते हैं।

शुक्ल-ध्यान का क्रम

तत्र श्रुताद् गृहीत्वैकमर्थमर्थाद् व्रजेच्छब्दम्।
शव्दात्पुनरप्यर्थं योगाद्योगान्तर च सुधी ॥ १५ ॥

वुद्धिमान् पुरुष को श्रुत मे से किसी एक अर्थ को अवलम्वन करके ध्यान प्रारम्भ करना चाहिए। उसके वाद उन्हे अर्थ से शब्द के विचार मे आना चाहिए। फिर शब्द से अर्थ मे वापिस लौट आना चाहिए। इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग मे और फिर दूसरे योग से पहले योग मे आना चाहिये।

सक्रामत्यविलम्बितमर्थप्रभृतिषु यथा किल ध्यानी।
व्यावर्तते स्वयमसौ पुनरपि तेन प्रकारेण ॥ १६ ॥

ध्यानकर्त्ता जिस प्रकार शीघ्रता-पूर्वक अर्थ, शव्द और योग मे सक्रमण करता है, उसी प्रकार शीघ्रता से उससे वापिस लौट भी आता है।

इति नानात्वे निशिताभ्यास संजायते यदा योगी।
आविर्भूतात्म - गुणस्तदैकताया भवेद्योग्य ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से योगी जव पृथकत्व मे तीक्ष्ण अभ्यास वाला हो जाता है, तव विशिष्ट आत्मिक गुणो के प्रकट होने पर उसमे एकत्व का ध्यान करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि

प्रथम प्रकार के शुक्ल-ध्यान का अच्छा अभ्यास हो जाने के पश्चात् वह दूसरे प्रकार का शुक्ल-ध्यान करने लगता है।

उत्पाद-स्थिति-भगादिपर्ययाणा यदैकयोगः सन्।
ध्यायति पर्ययमेक तत्स्यादेकत्वमविचारम्॥ १८॥

जब ध्यानकर्त्ता तीन योगो मे से किसी एक योग का आलम्बन करके, उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य आदि पर्यायो मे से किसी एक पर्याय का चिन्तन करता है, तब 'एकत्व-अविचार' ध्यान कहलाता है।

त्रिजगद्विषय ध्यानादणुसंस्थं धारयेत् क्रमेण मनः।
विषमिव सर्वाङ्गगतं मन्त्रबलान्मांत्रिको दशे॥ १९॥

जैसे मन्त्र-वेत्ता मन्त्र के बल से सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हुए विष को एक देश—स्थान मे लाकर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार योगी ध्यान के वल से तीनो जगत् मे व्याप्त, अर्थात् सर्वत्र भटकने वाले मन को अणु पर लाकर स्थिर कर लेते हैं।

अपसारितेन्धनभर शेष. स्तोकेन्धनोऽनलो ज्वलित.।
तस्मादपनीतो वा निर्वाति यथा मनस्तद्वत्॥ २०॥

जलती हुई आग मे से ईंधन को खीच लेने या विलकुल हटा देने पर थोडे ईंधन वाली अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार जब मन को विपय रूपी ईंधन नही मिलता है, तो वह भी स्वत. ही शान्त हो जाता है।

शुक्ल-ध्यान का फल

ज्वलति ततश्च ध्यानज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्य।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घाति-कर्माणि॥ २१॥

जव ध्यान रूपी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होती है, तो योगीन्द्र के समस्त—चारो घाति-कर्म क्षण भर मे नष्ट हो जाते हैं।

घाति-कर्म

ज्ञानावरणीय दृष्ट्यावरणीयच मोहनीय च ।
विलय प्रयान्ति सहसा सहान्तरायेण कर्माणि ।। २२ ।।

योगिराज के एकत्व-वितर्क शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—यह चारो कर्म अन्तर्मुहूर्त जितने थोडे-से समय मे ही सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।

घाति-कर्म-क्षय का फल

सम्प्राप्य केवलज्ञान-दर्शने दुर्लभे ततो योगी ।
जानाति पश्यति तथा लोकालोक यथावस्थम् ।। २३ ।।

घाति-कर्मों का क्षय होने से योगी दुर्लभ केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त करके यथार्थ रूप से समग्र लोक और अलोंक को जानने-देखने लगते हैं।

देवस्तदा स भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्श्यनन्तगुण ।
विहरत्यवनी-वलय सुरासुर-नरोरगै प्रणत ।। २४ ।।

केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त गुणवान् तथा सुर, असुर, नर और नागेन्द्र आदि के द्वारा नमस्कृत अर्हन्त भगवान् इस भूतल पर जगत् के जीवो को सद्बोध देने के लिए विचरते हैं।

वाग्ज्योत्स्नयाऽखिलान्यपि विबोधयति भव्यजन्तु-कुमुदानि ।
उन्मूलयति क्षणतो मिथ्यात्व द्रव्य-भाव-गतम् ।।२५।।

भूतल पर विचरते हुए अर्हन्त भगवान् अपनी वचन रूपी चन्द्रिका से भव्य जीव रूपी कुमुदो को विबोधित करते हैं और उनके द्रव्य-मिथ्यात्व एव भाव-मिथ्यात्व को समूलत नष्ट कर देते हैं।

तन्नामग्रहमात्रादनादिसंसार सम्भव दु:खम् ।
भव्यात्मनामशेष परिक्षय याति सहसैव ।। २६ ।।

उन अरिहन्त भगवान् का नाम उच्चारण करने मात्र से अनादि-कालीन ससार मे उत्पन्न होने वाले भव्य जीवो के सहसा ही समस्त दु.ख सदा के लिए नष्ट हो जाते है।

अपि कोटीशतसंख्या. समुपासितुमागता सुरनराद्या ।
क्षेत्रे योजनमात्रे मान्ति तदाऽस्य प्रभावेण ॥ २७ ॥

उन अरिहन्त तीर्थंकर भगवान् के प्रभाव से उनकी उपासना के लिए आये हुए सैंकडो-करोडो देव और मनुष्य आदि एक योजन मात्र क्षेत्र—स्थान मे ही समा जाते हैं।

त्रिदिवौकसो मनुष्यास्तिर्यञ्चोऽन्येऽप्यमुष्य बुध्यन्ते ।
निज-निज-भाषानुगत्त वचनं धर्मावबोधकरम् ॥ २८ ॥

तीर्थंकर भगवान् के धर्मबोधक वचनो को देव, मनुष्य, पशु तथा अन्य जीव अपनी-अपनी भाषा मे समझते हैं। उक्त सब श्रोताओ को ऐसा लगता है कि मानो भगवान् हमारी भाषा मे ही बोल रहे हैं।

आयोजनशतमुग्रा रोगा. शाम्यन्ति तत्प्रभावेण ।
उदयिनि शीतमरीचाविव तापरुज क्षितेः परित· ॥ २९ ॥

तीर्थंकर भगवान् जहाँ विहार करते हैं, उस स्थल से चारो ओर सौ-सौ योजन प्रमाण क्षेत्र मे, उनके प्रभाव से महामारी आदि उग्र रोग उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा के उदय से गर्मी शान्त हो जाती है।

मारीति-दुर्भिक्षाति-वृष्ट्यनावृष्टिडमर-वैराणि ।
न भवन्त्यस्मिन् विहरति सहस्ररश्मौ तमासीव ॥ ३० ॥

तीर्थंकर भगवान् जहाँ विचरण करते है, वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध और वैर उसी प्रकार नही होते, जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नही रह पाता।

मार्त्तण्डमण्डलश्रीविडम्बि भामण्डल विभो परित. ।
आविर्भवत्यनुवपु प्रकाशयत्सर्वतोऽपि दिश ॥ ३१ ॥

तीर्थङ्कर भगवान् के शरीर के पीछे सूर्यमण्डल की प्रभा को भी मात करने वाला और समस्त दिशाओ को आलोकित करने वाला भामण्डल प्रकट होता है ।

सञ्चारयन्ति विकचान्यनुपादन्यासमाशु कमलानि ।
भगवति विहरति तस्मिन् कल्याणिभक्तयो देवा ॥ ३२ ॥

अर्हन्त भगवान् जब पृथ्वीतल पर विहार करते हैं, तो कल्याणकारिणी भक्ति वाले देव तत्काल ही उनके प्रत्येक चरण रखने के स्थान पर विकसित स्वर्ण-कमलो का सचार करते हैं—स्वर्णमय कमल स्थापित करते हैं ।

अनुकूलो वाति मरुत् प्रदक्षिणं यान्त्यमुष्य शकुनाश्च ।
तरवोऽपि नमन्ति भवन्त्यधोमुखा कण्टकाश्च तदा ॥ ३३ ॥

भगवान् के विहार के समय वायु अनुकूल बहने लगती है, गीदड, नकुल आदि के शकुन दाहिने हो जाते हैं, वृक्ष भी नम्र हो जाते हैं और कांटो के मुख नीचे की ओर हो जाते हैं ।

आरक्त-पल्लवोऽशोकपादप स्मेर-कुसुमगन्धाढ्य ।
प्रकृत-स्तुतिरिव मधुकर-विरुतैर्विलसत्युपरि-त्तेन ॥ ३४ ॥

लालिमा युक्त पत्तो वाला तथा खिले हुए फूलो की सुगध से व्याप्त अशोक तरु उनके ऊपर सुशोभित होता है और वह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भ्रमरो के नाद के वहाने भगवान् की स्तुति कर रहा है ।

षडपि समकालमृतवो भगवन्त ते तदोपतिष्ठन्ते ।
स्मर-साहायककरणे प्रायश्चित्त ग्रहीतुमिव ॥ ३५ ॥

भगवान् के समीप एक साथ छहो ऋतुएँ प्रकट होती हैं, मानो वे कामदेव का सहायक वनने का प्रायश्चित करने के लिए भगवान् की चरण-सेवा मे उपस्थित हुई हो ।

अस्य पुरस्तान्निनदन् विजृंभते दुंदुभिर्नभसि तारम् ।
कुर्वाणो निर्वाण - प्रयाण - कल्याणमिव सद्यः ।। ३६ ।।

भगवान् के आगे मधुर स्वर मे घोष करती हुई देव-दुदुभि ऐसी प्रतीति होती है, जैसे भगवान् के निर्वाणगमन-कल्याणक को सूचित कर रही हो ।

पञ्चापि चेन्द्रियार्थाः क्षणान्मनोज्ञीभवन्ति तदुपान्ते ।
को वा न गुणोत्कर्ष सविधे महतामवाप्नोति ।। ३७ ।।

भगवान् के सन्निकट पांचो इन्द्रियो के विषय क्षण-भर मे मनोज्ञ बन जाते हैं । क्योकि महापुरुषो के ससर्ग मे आने पर किसके गुणो का उत्कर्ष नही होता ? महापुरुषो की सगति से गुणो मे वृद्धि होती ही है ।

अस्य नख-रोमाणि च वर्धिष्णून्यपि नेह प्रवर्धन्ते ।
भव - शत - सञ्चित - कर्मच्छेदं दृष्ट्वेव भीतानि ।। ३८ ।।

भगवान् के नख और केश नही बढते हैं । यद्यपि केश-नख आदि का स्वभाव बढना है, किन्तु सैकडो भवो के सचित कर्मो का छेदन देखकर वे भयभीत-से हो जाते हैं और इस कारण वे बढने का साहस नही कर पाते ।

शमयन्ति तदभ्यर्णे रजासि गन्धजल-वृष्टिभिर्देवाः ।
उन्निद्र-कुसुम-वृष्टिभिरशेषतः सुरभयन्ति भुवम् ।। ३९ ।।

भगवान् के आसपास सुगधित जल की वर्षा करके देव धूल को शान्त कर देते हैं और विकसित पुष्पो की वर्षा करके भूमि को सुगधित कर देते है ।

छत्रत्रयी पवित्रा विभोरुपरि भक्तितस्त्रिदशराजैः ।
गंगास्रोतस्त्रितयीव धार्यते मण्डलीकृत्य ।। ४० ।।

भगवान् के ऊपर इन्द्र तीन छत्र धारण करता है । वह तीन छत्र ऐसे जान पडते है, मानो गगा नदी के गोलाकार किए हुए तीन स्रोत हो ।

अयमेक एव न प्रभुरित्याख्यातु विडौजसोन्नमित ।
अगुलिदण्ड इवोच्चैश्चकास्ति रत्न-ध्वजस्तस्य ॥ ४१ ॥

भगवान् के आगे इन्द्रध्वज ऐसा सुशोभित होता है, मानो 'यही एकमात्र हमारे स्वामी हैं'—यही वतलाने के लिए इन्द्र ने अपनी अगुली ऊँची कर रखी हो ।

अस्य शरदिन्दुदीधितिचारूणि च चामराणि धूयन्ते ।
वदनारविन्द - सपाति - राजहस - भ्रम दधति ॥ ४२ ॥

भगवान् पर शरद ऋतु के चन्द्रमा की किरणो के समान उज्ज्वल चामर ढुलाये जाते हैं। जव वे चामर मुख-कमल पर आते हैं तो राजहसो-सा भ्रम उत्पन्न करते है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मुख के सामने राजहस उड रहे हो ।

प्राकारत्रय उच्चैर्विभान्ति समवसरणस्थितस्यास्य ।
कृत-विग्रहाणि सम्यक्-चारित्र-ज्ञान-दर्शनानीव ॥ ४३ ॥

समवसरण मे स्थित तीर्थङ्कर भगवान् के चारो ओर स्थित ऊँचे-ऊँचे तीन प्रकार ऐसे जान पडते हैं, मानो सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन खडे हो ।

चतुराशावर्तिजनान् युगपदिवानुग्रहीतु - कामस्य ।
चत्वारि भवन्ति मुखान्यगानि च धर्ममुपदिशत ॥ ४४ ॥

जब भगवान् धर्मोपदेश देने के लिए समवसरण मे विराजते हैं, तो उनके चारो ओर उपस्थित श्रोताओ पर अनुग्रह करने के लिए एक समय मे एक साथ चार शरीर और चार मुख परिलक्षित होते हैं । यह तीर्थङ्कर भगवान् का एक अतिशय है । उनकी धर्म-सभा मे उपस्थित कोई भी श्रोता, चाहे वह किसी भी दिशा में क्यो न बैठा हो, उनके दर्शनो से वचित नही रहता है ।

अभिवन्द्यमानपाद सुरासुरनरोरगैस्तदा भगवान् ।
सिंहासनमधितिष्ठति भास्वानिव पूर्वगिरि शृङ्गम् ॥ ४५ ॥

जिनके चरणो मे सुर-असुर, मनुष्य और नाग आदि नमस्कार करते है, वन्दन करते है । भगवान् जब सिंहासन के ऊपर विराजमान होकर उपदेश देते हैं, तब ऐसा जान पडता है कि उदयाचल मे सूर्य उदित हुआ है ।

तेजःपुञ्ज-प्रसर-प्रकाशिताशेषदिक् क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्य-चक्रवर्त्तित्व-चिह्नमग्रे भवति चक्रम् ॥ ४६ ॥

अपने तेज के समूह से समस्त दिशाओ को प्रकाशित करने वाला और तीनो लोको के चक्रवर्त्तीपन को सूचित करने वाला धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है ।

भुवनपति-विमानपति-ज्योतिष्पति-वानव्यन्तरा सविधे ।
तिष्ठन्ति समवसरणे जघन्यत कोटिपरिमाणा. ॥४७॥

प्रायः कम से कम एक करोड की सख्या मे भवनपति, वैमानिक, ज्योतिष्क और वानव्यन्तर, यह चारो प्रकार के देव समवसरण मे स्थित रहते है ।

तीर्थंकरनामसज्ञ न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात् ।
उत्पन्न - केवल. सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥ ४८ ॥

यह उन केवली भगवान् की विशेषताओ का वर्णन किया गया है, जो तीर्थंकर होते हैं । किन्तु, जिनके तीर्थंकर नाम कर्म का उदय नही हैं, वे भी योग के बल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और आयु-कर्म शेष रहता है, तो भूतल के जीवो को धर्मदेशना भी देते है । और आयु-कर्म शेष न रहा हो तो निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते है ।

केवली की उत्तरक्रिया और समुद्घात

सम्पन्न-केवलज्ञान - दर्शनोऽन्तर्मुहूर्त्त-शेषायु ।
अर्हति योगी ध्यानं तृतीयमपि कर्तुमचिरेण ॥ ४९ ॥

जब मनुष्यभव सबधी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है, तब केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त योगी शीघ्र ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान आरभ करते हैं।

आयु कर्मसकाशादधिकानि स्युर्यदान्य कर्माणि।
तत्साम्याय तदोपक्रमते योगी समुद्घातम् ॥ ५० ॥

यदि आयु कर्म की अपेक्षा अन्य—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है, तो उसे बराबर करने के लिए केवली पहले समुद्घात करते है।

टिप्पण—सम् + उत् + घात अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रबलता के साथ कर्मों का घात करने के लिए किया जाने वाला प्रयत्न 'समुद्घात' कहलाता है। समुद्घात करने से नाम आदि कर्मों की स्थिति का और रस-विपाक का घात होता है, जिससे वे आयु कर्म के समान स्थिति वाले बन जाते हैं। समुद्घात की विधि का उल्लेख आगे कर रहे हैं।

दण्ड-कपाटे मन्थानक च समय-त्रयेण निर्माय।
तुर्ये समये लोक निशेष पूरयेद् योगी ॥ ५१ ॥

समुद्घात करते समय केवली भगवान् तीन समय मे अपने आत्म-प्रदेशो को दड, कपाट और मन्थान के रूप मे फैला देते हैं। वे अपने आत्म-प्रदेशो को बाहर निकालकर प्रथम समय मे ऊपर और नीचे लोकान्त तक दडाकार करते हैं, दूसरे समय मे पूर्व और पश्चिम मे लोकान्त तक फैलाते हैं, तीसरे समय मे दक्षिण-उत्तर दिशाओ मे लोकान्त तक फैलाते हैं और चौथे समय मे बीच के अन्तरो को पूरित करके समग्र लोक मे व्याप्त हो जाते हैं।

समयैस्ततश्चतुर्भिर्निवर्तिते लोकपूरणादस्मात्।
विहितायु समकर्मा ध्यानी प्रतिलोम - मार्गेण ॥ ५२ ॥

इस प्रकार चार समयो मे, लोक मे आत्म-प्रदेशो को व्याप्त करके वह योगी अन्य कर्मों को आयु कर्म के बराबर करके प्रतिलोम क्रम से अर्थात् पाँचवें समय मे अन्तरो मे से आत्मप्रदेशो का सहरण करके, छठे समय मे दक्षिण-उत्तर दिशाओ से सहरण करके, सातवे समय मे पूर्व-पश्चिम से सहरण करके, आठवे समय मे समस्त आत्म-प्रदेशो को पूर्ववत् शरीरव्यापी बना लेते है। इस प्रकार समुद्घात की क्रिया पूर्ण हो जाती है।

योग-निरोध

श्रीमानचिन्त्यवीर्यं शरीरयोगेऽथ बादरे स्थित्वा।
अचिरादेव हि निरुणद्धि बादरौ वाङ्मनसयोगौ ॥ ५३ ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन काययोग स बादरं रुन्ध्यात्।
तस्मिन्निरुद्धे सति शक्यो रोद्धु न सूक्ष्मतनुयोग ॥ ५४ ॥

वचन-मनोयोगयुग सूक्ष्म निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात्।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनुयोगम् ॥ ५५ ॥

समुद्घात करने के पश्चात् आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न तथा अचिन्तनीय वीर्य से युक्त वह योगी बादर काय-योग का अवलम्बन करके बादर वचन-योग और बादर मनोयोग का शीघ्र ही निरोध कर लेते हैं।

फिर सूक्ष्म काय-योग मे स्थित होकर बादर काय-योग का निरोध करते हैं। क्योकि बादर काय-योग का निरोध किए बिना सूक्ष्म काय-योग का निरोध करना शक्य नही है।

तत्पश्चात् सूक्ष्म काय-योग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग और वचन-योग का निरोध करते है। फिर सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्ल-ध्यान करते हैं।

तदन्तर समुच्छिन्न - क्रियमाविर्भवेदयोगस्य ।
अस्यान्ते क्षीयन्ते त्वघाति-कर्माणि चत्वारि ॥ ५६ ॥

उसके पश्चात् अयोगी केवली समुछिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्ल-ध्यान ध्याते हैं । इस ध्यान के अन्त मे शेष रहे हुए चारो अघाति कर्मो का क्षय हो जाता है ।

निर्वाण प्राप्ति

लघुवर्ण-पञ्चकोद्‌गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।
क्षपयति युगपत्परितो वेद्यायुर्नाम - गोत्राणि ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् 'अ, इ, उ, ऋ, ल'—इन पाँच ह्रस्व स्वरो का उच्चारण करने मे जितना काल लगता है, उतने काल तक शैलेशीकरण—पर्वत के समान निश्चल अवस्था प्राप्त करके एक साथ वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म का पूरी तरह क्षय कर देते हैं ।

औदारिक-तैजस-कार्मणानि ससारमूल-करणानि ।
हित्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन याति लोकान्तम् ॥ ५८ ॥

साथ ही औदारिक, तैजस और कार्मण रूप स्थूल एव सूक्ष्म शरीरो का त्याग करके, ऋजु श्रेणी—मोड रहित सीधी गति से एक ही समय मे लोक के अग्रभाग मे पहुँच कर स्थित हो जाते हैं ।

नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा नैव गौरवाभावात् ।
योग-प्रयोग-विगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥ ५९ ॥

सिद्ध भगवान् की आत्मा लोक से ऊपर—अलोकाकाश मे नही जाती। क्योकि वहाँ गति मे सहायक धर्मास्तिकाय नही है। आत्मा नीचे भी नही जाती, क्योकि उसमे गुरुता नही है । तिर्छी भी नही जाती, क्योकि उसमे काय आदि योग और प्रयोग अर्थात् पर-प्रेरणा नही है ।

लाघवयोगाद् धूमवदलाबुफलवच्च सगविरहेण ।
बन्धन-विरहादेरण्डवच्च सिद्धस्य गतिरूर्ध्वम् ॥ ६० ॥

समस्त कर्मों और शरीरो से मुक्त हो जाने के पश्चात् सिद्ध भगवान् का जीव न लोकाकाश से ऊपर जाता है, न नीचे जाता है और न तिर्छा। यह बात ऊपर के श्लोक मे बताई जा चुकी है और उसके कारण भी दे दिये हैं। परन्तु, लोकाकाश तक भी ऊर्ध्वगति क्यो होती है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया गया है कि सिद्ध भगवान् का जीव लघुता धर्म के कारण धूम की तरह ऊर्ध्वगति करता है। जैसे मृतिकालेप रूप पर-सयोग से रहित तूबा जल मे ऊपर की ओर ही गति करता है, उसी प्रकार कर्म-ससर्ग से मुक्त जीव भी ऊर्ध्वगति करता है। जैसे कोश से मुक्त होते ही एरड का बीज ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार शरीर आदि से मुक्त होते ही जीव भी ऊर्ध्वगति करता है।

मुक्त-स्वरूप

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाध स्वभावजं सौख्यम्।
प्राय सकेवल - ज्ञान - दर्शनो मोदते मुक्तः॥ ६१॥

वह मुक्त पुरुष—जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, समस्त कर्मो से रहित होकर सादि अनन्त, अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक अर्थात् आत्म-स्वभावभूत सुख को प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

जो साधक विश्व के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, सब पदार्थों मे समभाव रखता है और आस्रव का त्यागी है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।

—भगवान महावीर

शुभ अध्यवसाय एवं चिन्तन-मनन से मन शुद्ध होता है, निरवद्य—निष्पापमय भाषा का प्रयोग करने से वचन योग की शुद्धि होती है। और निर्दोष क्रिया का आचरण करने से शरीर सशुद्ध होता है। वस्तुतः त्रि-योग की शुद्धि ही योग साधना की सिद्धि—सफलता है।

—आचार्य हरिभद्र

जो योगी—साधक ज्ञान और चारित्र के मूलरूप सत्य का प्रयोग करता है, उसकी चरण-रज से पृथ्वी पवित्र होती है।

—आचार्य हेमचन्द्र

सदाचार योग की प्रथम भूमिका है। विचार और आचार की शुद्धि का नाम सदाचार है।

—मुनि समदर्शी

द्वादश प्रकाश

ग्रन्थकार का स्वानुभव

श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो यदधिगतं तदिह दर्शित सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानी प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥ १ ॥

श्रुत रूपी समुद्र से और गुरु के मुख से योग के विषय मे मैंने जो जाना था, यहां तक वह सम्यक् प्रकार से दिखलाया है। अब अपने निज के अनुभव से सिद्ध निर्मल तत्त्व को प्रकाशित करूँगा।

मन के भेद

इह विक्षिप्त यातायात श्लिष्टं तथा सुलीन च ।
चेतश्चतु: प्रकार तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत् ॥ २ ॥

योग का आधार मन है। मन की अवस्थाओ को जाने विना और उन्हे उच्च स्थिति मे स्थित किए विना योग-साधना सभव नही है। अत. आचार्य ने सर्वप्रथम अवस्थाओ के आधार पर मन के भेदो का निरूपण किया है। योगाभ्यास के प्रसग मे मन चार प्रकार का है— १. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन, और ४. सुलीन मन। चित्त के व्यापारो की ओर ध्यान देने वालो के लिए यह भेद चमत्कार-जनक होते है।

विक्षिप्त और यातायात मन

विक्षिप्त चलमिष्ट यातायात च किमपि सानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प - विषयग्रह तत्स्यात्॥ ३॥

विक्षिप्त चित्त चचल रहता है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। यातायात चित्त कुछ आनन्द वाला होता है। वह कभी बाहर चला जाता है और कभी अन्दर स्थिर हो जाता है। प्राथमिक अभ्यास करने वालो के चित्त की ये दोनो स्थितियाँ होती हैं। वस्तुत सर्व-प्रथम चित्त मे चचलता ही होती है, किन्तु अभ्यास करने से शनै शनै चचलता के साथ किंचित् स्थिरता भी आने लगती है। फिर भी मन के यह दोनो भेद चित्त विकल्प के साथ वाह्य पदार्थो के ग्राहक भी होते हैं।

श्लिष्ट और सुलीन मन

श्लिष्ट स्थिरसानन्द सुलीनमतिनिश्चल परानन्दम्।
तन्मात्रक - विषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम्॥ ४॥

स्थिर होने के कारण आनन्दमय बना हुआ चित्त श्लिष्ट कहलाता है और जव वही चित्त अत्यन्त स्थिर होने से परमानन्दमय होता है तव सुलीन कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे क्रम से चित्त की स्थिरता वढती जाती है, वैसे-वैसे आनन्द की मात्रा भी वढती जाती है। जव चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है, तव परमानन्द की प्राप्ति होती है।

एव क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यान भजेन्निरालम्बम्।
समरस - भाव यात परमानन्द ततोऽनुभवेत्॥ ५॥

इस प्रकार क्रम से अभ्यास वढाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का

अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से 'निरालम्बन' ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समरस प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए।

बाह्यात्मानमपास्य प्रसत्तिभाजान्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥ ६ ॥

योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।

बहिरात्मा-अन्तरात्मा

आत्मधिया समुपात्त कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादे समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥ ७ ॥

शरीर आदि बाह्य पदार्थों को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करने वाला अर्थात् शरीर, धन, कुटुम्ब, परिवार आदि मे अहम्-बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा कहलाता है। और जो शरीर आदि को आत्मा तो नही समझता, किन्तु अपने को उनका अधिष्ठाता समझता है, वह 'अन्तरात्मा' कहलाता है। बहिरात्मा जीव शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा—अपना स्वरूप मानता है, जब कि अन्तरात्मा शरीर और आत्मा को भिन्न समझता हुआ यही मानता है कि मैं शरीर मे रहता हूं, शरीर का सचालक हूं।

परमात्मा

चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥ ८ ॥

चिन्मय, आनन्दमय, समग्र उपाधियो से रहित, इन्द्रियो से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त आत्मा परमात्मा कहलाता है।

सिद्धि प्राप्ति का उपाय

पृथगात्मान कायात्पृथक् च विद्यात्सदात्मन कायम् ।
उभयोर्भेद - ज्ञातात्म - निश्चये न स्खलेद्योगी ॥ ९ ॥

शरीर से आत्मा को और आत्मा से शरीर को भिन्न जानना चाहिए। इस प्रकार दोनो के भेद को जानने वाला योगी आत्मस्वरूप को प्रकट करने मे स्खलित नहीं होता।

अन्त पिहित-ज्योति सन्तुष्यत्यात्मनोऽन्यतो मूढ ।
तुष्यत्यात्मन्येव हि वहिर्निवृत्तभ्रमो योगी ॥ १० ॥

जिसकी आत्म-ज्योति कर्मों से आच्छादित हो गई है, वह मूढ पुरुष आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों मे सन्तोष पाता है। किन्तु योगी जो बाह्य पदार्थों मे सुख की भ्रान्ति से निवृत्त हो चुका है, अपनी आत्मा मे ही सन्तोष प्राप्त करता है।

पुसामयत्नलभ्य ज्ञानवतामव्ययं पद नूनम् ।
यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेते समीहन्ते ॥ ११ ॥

प्रबुद्ध पुरुष निश्चय ही विना किसी बाह्य प्रयत्न के भी अव्यय—निर्वाण पद का अधिकारी हो सकता है। यदि वह आत्मा मे आत्मज्ञान की ही अभिलाषा रखता है और आत्मा के सिवाय किसी भी अन्य पदार्थ सम्बन्धी विचार या व्यवहार नही करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर मुक्ति के लिए अन्य कोई बाह्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नही रहती है।

श्रयते सुवर्णभाव सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम् ।
आत्मध्यानादात्मा परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥ १२ ॥

जैसे सिद्धरस—रसायन के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

जन्मान्तरसस्करात् स्वयमेव किल प्रकाशते तत्त्वम् ।
सुप्तोस्थितस्य पूर्वप्रत्ययवन्निरुपदेशमपि ॥ १३ ॥

जैसे निद्रा से जागृत हुए पुरुष को पहले अनुभव किया हुआ तत्त्व दूसरे के कहे बिना स्वय ही प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के विशिष्ट सस्कार से स्वय ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अत विशिष्ट सस्कारयुक्त जीव को परोपदेश की आवश्यकता नही रहती।

अथवा गुरुप्रसादादिहैव तत्त्वं समुन्मिषति नूनम् ।
गुरु - चरणोपास्तिकृत प्रशमजुषः शुद्धचित्तस्य ॥ १४ ॥

जो पूर्व जन्म के उच्च सस्कारो से युक्त नही है, उन्हे गुरु के चरणो की उपासना करने, प्रशम भाव का सेवन करने और शुद्ध चित्त होने के कारण गुरु के प्रसाद से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

गुरु सेवा

तत्र प्रथमे तत्त्वज्ञाने संवादको गुरुर्भवति ।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत्तस्मात् ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दो प्रकार से बतलाई गई है—पूर्वजन्म के सस्कार से और गुरु की उपासना से। पूर्वजन्म के सस्कार से जो तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है, उसका सवाद, उसकी पुष्टि एव उसकी यथार्थता का निश्चय गुरु के द्वारा ही होता है। दूसरे प्रकार से होने वाले तत्त्वज्ञान का तो गुरु ही दर्शक होता है। इस प्रकार दोनो प्रकारो से होने वाले तत्त्वज्ञान मे गुरु की अपेक्षा रहती ही है। अत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए निरन्तर गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

गुरु महिमा

यद्वत्सहस्रकिरण प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।
तद्वद् गुरुरत्र भवेदज्ञान - ध्वान्त - पतितस्य ॥ १६ ॥

जैसे सूर्य प्रगाढ अन्धकार मे स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार गुरु अज्ञान अन्धकार मे भटकते हुए जीवो को ज्ञान की ज्योति प्रदान करता है।

प्राणायाम-प्रभृति-क्लेश-परित्यागतस्ततो योगी।
उपदेश प्राप्य गुरोरात्माभ्यासे रति कुर्यात् ॥ १७ ॥

प्राणायाम आदि कष्टकर उपायो का परित्याग करके योगी को गुरु का उपदेश प्राप्त कर आत्म-साधना मे ही सलग्न रहना चाहिए।

वचन-मन कायाना क्षोभ यत्नेन वर्जयेच्छान्तम्।
रसभाण्डमिवात्मान मुनिश्चल धारयेन्नित्यम् ॥ १८ ॥

योग-निष्ठ साधक मन, वचन और काय की चचलता का त्याग करने का प्रयत्न करे और रस से भरे हुए बर्तन की तरह आत्मा को सदा शान्त-प्रशान्त और निश्चल रखे।

टिप्पण—कहने का तात्पर्य यह है कि रस को स्थिर रखने के लिए उसके आधारभूत पात्र को स्थिर रखना आवश्यक है। यदि पात्र जरा सा डगमगा गया तो उसमे स्थित रस हिले बिना नही रहेगा। इसी प्रकार आत्मा को स्थिर और शान्त रखने के लिए मन, वचन और काय को स्थिर रखना आवश्यक है। इनमे से किसी मे भी चचलता उत्पन्न होने से आत्मा क्षुब्ध हो उठता है। यद्यपि ऐसा करने के लिए योगी को महान् प्रयत्न करना पडता है, तथापि उसमे सफलता मिलती है। मन, वचन और काय की स्थिरता के अभाव मे आत्मा का स्थिर होना असभव है।

औदासीन्य-परायण-वृत्ति॰ किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव।
यत्सकल्पाकुलित चित्त नासादयेत् स्थैर्यम् ॥ १९ ॥

योगी को चाहिए कि वह अपनी वृत्ति को उदासीनतामय बना ले और किंचित् भी चिन्तन—सकल्प-विकल्प न करे। जो चित्त सकल्पो से व्याकुल होता है, उसमे स्थिरता नही आ सकती।

यावत्प्रयत्नलेशो यावत्सकल्प-कल्पना काऽपि ।
तावन्न लयस्यापि प्राप्तिस्तत्त्वस्य का तु कथा ॥ २० ॥

जब तक मानसिक, वाचिक या कायिक प्रयत्न का अश मात्र भी विद्यमान है और जब तक कुछ भी सकल्प वाली कल्पना मौजूद है, तब तक लय—तल्लीनता की भी प्राप्ति नही हो सकती है, तो ऐसी स्थिति मे तत्त्व की प्राप्ति की तो बात ही दूर ?

उदासीनता का फल

यदिद तदिति न वक्तु ंसाक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त शक्येत् ।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत्स्वयं तत्त्वम् ॥२१॥

जिस परम-तत्त्व को साक्षात् गुरु भी कहने मे समर्थ नही है कि 'वह यह है' वही परम-तत्त्व उदासीन भाव मे परायण योगी के लिए स्वय ही प्रकाशित हो जाता है ।

उन्मनी भाव

एकान्तेऽति-पवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीन ।
आ चरणाग्र - शिखाग्राच्छिथिलोभूताखिलावयव. ॥ २२ ॥
रूपं कान्त पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिर कलमनोज्ञाम् ।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि भुञ्जानो रसास्वादम् ॥ २३ ॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम् ।
परिकलितौदासीन्य प्रणष्ट-विषय-भ्रमो नित्यम् ॥ २४ ॥
वहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मय-भाव प्राप्त· कलयति भृशमुन्मनी-भावम् ॥ २५ ॥

एकान्त, अत्यन्त पवित्र और रमणीय प्रदेश मे सुखासन से बैठा हुआ, योगी पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक के अग्रभाग पर्यन्त के समस्त अवयवो को ढीला करके, कमनीय रूप को देखता हुआ भी, सुन्दर और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगधित पदार्थो को सूँघता हुआ भी, रस

का आस्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थो का स्पर्श करता हुआ भी, और चित्त के व्यापारो को न रोकता हुआ भी उदासीन भाव से युक्त है—पूर्ण समभावी है तथा जिसने विषयो सबधी आसक्ति का परित्याग कर दिया है, जो बाह्य और आन्तरिक चिन्ता एव चेष्टाओ से रहित हो गया है, तन्मय भाव—तल्लीनता को प्राप्त करके अतीव उन्मनी-भाव को प्राप्त कर लेता है।

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुन्ध्यात्।
न खलु प्रवर्तयेद्वा प्रकाशते तत्त्वमचिरेण ॥२६॥

साधक अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हुई इन्द्रियो को न तो रोके और न उन्हे प्रवृत्त करे। वह केवल इतना ध्यान रखे कि विषयो के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न होने दे। वह प्रत्येक स्थिति मे तटस्थ बना रहे। इस प्रकार की उदासीनता प्राप्त हो जाने पर अल्पकाल मे ही तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाता है।

मनः शान्ति

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम्।
अधिकीभवति हि वारितमवारित शान्तिमुपयाति ॥ २७ ॥

मत्तो हस्ती यत्नान्निवार्यमाणोऽधिकीभवति यद्वत्।
अनिवारितस्तु कामान् लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ॥ २८ ॥

मन जिन-जिन विषयो मे प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् रोकना नही चाहिए। क्योकि, बलात् रोकने से वह उस ओर और अधिक दौडने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर अधिक प्रेरित होता है और उसे न रोका जाए तो वह अपने इष्ट विषयो को प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की होती है।

यर्हि यथा यत्र यतः स्थिरीभवति योगिनश्चल चेत ।
तर्हि तथा तत्र तत कथञ्चिदपि चालयेन्नैव ॥ २९ ॥
अनया युक्त्याऽभ्यास विदधानस्यातिलोलमपि चेत. ।
अंगुल्यग्र - स्थापित - दण्ड इव स्थैर्यमाश्रयति ॥ ३० ॥

योगी का चचल चित्त जव, जिस प्रकार, जिस जगह और जिस निमित्त से स्थिर हो, तव, उस प्रकार, उस जगह से और उसी निमित्त से उसे तनिक भी चलायमान नही करना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करने से अतीव चचल मन भी अगुली के अग्रभाग पर स्थापित किए हुए दड की तरह स्थिर हो जाता है ।

दृष्टिजय का उपाय

नि सृत्यादौ दृष्टि· सलीना यत्र कुत्रचित्स्थाने ।
तत्रासाद्य स्थैर्य शनैः शनैर्विलयमाप्नोति ॥ ३१ ॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूता शनैः शनैर्दृष्टि· ।
परतत्त्वामलमुकुरे निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम् ॥ ३२ ॥

प्रारभ मे दृष्टि वाहर निकल कर किसी भी अनियत स्थान मे लीन हो जाती है वहाँ स्थिरता प्राप्त करके वह धीरे-धीरे विलय को प्राप्त होती है—पीछे हटती है ।

इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई और वहाँ से धीरे-धीरे हटी हुई दृष्टि परम-तत्त्व रूपी निर्मल दर्पण मे अपने आप मे अपने स्वरूप को देखने लगती है ।

मनोविजय की विधि

औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा ।
भावितपरमानन्दः क्वचिदपि न मनो नियोजयति ॥ ३३ ॥
करणानि नाधितिष्ठन्त्युपेक्षित चित्तमात्मना जातु ।
ग्राह्ये ततो निजनिजे करणान्यपि न प्रवर्तन्ते ॥ ३४ ॥

नात्मा प्रेरयति मनो न मन प्रेरयति यर्हि करणानि ।
उभय-भ्रष्ट तर्हि स्वयमेव विनाशमाप्नोति । ३५ ॥

उदासीन भाव मे निमग्न, सब प्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्द दशा की भावना करने वाला योगी किसी भी जगह मन को नही जोडता है ।

इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तो वह उपेक्षित मन इन्द्रियो का आश्रय नही करता अर्थात् इन्द्रियो मे प्रेरणा उत्पन्न नही करता । ऐसी स्थिति मे इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय मे प्रवृत्ति करना छोड देती हैं ।

जब आत्मा मन मे प्रेरणा उत्पन्न नही करता और मन इन्द्रियो को प्रेरित नही करता, तब दोनो तरफ से भ्रष्ट बना हुआ मन अपने आप विनाश को प्राप्त हो जाता है ।

मनोजय का फल

नष्टे मनसि समन्तात्सकले विलय च सर्वतो याते ।
निष्कलमुदेति तत्त्व निर्वात-स्थायि-दीप इव ॥ ३६ ॥

जब मन प्रेरक नही रहता तो पहले राख से आवृत्त अग्नि की तरह शान्त हो जाता है और फिर पूर्ण रूप से उसका क्षय हो जाता है अर्थात् चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं। तब वायुविहीन स्थान मे स्थापित दीपक जैसे निराबाध प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार आत्मा मे कर्म-मल से रहित शुद्ध-तत्त्व—आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है ।

तत्त्वज्ञानी की पहचान

अङ्ग-मृदुत्व-निदानं स्वेदनमर्दन विवर्जनेनापि ।
स्निग्धीकरणमतैल प्रकाशमान हि तत्त्वमिदम् ॥ ३७ ॥

जब पूर्वोक्त तत्त्व प्रकाशमान होता है, तब स्वेद—पसीना न होने और मर्दन न करने पर भी तथा तैल की मालिश के बिना ही शरीर कोमल और स्निग्ध—चिकना हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का चिह्न है।

अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये।
शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धता त्यक्त्वा ॥ ३८ ॥

उन्मनीभाव उत्पन्न होने से मन सम्बन्धी शल्य का नाश हो जाता है। अत तत्त्वज्ञानी का शरीर छाते के समान अकड छोड कर शिथिल हो जाता है।

शल्यीभूतस्यान्तःकरणस्य क्लेशदायिन सततम्।
अमनस्कतां विनाऽन्यद्विशल्यकरणौषध नास्ति ॥ ३९ ॥

शल्य के सदृश क्लेशदायक अन्त करण को निशल्य करने का अमनस्कता—उन्मनीभाव के सिवाय और कोई उपाय नही है।

उन्मनीभाव का फल

कदलीवच्चाविद्या लोलेन्द्रियपत्रला मनःकन्दा।
अमनस्कफले दृष्टे नश्यति सर्वप्रकारेण ॥ ४० ॥

अविद्या कदली के पौधे के समान है। चपल इन्द्रियाँ उसके पत्ते है और मन उसका कन्द है। जैसे फल दिखाई देने पर कदली का वृक्ष नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार उन्मनीभाव रूपी फल के दिखाई देने पर अविद्या भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। फल आने पर कदली वृक्ष काट डाला जाता है, क्योकि उसमे पुन फल नही आते।

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्म दुर्लक्ष्य वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तमप्रमादादमनस्क - शलाकया भिन्द्यात् ॥ ४१ ॥

मन अत्यन्त चचल और अत्यन्त ही सूक्ष्म है। वह तीव्र वेगवान होने के कारण उसे पकड रखना भी कठिन है। अत बिना विश्राम लिए

प्रमाद का परित्याग करके, अमनस्कता रूपी शलाका से उसका भेदन करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि चचल वस्तु का भेदन करना कठिन होता है। किन्तु, चपल होने के साथ जो अत्यन्त सूक्ष्म है उसका भेदन करना और भी कठिन है। फिर जो चपल और सूक्ष्म होने के साथ अत्यन्त वेगवान हो उसका भेदना तो और भी कठिन है। मन मे यह तीनो विशेषताएँ विद्यमान हैं, अत उसको जीतना सरल नही है, फिर भी असभव नही है। यदि निरतर अप्रमत्त रहकर उन्मनी-भाव का अभ्यास किया जाए तो, उसे अवश्य जीता जा सकता है।

उन्मनीभाव की पहचान

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम् ।
अमनस्कोदय-समये योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥ ४२ ॥

अमनस्कता—उन्मनीभाव का उदय होने पर योगी को अपने शरीर के विषय मे अनुभूति होने लगती है कि मानो शरीर बिखर गया है, भस्म हो चुका है, उड गया है, विलीन हो गया है और वह है ही नही। अत जब योगी शरीर की तरफ से बेसुध हो जाए, उसकी दृष्टि मे शरीर का अस्तित्व ही न रह जाए, तब समझना चाहिए कि इसमे अमनस्कता उत्पन्न हो गई है।

समदैरिन्द्रिय-भुजगै रहिते विमनस्क-नव-सुधाकुण्डे ।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम् ॥ ४३ ॥

मदोन्मत्त इन्द्रिय रूपी भुजगो से छुटकारा पाया हुआ योगी उन्मनीभाव रूपी नवीन सुधा के कुण्ड मे मग्न होकर अनुपम और उत्कृष्ट तत्त्वामृत का आस्वादन करता है।

रेचक-पूरक-कुम्भक-करणाभ्यास-क्रम विनाऽपि खलु ।
स्वयमेव नश्यति मरुद्विमनस्के सत्य-यत्नेन ॥ ४४ ॥

अमनस्कता की प्राप्ति हो जाने पर रेचक, पूरक, कुम्भक और आसनो के अभ्यास के बिना स्वत. ही पवन का नाश हो जाता है।

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति स समीरस्तत्क्षणादेव ॥ ४५ ॥

दीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिस वायु का धारण करना अशक्य होता है, अमनस्कता उत्पन्न होने पर वही वायु तत्काल एक जगह स्थिर हो जाता है।

जातेऽभ्यासे स्थिरतामुदयति विमले च निष्कले तत्त्वे।
मुक्त इव भाति योगी समूलमुन्मूलित-श्वास. ॥ ४६ ॥

इस अभ्यास मे स्थिरता प्राप्त होने पर और निर्मल अखण्ड तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर श्वास का समूल उन्मूलन करके योगी मुक्त पुरुष के समान सुशोभित होता है।

यो जाग्रदवस्थाया स्वस्थ सुप्त इव तिष्ठति लयस्थ।
श्वासोच्छ्वास-विहीन स हीयते न खलु मुक्तिजुष. ॥ ४७ ॥

ध्यान की अवस्था मे योगी जागता हुआ भी सोये हुए व्यक्ति के समान अपने आत्मभाव मे स्थित रहता है। उस लय-अवस्था मे श्वासोच्छ्वास से रहित वह योगी मुक्तिप्राप्त जीव से हीन नही होता, ब्लकि मुक्तात्मा के सदृश ही होता है।

जागरणस्वप्नजुषो जगतीतलवर्त्तित' सदा लोका।
तत्त्वविदो लयमग्ना नो जाग्रति शेरते नापि ॥ ४८ ॥

इस पृथ्वीतल पर रहने वाले प्राणी सदा जागृति और स्वप्न की अवस्थाओ का अनुभव करते हैं, किन्तु लय मे मग्न हुए तत्त्वज्ञानी न जागते हैं और न सोते हैं।

भवति खलु शून्यभाव स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम् ॥ ४९ ॥

स्वप्न दशा मे शून्यता व्याप्त रहती है और जागृत अवस्था मे इन्द्रियो के विपयो का ग्रहण होता है। किन्तु, आनन्दमय तत्त्व इन दोनो अवस्थाओ से परे लय मे स्थित रहता है।

जीवो को उपदेश

कर्माण्यपि दु खकृते निष्कर्मत्व सुखाय विदित तु।
न तत प्रयतेत् कथ निष्कर्मत्त्वे सुलभ-मोक्षे ॥ ५० ॥

कर्म दु ख के लिए हैं अर्थात् दु ख का कारण है और निष्कर्मता सुख के लिए है। यदि तुमने इस तत्त्व को जान लिया है, तो तुम सरलता से मोक्ष प्रदान करने वाले निष्कर्मत्व को प्राप्त करके समस्त क्रियाओ से रहित बनने के लिए क्यो नही प्रयत्न करते ?

मोक्षोऽस्तु मास्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु।
यस्मिन्निखिल-सुखानि प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव ॥५१॥

मोक्ष हो या न हो, किन्तु ध्यान से प्राप्त होने वाला परमानन्द तो प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। उस परमानन्द के सामने ससार के समस्त सुख नही के बराबर हैं।

मधु न मधुर नैता शीतास्त्विषस्तुहिनद्युते—
रमृतममृत नामैवास्या फले तु मुधा सुधा।
तदलममुना सरम्भेण प्रसोद सखे! मन,
फलमविकल त्वय्येवैतत् प्रसादमुपेयुषि ॥ ५२ ॥

उन्मनी-भाव से प्राप्त आनन्द के सामने मधु मधुर नही लगता, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल प्रतीत नही होती, और अमृत केवल नाम मात्र का अमृत रह जाता है। और सुधा तो वृथा ही है। अत हे मन ! तू इस ओर दौड-धूप करने का प्रयास मत कर। तू मेरे पर प्रसन्न हो। तेरे प्रसन्न होने पर ही तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है।

सत्येतस्मिन्नरतिरतिदं गृह्यते वस्तु दूरा—
दप्यासन्नेऽप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किञ्चित् ।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेता—
विच्छा बाढं न भवति कथ सद्गुरूपासनायाम् ॥५३॥

मन की विद्यमानता मे अरति उत्पन्न करने वाली व्याघ्र आदि वस्तु और रति उत्पन्न करने वाली वनिता आदि वस्तु दूर होने पर भी मन के द्वारा ग्रहण की जाती है और मन की अविद्यमानता अर्थात् उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर समीप मे रही हुई भी सुखद और दुःखद वस्तु भी ग्रहण नही की जाती। जब तक मन का व्यापार चालू है, तब तक मनुष्य दूरवर्त्ती वस्तुओ मे से भी किसी को सुखदायक और किसी को दुःखदायक मानता है। किन्तु, अमनस्क भाव प्राप्त होने पर समीपवर्त्ती वस्तु भी न सुखद प्रतीत होती है और न दुःखद ही प्रतीत होती है। क्योकि सुख और दुःख मन से उत्पन्न होने वाले विकल्प है। वस्तु न सुख रूप है और न दुःख रूप ही है। जिन्होने इस तथ्य को समझ लिया है, वे उन्मनीभाव को उत्पन्न करने वाले सद्गुरु की उपासना के लिए सदा प्रयत्नशील रहते है।

टिप्पण—कहने का तात्पर्य यह है कि उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर योगी की दृष्टि मे यह विकल्प नही रह जाता कि अमुक वस्तु सुखदायी है और अमुक दुःखदायी। यह स्थिति अत्युत्तम और आनन्दमय है। परन्तु, इसकी प्राप्ति सद्गुरु की उपासना से ही होती है।

आत्म-साधना

तास्तानापरमेश्वरादपि परान् भावैः प्रसाद नयन्,
तैस्तैस्तत्तदुपायमूढ भगवन्नात्मन् किमायस्यसि ।
हन्तात्मानमपि प्रसादय मनाग् येनासतां सम्पदः,
साम्राज्यं परमेऽपि तेजसि तव प्राज्य समुज्जृम्भते ॥५४॥

हे उपायमूढ, हे भगवन्, हे आत्मन् ! तू धन, यश आदि इष्ट पदार्थों के संयोग को और रोग, दरिद्रता आदि अनिष्ट के वियोग की अभिलाषा से प्रेरित होकर परमात्मा, देवी, देवता आदि दूसरो को प्रसन्न करने के लिए क्यो परेशान होता है ? तू जरा अपनी आत्मा को भी तो प्रसन्न कर। ऐसा करने से पौद्गलिक सम्पत्ति की तो बात ही क्या, परमज्योति पर भी तेरा विशाल साम्राज्य स्थापित हो जाएगा।

टिप्पण—कहने का तात्पर्य यह है कि परोपासना को त्याग कर आत्मा जब आत्मोपासना मे तल्लीन होता है, तभी उसे आत्मिक तेज की प्राप्ति होती है और तभी उसमे उन्मनीभाव जागृत होता है। अत साधक को अपनी आत्मा की साधना करना चाहिए और सदा आत्म-ज्योति को जगाने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपसहार

या शास्त्रात्सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित्,
क्वचित् योगस्योपनिषद् विवेकिपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी।
श्री चौलुक्यकुमारपालनृपतेरत्यर्थमभ्यर्थना—
दाचार्येण निवेषिता पथि गिरा श्रीहेमचन्द्रेण सा ॥५५॥

चौलुक्यवशीय श्री कुमारपाल राजा की प्रबल प्रार्थना पर आचार्य हेमचन्द्र ने शास्त्र, सद्गुरु के उपदेश एव स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार से विवेकवान् जनता के चित्त मे चमत्कार उत्पन्न करने वाली इस योग-उपनिषद को लिपि-बद्ध किया।